अपभ्रंश मुक्तक काव्य
और
उसका हिन्दी पर प्रभाव

डॉ० रामकिशोर, एम० ए०; डी० फिल्०

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी परिषद्, प्रकाशन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भूमिका

'अपभ्रंश मुक्तक काव्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव' इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे शोध-प्रबंध 'अपभ्रंश मुक्तक काव्य का हिन्दी मुक्तक काव्य पर प्रभाव' का संशोधित रूप है। हिन्दी भाषा का आधुनिक स्वरूप निर्मित होने तथा साहित्यिक माध्यम भाषा बनने के पूर्व अपभ्रंश ही व्यापक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। संस्कृत-प्राकृत की साहित्यिक परम्परा एवं भाषिक आदर्श को आत्मसात् करते हुए भी कवियों ने अपनी लोकोन्मुखी चेतना तथा युगबोध के फलस्वरूप अपभ्रंश भाषा तथा साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। अपभ्रंश भाषा मे निबद्ध प्रचुर साहित्य के प्रकाश में आने से पूर्व हिन्दी भाषा तथा साहित्य की परम्परा को सीधे संस्कृत से जोडकर देखा जाता था, एवम् संस्कृत में अनुपलब्ध हिन्दी की नई परंपराओ को प्रायः विदेशी प्रभाव से विकसित होने का अनुमान किया जाता था। अपभ्रश भाषा के परिमाण तथा गुण की दृष्टि से उत्कृष्ट साहित्य की खोज के बाद मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के विविध काव्यरूपों, शैलियो तथा छन्दो के आरम्भ तथा विकास सम्बन्धी नये तथ्य तथा निष्कर्ष उद्घाटित हुए। डॉ० रामसिंह तोमर, डॉ० धर्मवीर भारती, तथा डॉ० सिद्धनाथ पाण्डेय ने अपने-अपने शोध प्रबधो मे अपभ्रश काव्यो का अनुशीलन करते हुए हिन्दी पर उनके प्रभाव को विश्लेपित तथा रेखाकित किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में अपभ्रंश मुक्तक काव्य का विवेचन करते हुए उन अंशों को विशेष रूप से उजागर किया गया है जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी मुक्तकों पर दिखाई पडता है। विस्तार भय से हिन्दी मुक्तकों की चर्चा प्रायः साकेतिक ही रखी गयी है फिर भी आवश्यकतानुसार हिन्दी मुक्तकों से कुछ उदाहरण लेकर अवश्य विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

संपूर्ण शोध-प्रबंध सात अध्यायो में विभक्त है। प्रथम अध्याय मे अपभ्रंश की केन्द्रीय स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। साहित्यिक तथा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अपभ्रश मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्य भाषाओ के मध्य मे है। अतः इसमें प्राकृत के बहुत से तत्त्व सुरक्षित हैं, साथ ही अपभ्रंश की कुछ मौलिकताएँ भी है अर्थात् अपभ्रंश काव्य का रूप, परम्परा, तथा मौलिकता दोनो के मेल से निर्मित हुआ है जिसका प्रभाव हिन्दी काव्यो पर पड़ा है।

दूसरे अध्याय में मुक्तक काव्य की परिभाषा, स्वरूप, क्षत्र तथा वर्गीकरण को विवेचित किया गया है। मुक्तक काव्य की रसवादी परिभाषा जिसमे अव्याप्ति का दोष था उसका परिहार करते हुए ऐसी परिभाषा निश्चित की गयी है जो समूचे मुक्तक काव्य को अपनी परिधि मे समेट लेती है। मुक्तको की रचना प्रक्रिया को ध्यान में रखकर भी परिभाषित करने की कोशिश की गयी है। मुक्तक के दो रूपों गीत, अगीत को विवेचित करते हुए यह दिखाया गया है कि हिन्दी की पद शैली की रचना प्रक्रिया अन्य मुक्तकों की रचना प्रक्रिया से काफी भिन्न रही है। सम्भवतः इसीलिए आज गीति-काव्य को मुक्तक से अलग काव्य रूप माना जाने लगा है।

तीसरे अध्याय मे मुक्तक काव्य के स्वरूपात्मक विकास को अंकित किया गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि शोधकर्ता किसी परंपरा का अध्ययन करते समय क्रमानुसार कुछ कृतियों, कृतिकारों का विवरण देते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध मे इस शैली की जान बूझकर उपेक्षा की गयी है। स्वरूपात्मक विकास के अन्तर्गत वैदिक से लेकर हिन्दी तक के मुक्तको के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय मे अपभ्रंश मुक्तककारो के रचनाकाल तथा कृतियों के विषय में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में चर्चित मुक्तक-कृतियाँ ही अध्ययन के लिए गृहीत हैं।

पाँचवें अध्याय में अपभ्रंश मुक्तको की विविध प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। अपभ्रंश के अधिकांश मुक्तक धार्मिक तथा रहस्यवादी हैं। किन्तु शृंगारिक, नीतिपरक वीर भावपरक मुक्तकों की भी कमी नही है। इन प्रवृत्तियो को अलग-अलग विवेचित करके हिन्दी मुक्तकों पर उनका प्रभाव दिखाया गया है। रहस्यवादी मुक्तकों के अन्तर्गत ही साधनापरक तथा चिन्तनपरक सभी तत्त्वों को ग्रहण कर लिया गया है। शृंगारिक तथा वीर भावपरक मुक्तको की प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत करते समय वर्णन कुशलता, विविधता, उक्ति वैचित्र्य आदि पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

छठें अध्याय में विभिन्न परिस्थितियो मे व्यंजित भावो को उजागर करने की चेष्टा की गयी है। धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तकों में भी भावों की खोज इस आधार पर की गयी है कि हर उक्ति किसी न किसी भाव से प्रेरित होती है एकदम से नीरस लगनेवाले काव्य से भी कोई न कोई भाव व्यंजित होता है। युगपरिवेश में उस नीरस काव्य में भी यथेष्टत रस द्रावक भावों को उजागर कर देने की शक्ति-होती है।

सातवें अध्याय में अपभ्रंश काव्य के भाषिक आदर्श, अलंकार-विधान, बिम्ब-विधान, छन्द-योजना आदि पर प्रकाश डालते हुए उनका हिन्दी मुक्तको के शिल्प-विधान से साम्य दिखाया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण बनाने मे कई श्रेष्ठ विद्वानों का प्रोत्साहन तथा परामर्श प्राप्त हुआ है। एतदर्थ लेखक उनके प्रति आभारी है। शोध-प्रबन्ध के निर्देशक सम्माननीय गुरुवर डॉ० रघुवंश ने वर्तमान आलोचना के विकसित प्रतिमानो के आधार पर विषय के नवीन विश्लेषण तथा विवेचन के साथ-साथ मौलिक स्थापनाओं पर विशेष बल दिया। स्वभावतः अपनी बहुज्ञता तथा ज्ञान गरिमा से शोधार्थियों को आक्रान्त न करके उनकी स्वतन्त्र चिन्तन तथा निर्णयात्मक शक्ति को उद्‌बुद्ध एवं विकसित करने वाले गुरुवर्य के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। अपभ्रंश भाषा साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० रामसिंह तोमर के साथ करीब सवा महीने रहकर मैंने अध्ययनार्थ उपलब्ध सामग्री का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने अपभ्रंश काव्य के दुरूह अंशो की व्याख्या करके अध्ययन को सरल तथा सुबोध बनाया। डॉ० तोमर जी के प्रति कितनी ही कृतज्ञता ज्ञापित की जाय कम ही है। डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, तथा डॉ० राजेन्द्र कुमार वर्मा ने समय-समय पर प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देकर शोध के दुर्गम मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। प्रकृत्या गुरु की गुरुता से सम्पृक्त वर्मा जी ने बडे भाई की तरह आर्थिक तथा पुस्तकीय साधन जुटाने में भी मदद की। प्रस्तुत कार्य मे जिन विद्वानों के शोध प्रबन्धों तथा ग्रथों का उपयोग किया गया है उनका आभार तो मुझ पर सदैव रहेगा।

अन्त में मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सद्‌भाव से यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है।

प्रयाग
२२-४-८१

रामकिशोर

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका

अध्याय—१: अपभ्रंश भाषा की केन्द्रीय स्थिति १-१४

(क) भाषा की दृष्टि से।

(ख) साहित्यिक दृष्टि से।

अध्याय—२ : मुक्तक काव्य की परिभाषा, स्वरूप और वर्गीकरण १५-३१

(क) मुक्तक का अर्थ

(ख) संस्कृत आचार्यों की मुक्तक विषयक धारणा, आलोचना और परिभाषा।

(ग) पाश्चात्य साहित्य में मुक्तक की स्थिति।

(घ) मुक्तक काव्य का क्षेत्र और भेद।

अध्याय—३ : मुक्तक काव्य का स्वरूपात्मक विकास ३२-६५

(क) वैदिक मुक्तक काव्य।

(ख) पालि मुक्तक काव्य

(ग) संस्कृत मुक्तक काव्य

(घ) प्राकृत मुक्तक काव्य

(ङ) अपभ्रंश मुक्तक काव्य

(च) हिन्दी मुक्तक काव्य

अध्याय—४ : अपभ्रंश के मुक्तक कवि और काव्य ६६-१०२

प्रथम कवि कालिदास

(क) जैन मुक्तक कवि और काव्य।

(ख) सिद्ध कवि और काव्य।

(ग) शैव मुक्तक कवि और काव्य।

(घ) विशुद्ध लौकिक कवि और काव्य ।

(ङ) स्फुट तथा उद्धृत मुक्तक काव्य ।

अध्याय—५ : अपभ्रंश मुक्तक काव्य की प्रवृत्तियाँ और उनका हिन्दी पर प्रभाव १०३-१८९

(अ) धार्मिक प्रवृत्ति ।

(ब) रहस्यवादी प्रवृत्ति ।

(स) योगपरक प्रवृत्ति ।

(द) शृंगारिक प्रवृत्ति ।

(य) वीर भावात्मक प्रवृत्ति ।

(न) सुभाषित ।

अध्याय—६ : अपभ्रंश मुक्तक काव्य में भाव व्यंजना तथा उसका हिन्दी पर प्रभाव १९०-२२७

(क) शृंगारिक व्यंजना (संयोग) ।

१. सौन्दर्य चित्रण के माध्यम से शृंगारिक भावों की व्यंजना

२. प्रकृति के माध्यम से शृंगारिक भावो की व्यंजना

(ख) विरह भावों की व्यंजना ।

(ङ) धार्मिक मुक्तकों में भाव व्यंजना तथा भाव निरूपण ।

(च) वैराग्य भावों की व्यंजना ।

(छ) रहस्यवाद के अन्तर्गत मधुर भावो की व्यंजना ।

(ज) वीर भावों की व्यंजना ।

अध्याय—७ : अपभ्रंश मुक्तक काव्य का शिल्प-विधान और उसका हिन्दी पर प्रभाव २२८-२८१

(क) प्रयुक्त भाषा ।

(ख) अपभ्रंश मुक्तको मे प्रयुक्त विभिन्न शैलियाँ ।

(ग) अलंकार योजना ।

(घ) अप्रस्तुत योजना
(ङ) प्रतीक योजना।
(च) शब्द साधना।
(छ) बिम्ब योजना
(ज) अपभ्रंश मुक्तकों का छन्द विधान

उपसंहार २८२-२८३
सहायकग्रंथ सूची २८४-२९२

अपभ्रंश भाषा की केन्द्रीय स्थिति

क—भाषा की दृष्टि से

भाषिक तथा साहित्यिक विकास क्रम की दृष्टि से अपभ्रंश की स्थिति मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्यभाषाओ के मध्य में है। अपभ्रंश मे वे समस्त भाषावैज्ञानिक तथा साहित्यिक तत्त्व परिलक्षित होते है जो इसके पूर्व की भाषाओ संस्कृत, पालि, प्राकृत, आदि में पाये जाते है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से अपभ्रश की इस मध्यस्थ स्थिति को सभी विद्वान मानते हैं, परन्तु ऐतिहासिक विकास परम्परा मे इसे हिन्दी और प्राकृत के बीच की स्थिति मानने से कुछ लोग इन्कार करते है : डा० सुनीति कुमार चटर्जी के इस मत कि ६ठीं से ११वी शती तक प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश रूप रहा होगा जैसे मागधी प्राकृत के बाद मागधी अपभ्रंश आदि का खण्डन करते हुए डा० बाहरी ने इसे भ्रांतिपूर्ण कहा किन्तु उन्होने अपभ्रंश को ब्रजभाषा तथा राजस्थानी के पूर्व की स्थिति मानने की सहमति व्यक्त की है।[1] डा० भोलानाथ तिवारी सुनीत कुमार चटर्जी के आधार पर कहते है कि प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप विकसित हुआ होगा और इस प्रकार प्रमुखत: पैशाची का पैशाची अपभ्रंश, सिंध का ब्राचड अपभ्रंश, सिंहल का सिंहली या एलू अपभ्रंश, सौराष्ट्री आदि से विकसित सौराष्ट्री या नागर अपभ्रश, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, अर्धमागधी से अर्धमागधी अपभ्रश, मागधी से मागधी अपभ्रंश और महाराष्ट्री से महाराष्ट्री अपभ्रश का अनुमान किया जा सकता है।[2]

नमिसाधु के कथन का उद्धरण देते हुए 'प्राकृतेवापभ्रंश.' की व्याख्या डा० नामवर सिंह ने इस प्रकार की—

(१) प्राकृत से नमिसाधु का अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत है।

(२) अन्य प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश की प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

---

१. डा० हरदेव बाहरी, हिन्दी उद्भव-विकास और रूप : पृ० ३६-३७।
२. डा० भोलानाथ तिवारी, भाषा-विज्ञान : पृ० १४०।

(३) किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत पर आधारित होते हुए भी अपभ्रंश मागधी आदि अन्य प्राकृतो से विशिष्ट है।[१]

वैय्याकरणो ने अपभ्रंश को स्वतन्त्र भाषा मानकर उसके भेदो की चर्चा अलग से की है। प्रमुख भाषाओ मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश. तीन महत्त्व-पूर्ण मंजिलें है। अपभ्रंश के मूल में प्राकृत ही है। प्रारम्भ मे अपभ्रंश आभीरो की भाषा थी जैसा कि दण्डी ने 'आभीरादि गिरयः'[२] कहकर ऐसा निर्देश किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि आभीर अपभ्रश को किसी अन्य देश से लाये थे। वास्तव मे आभीर और उनके साथी जहाँ-जहाँ गये वहाँ की प्रचलित प्राकृत को अपनाने का प्रयास किया। कुछ तो स्वाभाविक विकास के फलस्वरूप कुछ उनके उच्चारण आदि के वैशिष्ट्य के कारण बोलचाल की प्राकृत मे तेजी से बदलाव हुआ। प्राकृत का यही बदला हुआ रूप अपभ्रंश भाषा के नाम से मान्य हुआ। आभीरों ने पश्चिम भारत मे जब राज्य की स्थापना की तो अपभ्रंश को राजभाषा बनने का भी अवसर मिला। कुछ अन्य राजाओ ने भी अपभ्रंश भाषा को सरक्षण प्रदान किया था जिनमे पाल और राष्ट्रकूट नरेश उल्लेखनीय है। सरह, काण्ह आदि सिद्ध पालों के ही शासन काल मे हुए थे। और पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे महान् अपभ्रंश कवियो की काव्य-शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटो की ही छत्रछाया में हुआ। अपभ्रंश को जब विस्तृत साहित्यिक प्रतिष्ठा मिली तो उससे अन्य प्राकृते भी प्रभावित हुई। प्राकृतों का यह उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश नाम से जाना जाने लगा। क्षेत्रीय प्रभाव के कारण इन अपभ्रंशो में किंचित अन्तर भी पाया जाता है। इसी आधार पर डा० तगारे ने अपभ्रंश के पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी भेदो को निर्दिष्ट किया है। इनमे व्याकरण तथा उच्चारण संबंधी भेद था जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—(१) पश्चिमी अपभ्रंश ही परिनिष्ठित (standard) अपभ्रंश है, अपभ्रश की समस्त सामान्य विशेषताएं इसी की विशेषताएँ हैं।

(२) पूर्वी अपभ्रंश

(१) पूर्वी अपभ्रश मे संस्कृत की ध्वनि क्ष ख, क्ख मे परिवर्तित हुई

---

१. डा० नामवर सिंह, हिन्दीके विकास में अपभ्रंश का योगदान : पृ० २६।

२ काव्यादर्श—दण्डी १ २३ जीवानन्द भट्टाचार्य कृत विवृत,

जैसे क्षण < खण, अक्षर < अक्खर। त्व का परिवर्तन तु—त्त, द्व का दु, व का ब में हुआ। अविकारी सामान्य कारक बनाने की प्रवृत्ति अधिक रही।

(२) इसमें संस्कृत का श सुरक्षित है।

(३) इसमें आदि महाप्राणत्व नही होता।

(४) इसमें पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्ययो मे मिश्रण नही हुआ है। क्रियार्थक संज्ञा के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश के अण प्रत्यय का प्रयोग नही मिलता।

(३) दक्षिणी अपभ्रंश :

(१) इसमे संस्कृत ष का छ होता है। जब कि अन्य अपभ्रंशो मे क्ख या ख होता है।

(२) इसमे अकारान्त पुल्लिग शब्द का तृतीया एक वचन में अधिकाशतः एण रूप मिलता है जबकि परिनिष्ठित रूप ए है।

(३) इसमें उत्तम पुरुष एक वचन में सामान्य वर्तमान की क्रिया 'मि' परक है जबकि परिनिष्ठित रूप उं है।

(४) अन्य पुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान की क्रिया 'न्ति' होती है जैसे करन्ति, जबकि परिनिष्ठित रूप 'हिं' होता है जैसे करहिं।

(५) पूर्वकालिक क्रिया इ का प्रयोग बहुत कम है।

(६) सामान्य भविष्यत् काल की क्रिया अधिकतर 'स' परक होती है जबकि परिनिष्ठित रूप 'हि' परक है।[1]

डा० नामवर सिंह का विचार है कि इस विभेद का कारण प्राकृत का प्रभाव है। वैसे यह अन्तर शैलीगत अधिक है। उनका कथन है कि पश्चिमी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'भविस्सयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित महापुराण की भाषा मे कोई मौलिक अंतर नहीं है।[2]

पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश के आधार का खण्डन करते हुए डा० बागची ने यह मत व्यक्त किया कि 'वस्तुत. दोहा कोषों की रचना बहुत कुछ परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही हुई है जो पछाही भाषा थी। उनमे केवल कही-कही कुछ स्थानीय प्रभाव तथा लिपिशैली के कारण पूर्वी प्रदेश की बोली के लक्षण

---

(१) डा० जी० वी० तगारे, हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश—भूमिका—पृ० १५-३८।

(२) डा० नामवर सिह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान : पृ० ५३।

दिखाई पड जाते हैं ।[1] चर्यापदो की भाषा में पूर्वीपन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अत. पूर्वी अपभ्रंश को परिनिष्ठित अपभ्रंश की विभाषा माना जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश का विस्तार पूर्व, एवं दक्षिण के अलावा उत्तर मे भी था। उत्तरी अपभ्रंश का प्रयोग 'लल्लेश्वरी वाक्यानि', 'महानयप्रकाश', 'परात्रिंशिका' आदि रचनाओ में किया गया है। अपभ्रंश की मध्यवर्ती स्थिति सिद्ध करने के लिए पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इसमे प्राकृत और आधुनिक भाषाओं (हिन्दी) के प्रभूत तत्त्व समाहित हैं। सर्वप्रथम प्राकृत की कुछ ऐसी भाषिक विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है जो अपभ्रंश मे भी मिलती है—

ध्वनि संबंधी विशेषताएँ

(१) प्राकृत में संयुक्त व्यंजनो के स्थान पर द्वित्व हो गया है जैसे अग्र <अग्ग, इष्ट <इट्ठ, खर्जूर <खज्जूर आदि।

(२) प्राकृत में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की ऋ, लृ ध्वनियों का लोप हो गया और उनके स्थान पर अ, इ, उ शेष रही जैसे—नृत्य <णच्च, तृण <तण, मृग <मअ, मातृ <माई, आदि।

(३) ऐ और औ के स्थान पर प्राकृत मे क्रमश. ए और ओ पाया जाता है, इनके अइ और अउ रूप भी मिलते है। शैल <सेल, कौशलम् < कउसलं < कोसलं।

(४) स्वाराघात के अभाव मे दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये सीताम् <सीमं, अवमार्गः < अवमग्गो।

(५) जिन शब्दो मे स्वाराघात सुरक्षित है उन शब्दों में दीर्घ स्वर भी बना रहा। <पीठिका <पीढिआ।

(६) संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये—यथा शान्तः < सन्तो, दान्तः, < दतो।

(७) प्राकृत मे विसर्ग का प्रयोग नही हुआ है।

(८) स, ष, श के स्थान पर एक ही ध्वनि स या श हो गयी।

(९) दो स्वरों के बीच मे आनेवाले क, ग, च, ज, त द का प्रायः लोप हो गया जैसे—कदलि <कअलि, वदन <वअण।

---

(१) डा॰ प्रबोध चन्द बागची, ओरिएटल जर्नल, कलकत्ता, जिल्द १। ए नोट आन द लैंग्वेज आफ द बुद्धिस्ट दोहाज़

(१०) त वर्ग की ध्वनियों मे अघोष का सघोष और सघोप का अघोप मे परिवर्तन हुआ जैसे—गच्छति < गच्छदि, काक < कागो, कम्बोज < कम्बोचो।

(११) त वर्ग के स्थान पर ट वर्ग भी पाया जाता है—पत्तन, < पट्टन, वृत्ति < वट्टि।

(१२) ऊष्म ध्वनियों मे परिवर्तन हो गये तथा स्प के स्थान पर प्फ, त्य के स्थान पर च्च, क्व के स्थान पर क्क एवं एन् के स्थान पर न्न् ध्वनि आ गयी।[1]

क्रिया—प्राकृत में संज्ञा शब्द तो घिसे ही हैं किन्तु क्रियापद और भी घिस गये है।

वर्तमान काल—प्राकृत मे सामान्य समाप्ति सूचक क्रिया का रूप आमि, के साथ अमि भी मिलता है। अपभ्रंश मे इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं। जैसे—वड्ढमि, भाममि, मध्यम पुरुष में अपभ्रंश मे समप्ति सूचक चिह्न सि के साथ हि भी मिलता है—मरहि—मरसि, मागधी प्राकृत मे समाप्ति सूचक चिह्न "शि" है।[2] उत्तम पुरुप वर्तमान काल मे अर्धमागधी और अपभ्रंश के पद्य मे अइ का ए वन जाता है। अपभ्रंश मे अन्त मे समाप्ति मूचक चिह्न ह, हु लगता है। शौरसेनी और मागधी मे भी ह आता है।[3]

ऐच्छिक रूप—महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री तथा अपभ्रंश में सु लगता है जैसे करिज्जसु, सलहिज्जमु।[4]

आज्ञावाचक—वट्ट, वट्टसु, वट्टेमु, वट्टे, अर्धमागधी में वट्टाहि रूप मिलते है अपभ्रंश मे वट्टु तथा वट्टहि।[5] प्राकृत के रक्खमु की तरह ही अपभ्रंश किज्जसु बनता है। भू धातु के होइ, हुवइ आदि रूप प्रचलित है।

---

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री · प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९-२०।

२. पिशेल, अनु, हेमचन्द्र जोशी—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६७२।

३. पिशेल : अनु, हेमचन्द्र जोशी, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पृ० ६७५।

४. वही पृ० ६७९।

५. वही, पृ० ६८६, ७०१।

स्पर्श नियमित रूप से अर्धमागधी में फुसइ बनता है। अपभ्रंश में भी यही रूप स्वीकृत है।[१]

प्राकृत के तत्त्वों को ग्रहण करते हुए भी अपभ्रंश की कुछ निजी भाषा वैज्ञानिक विशेषताएँ है जिन्हें हिन्दी ने बहुत कुछ ज्यों का त्यो ग्रहण किया है।

(१) प्राकृत में संस्कृत के अनुस्वार के स्थान पर "ओ" हो जाता है किन्तु अपभ्रंश में "उ" हो जाता है। यही कारण है कि अपभ्रंश उकार बहुला भाषा बन गयी है। यह प्रवृत्ति प्राकृत से ही शुरू हो गयी थी। प्राकृत धम्मपद (उजुओ नाम सो मगु अभय नमु स दिश) तथा ललित विस्तर' (पुरि तुम नरवर सुनु नृपु यदमु) मे ही इस परिवर्तन के बीच वपित हो चुके थे। यह प्रवृत्ति हिन्दी में सीधे चली आयी। अवधी पर इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

(२) द्वित्व व्यंजन को एक करके उसके पूर्व के स्वर को दीर्घ कर देना अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। क्षतिपूरक दीर्घीकरण की इस प्रवृत्ति की शुरुआत अपभ्रंश से हुई किन्तु हिन्दी में पूर्णत. नियम बन गयी।

(३) अपभ्रंश मे शब्द के आदि में आये य का ज हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में य ध्वनि निर्मूल्य है। हिन्दी बोलियों विशेषतः अवधी मे य के ज उच्चारण का प्रमाण मिलता है जैसे यमुना < जमुना, यव < जौ, यावक < जावक, यश < जस आदि।

(४) म का अधिकतर वं, ष्ण, का न्ह हो गया जैसे कमल < कवंल, कृष्ण < कान्ह। हिन्दी मे ये शब्द पर्याप्त संख्या मे प्रयुक्त मिलते हैं।

(५) अपभ्रंश तक कारक विभक्तियाँ छंटकर तीन ही रह गयी १—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया और सम्बोधन, २—तृतीय तथा सप्तमी ३—पचमी और षष्ठी।

(६) अपभ्रंश मे अपेक्षाकृत अधिक वियोगात्मकता है जो आधुनिक आर्य भाषाओं की प्रमुख विशेषता है।

धातु रूप :

(१) अपभ्रंश में ध्वनि परिवर्तन के द्वारा अनेक धातुओं के ऐसे रूप बने जो हिन्दी में ज्यों के त्यों प्रयुक्त होने लगे जैसे खा, चू, तुट, जल, चूम आदि।

(२) अपभ्रंश में संस्कृत की विकरणयुक्त धातुओं को सीधे धातु रूप में

---

१ पिशेल : अनु० हेमचन्द्र जोशी, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६८६, ७०१।

स्वीकार कर लिया गया। जैसे नृत्य < नच्च < नाच, श्रु < सुन, ज्ञा < जानना आदि। हिन्दी मे भी ये धातुये उसी रूप मे मान्य हुई। हार्नले ने हिन्दी धातुओ की जो सूची प्रस्तुत की है उसकी अपभ्रंश धातुओ मे समुपस्थिति अपभ्रंश मे आधुनिक आर्य भाषाओ की प्रवृत्ति को लक्षित करती है।[1]

(३) अपभ्रंश मे भ्वादि गण अधिक प्रभावशाली है। कभी-कभी भविष्यत् काल के रूपो को वर्त्तमान के अर्थ में निर्मित किया गया है। जैसे द्रक्ष-देक्ख-देख।

(४) कृदन्त युक्त धातुओं की संख्या अपभ्रंश और हिन्दी दोनो में अधिक है।

(५) अपभ्रंश मे कुछ धातुये देशी आधार पर बनायी गयी है जिनका स्रोत संस्कृत मे नहीं मिलता है। जैसे छड्ड < छोड़, चड् < चढ, ढक्क < ढक, चक्ख < चख। हिन्दी मे भी ये धातुये प्रयुक्त हुई है।

(६) ध्वनि परिवर्तन से अस्ति का असति, अछइ, अहइ रूप बना। अहइ का प्रयोग 'वर्ण रत्नाकर' में मिलता है। अवधी में है के लिए अहइ का ही प्रयोग होता है। अच्छि तथा आछे का प्रयोग, मध्यकालीन काव्य में यत्र-तत्र मिल जाता है—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४।३३८)

भलहि जो आछै पास (पद्मावत)

(७) अपभ्रंश में वर्त्तमान काल के रूप करइ, करहि, करहु, करउ, करहु आदि हैं। हिन्दी मे भी इनके प्रयोग ज्यों के त्यों हुए है जैसे—

बसौं (बसउ) ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन

ऊधो विरहौ प्रेम करैं (करइ सूरसागर)।

सर्वनाम : हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले अनेक सर्वनाम अपभ्रंश के ही हैं। जैसे—

हउं—हउं झिज्जउं तउ केहिं (हेम०)

सदेसडउ सवित्थरउ हउं कहणह असमत्थ (संदेस० ८०)

हौं रानी पदुमावति सात सरग पर वास-पद्मावत

हौं इन बेची बीच ही (बिहारी सतसई)

मइं—ढोला मइं तुहुँ वारिया (हेम०)

तं तइय मुक्क खल पाइ मइ। (संदेशरासक, १६१)

---

१. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल, जिल्द ४६, खण्ड १ (१८८० ई०), पृ० ३३-८१।

सो—धरणि सुण रणि बल नाहि सो (कीर्तिलता)

सुनि चैंश थाके गुन सो सो (सूरसागर)

मज्झ, मुज्झ—जं बिरहग्गि मज्झ साक्कंतह (संदेशरासक ९१४)

सो प्रिय होइ न मुज्झ (हेम०)

मुझ में रही न हूँ।

ना तू मिलै न मैं खुशी ऐसा वेदन मुज्झ (कबीर ग्रंथावली)

तुहु, तू तुहु पुण कज्जि हिआवलउ (संदेशरासक ८८)

जिहि अंगिहि तू विलसियउ (वही ७७)

तुहुँ करुनामय देव दयानिधि—(विद्यापति पदावली)

तू जागी तप करु मन जथा—(पद्मावत)

इसके अलावा तइ (हिन्दी मे तै) पइ, तुअ (तू) तुह, सु, सो, तं, तिणि (तिन्ह हिन्दी मे) तसु (हिन्दी तासु) तहि (हिन्दी तेहि) इहु, एहु, एह, एउ, इउ, जु, जो, ज (हिन्दी मे जो का बाहुल्य) जिण (हिन्दी जिन) को, कवणु (हि कौन,) आदि सर्वनाम आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी से भिन्न नही है।

परसर्ग—धीरे-धीरे विभक्तियों के घिस जाने से वाक्य के संगठन को विशृंखलता से बचाने के लिए अपभ्रंश मे परसर्गों का प्रयोग होने लगा। आधुनिक आर्य भाषाओ मे ये परसर्ग सम्बन्धसूचक रूप मे प्रयुक्त होते हैं। मध्यकालीन हिन्दी कवियों के काव्य में पाये जानेवाले अनेक परसर्ग अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध होते हैं—

केर—जसु केरअ हुँकारएँ (हेम०)

काहू केर बिकाइ (पद्मावत)

मज्झे—जामहि विसमी कज्ज गइ जीवहि मज्झे एइ (हेम०)

मांझ मंदिर जनु लाग अकासा (पद्मावत)

उप्परि—सायरु उप्परि तणु धरइ (हेम०)

हम पै कोप कृपावति (सूरसागर)

तण-तणि—तसु लइ गइतणि णिंदणहु (संदेशरासक)

पिय तन चितइ भौंह करि बांकी (रामचरित मानस)

सम-हिन्दी में स्यूँ—कावि केण सम दर हसइ (संदेशराशक ४७)

कलियुग हम स्यूँ लड़ि पड़ा। कबीर ग्रंथावली)

हुँतउ—तिह हुँतउ हउं इक्कणि लेह उवेसियउ। (संदेशरासक ६५)
मोरि हुँति विनय करब कर जोरि—तुलसी

हिन्दी तथा अपभ्रंश दोनो मे शब्दो के निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते है—

केहउ मग्गण एहु (हेम०)
बहुरि राम मायहि सिरु नावा (मानस)

सख्यावाचक विशेषण अपभ्रंश मे हिन्दी के समान ही मिलते हैं—

एक्कबीस—इक्कीस
चउरासी—चौरासी
छप्पण—छप्पन
चउंतीस—चौतीस
छयालीस—छियासिल
सठि—साठ

अपभ्रंश में प्रयुक्त संख्यावाचक विशेषणो मे से अधिकाशतः प्राकृत में ही बन गये थे जैसे एक्क, दुवे, बे, बयालीस, छब्बीस, अठहत्तरि, चालीस, चउबीस। शब्द भण्डार की दृष्टि से बहुत से तत्सम, तद्भव तथा देशी शब्द प्राकृत अपभ्रंश तथा हिन्दी की समान सम्पत्ति हैं। किसी लेखक ने इन्ही शब्दो को प्राकृत शब्द-भण्डार के रूप मे उद्धृत किया है तो किसी ने अपभ्रंश के अन्तर्गत[1] जैसे—रंडी, रेल्ल, रोग्ग, हाडी आदि।

इस तरह भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश का हिन्दी भाषा के विकास में बहुत बड़ा योगदान है। चूँकि भाषा और साहित्य का विकास साथ-साथ होता है विशेषतः भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने के बाद, अतः यह स्वाभाविक है कि अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा हिन्दी मे भी विकसित हो। हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य अपभ्रंश से भिन्न होता हुआ भी उससे मूल-प्रवृत्तियों के आधार पर एक कड़ी के रूप मे जुड़ा हुआ है।

ख साहित्यिक दृष्टि से

अपभ्रंश ने संस्कृत-प्राकृत से चली आती हुई परम्पराओ को अपनाते हुए कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियो को जन्म दिया जो आधुनिक आर्य-भाषा हिन्दी मे भी चलती रही।

---

१. 'अनुसधान पत्रिका' अक ३, पृ० ५१, जैन विश्व भारती, लाडनू।

अपभ्रंश के प्रबन्धात्मक चरित-काव्य :

रामकथा को लेकर स्वयभू ने जैन आदर्शों के आधार पर 'पउम चरिउ' काव्य की रचना की। यह कृति प्राकृत जैन कवि विमलसूरि के 'पउम-चरिउ' से काफी प्रभावित है। इसकी मूल कथा का निर्माण, लोक मे प्रचलित कुछ शंकाओ के निवारणार्थ गौतम गणधर द्वारा कथा का प्रारम्भ, प्रचलित राम-कथा मे जैन-धर्म के अनुकूल परिवर्तन, प्रधान पात्रो का जैन धर्म स्वीकार करना आदि बाते विमलसूरि के 'पउम-चरिउ' से मिलती-जुलती है।

अपभ्रंश में रचित अनेक धार्मिक चरित काव्यो की परम्परा प्राकृत मे भी पायी जाती है। चरित-काव्य संस्कृत मे भी पाये जाते हैं परन्तु उनमे धार्मिकता का उतना आग्रह नही है जैसे रामायण, रघुवंश आदि। धार्मिक उद्देश्यों से चरितो का निर्माण जैन-धर्म के अनुकूल करने की प्रवृत्ति प्राकृत मे ही शुरू हुई। 'महापुराण', 'णायकुमार चरिउ', 'जसहर चरिउ', 'पासनाह चरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ', 'जबूसामि चरिउ', 'करकडु चरिउ', 'पउमसिरी चरिउ' आदि चरित काव्यो में किसी महापुरुष के पूर्व जीवन का चित्रण वर्तमान जीवन में अनेक व्रतो से मिलने वाले लाभ, वैराग्य तथा नश्वरता, दैवी घटनाएँ, शुभ तथा अशुभ कर्म का प्रभाव आदि वर्णित किये गये है। प्राकृत मे इस तरह के समान उद्देश्यों वाले कई चरित काव्यों की रचना हो चुकी थी जैसे—'सुपासनाह चरिउ', 'महावीर चरिउ' (गद्य पद्यबद्ध) 'कुमारपाल चरिउ' (प्राकृत अश, 'त्रिजयचन्द्र चरित' आदि। अपभ्रंश में इन्ही चरित काव्यो का स्वाभाविक विकास हुआ। रामायण तथा महाभारत की कथाओ को ग्रहण करके सस्कृत मे अनेक काव्यों का प्रणयन हुआ। यह परम्परा प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी प्रवाहित रही। प्रवरसेन का महाकाव्य 'सेतुबन्ध या रावण वध', राम की कथा पर आधारित है 'श्री चिह्नकाव्यं' (सिरि चिध कव्वं) श्रीकृष्ण की लीला पर आधारित है। इन काव्यों मे शुद्ध साहित्यिकता का दर्शन होता है तथा ये कृतियाँ धार्मिक घटाटोप से मुक्त है। अपभ्रंश मे 'पउम चरिउ' के अलावा 'बलभद्द चरिउ' मे भी रामकथा को ही अपनाया है। कुछ कृतियो मे हरिवंश पुराण से भी कथाएँ चुनी गयी है। पुष्पदंत का 'महापुराण' धवल का रिट्ठ-णेमि चरिउ' इसी तरह की रचनाएँ है। वैसे इनमें तीर्थंकरों का चरित्र वर्णन ही अधिक प्रधान है। प्राकृत-अपभ्रंश मे लौकिक नायको को लेकर भी काव्य रचनाएँ हुई हैं जैसे 'गौडवहो' तथा 'भविष्यदत्त कहा'। रासो काव्य की विस्तृत परम्परा अपभ्रंश से ही शुरू हुई। जैन कवियो ने किसी धार्मिक व्यक्ति या व्रतादि कथाओं के आधार पर जंबू-स्वामी रास' गौतमरास' समरसाह

रास', 'यशोधर रास', 'बाहुबली रास' आदि रचनाओ को ब्रजभाषा मे प्रस्तुत किया। वीररसात्मक भावों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी के आदि काल में 'पृथ्वीराज रासो', 'हम्मीर रासो', 'खुमाण रासो' आदि की रचना हुई। इन रासो काव्यों पर अपभ्रंश के चरित काव्यों का अधिक प्रभाव पडा है। अपभ्रंश में 'उपदेश रसायन रास', 'बाहुबलि रास' आदि मे वीर-भावों का विकास नही हुआ है। विरह तथा प्रेम की विभिन्न भंगिमाओ को व्यक्त करने के लिए अपभ्रंश में 'सदेशरासक' की रचना हुई तो, ठीक इसी तरह हिन्दी मे क्षीण प्रबन्ध धर्मा मुक्तक 'बीसलदेव रासो' रचा गया।

हिन्दी साहित्य में सूफी काव्य के अन्तर्गत प्रेमाख्यानों का जो रूप उपलब्ध होता है उसे अपभ्रंश ने पहले से सुरक्षित कर रखा था। कुतुबन कृत 'मृगावती', 'मंझन कृत 'मधुमालती', उसमान कृत 'चित्रावली', नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' आदि प्रेम कथाये बहुत कुछ कल्पना प्रसूत ही है। जायसी की रचना 'पद्मावत' की कथा में ऐतिहासिकता पायी जाती है। इन प्रेम कथाओ मे कवियो का उद्देश्य कथा कहना ही है परन्तु कुछ धार्मिक दृष्टिकोण के कारण कही-कही पारलौकिक भावो को भी व्यजित किया गया है। इनमे सभी चरित्रों के सौन्दर्य एवं पुरुषार्थ, नायक-नायिका की परस्पर प्रगाढ़ अनुरक्ति के चित्रण समान रूप मे मिलते है। बीच-बीच मे प्रेम की दैवी परीक्षा भी होती है। अपभ्रंश की 'भविष्यदत्त कथा', 'सुदर्शन चरित', 'उपमश्री चरित', 'जिनदत्त चरित' आदि कृतियाँ इसी आदर्श पर रची गयी हैं। हिन्दी के अधिकतर कवियों ने इनकी कडवक बद्ध शैली को भी अपनाने मे संकोच नही किया। अपभ्रंश मे प्राप्त वे समस्त काव्य-रूप समयानुसार हिन्दी मे गृहीत होते गये। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अपभ्रंश के चरित-काव्यो की ही विशिष्ट, मौलिक तथा उत्कृष्ट परिणति है। इसमे भी धार्मिकता का तत्त्व पाया जाता है चाहे वह जैन धर्म से भिन्न वैष्णव धर्म ही क्यो न हो। स्वयंभू ने अपने काव्य के आरभ मे कहा है कि मेरे समान कुकवि कोई नही होगा, न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न मैंने वृत्ति-सूक्तिका व्याख्यान किया है। मैने न तो पाँचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल प्रस्तार आदि छंदों के लक्षण ही जानता हूँ। भामह दंडी के अलंकार शास्त्रों से भी मेरा परिचय नहीं है—

> बुहयण सयंभु पइ विन्नवइ मइं सरिसउ अण्णु णत्थि कुकइ।
> वायरणु कयावि न जाणियउं न वि वित्ति सुत्तु वक्खाणियउं।
> ण उ पच्चाहारहो तत्तिकिय ण उ संधि हे उप्परि बुद्धिथिय।[1]

१ स्वयभू पउम चरिउ १·३।

इस की पद्धडिया-घत्ता शैली ही चौपाई दोहा शैली मे बदल गयी। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में 'कवि न होहु नहि चतुर कहाउं' आदि मे इसी बात को दोहराया है। तुलसीदास द्वारा 'रामचरितमानस' मे दुर्जन सज्जन स्मरण[1] रामकथा को सरोवर का रूपक देना आदि बातें अपभ्रंश के कवि स्वयंभू के समान है :—

> **रामकहाणइ एह कमागय।**
> **अक्खरपास जलोह मणोहर सुअलंकार सद्दमच्छोहर।**
> **पीह समान पवाहावंकिय स बकयपायय पुलिणालंकिय।**
> **देसी भासउभयतडुज्जल कवि दुक्कर घणसद्दसिलायल।**[2] **आदि**

विविध छन्दों से युक्त शुद्ध साहित्यिक महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' की तरह अपभ्रंश में सुदर्शन चरित है। दोनों में छन्द-वैविध्य की दृष्टि से समानता है।

सूरदास के 'सूरसागर' में क्षीण-कथा तंतु से जुडे गेय पद पाये जाते है। सिद्धो के चर्यागीत भी इसी तरह अनेक रागों मे निबद्ध है परन्तु उनमे कथा तत्त्व बिलकुल नही है। सिद्धों के पदो में भाव-विह्वलता तथा गीतिपरकता के साथ-साथ विषय-विवेचन भी खूब पाया जाता है। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' तथा 'सूरसागर' के कुछ पदो मे विवेचन तथा वर्णन की प्रवृत्ति मिलती है। अपभ्रंश मे प्राप्त होनेवाली अनेक प्रेमकथाओ की भाव धारा प्राकृत में ही विकसित हो चली थी। संघदास गणि रचित 'वसुदेव हिंडि' कथा का मूलाधार महाभारत तथा हरिवंश है। इसमें मुख्य कथा के साथ अनेक अवान्तर कथायें ग्रथित हैं। 'समराइच्च कहा' दिव्यमानुष वस्तु से युक्त धर्म कथा है। इस कथा में भारतीय जीवन के विविध पहलू परिलक्षित होते है। महेश्वर सूरि ने 'पंचमी कथा' का प्रणयन किया। जिनहर्ष गणि रचित 'रणसेहरी कहा' एक प्रेमाख्यान है। इसमें रत्नपुर के राजा रत्नशेखर तथा सिंहलदीप की राजकुमारी रत्नावती के जन्म-जन्मान्तर वाले प्रेम का चित्रण है। प्राकृत की 'लीलावती कथा' में देव स्तर के पात्र भी मनुष्यों के समान ही प्रेमादि व्यापार करते है जिसके आधार पर 'लीलावती कथा' विशुद्ध प्रेमाख्यान माना जा सकता है। अपभ्रंश मे 'भविष्यदत्त कथा', 'उपमश्रीचरित', 'सुदर्शन चरित' आदि कथाओ में प्राकृत—कथाओ की तरह ही शिल्प-विधान, घटनाओ की योजना तथा परिणति पायी जाती है। अन्य बहुसंख्यक अपभ्रंश-चरित-काव्यो मे किसी न

---

१. रामचरितमानस : तुलसीदास १'४६।
२ १ ३७

किसी रूप मे प्रधान अंश प्रेमकथात्मक ही है। कृति को सद्परिणाम पर्यवसायी बनाने के लिए प्रधान पात्रो की धार्मिक प्रवृत्ति को चित्रित किया गया है और इस प्रकार कृतियों की धर्मकथा का रूप दे दिया गया है ।[1]

अपभ्रंश मुक्तको की दोहरी प्रवृत्ति प्राकृत में ही शुरू हो गयी थी । जैन मुक्तकों मे 'पाहुड' नाम की रचनाये प्राकृत मे ही मिलने लगती है । आत्मा, परमात्मा, निर्जरा, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि का वर्णन अपभ्रंश जैन कवियों की तरह ही हुआ है । कुदकुदाचार्य रचित 'मोक्ख पाहुड', 'भावपाहुड' आदि ऐसी ही रचनायें हैं । कार्तिकेय मुनि द्वारा रचित 'कार्तिकेयाणुपेक्खा', जैन धर्म से सम्बन्धी ग्रथ है । अपभ्रंश मे जैन धार्मिक भावो को व्यक्त करने के लिए 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', 'पाहुड दोहा', 'दोहानुपेहा' आदि इसी से संयुक्त है । सिद्ध काव्य का कोई प्राकृत रूप नहीं मिलता है ।

लौकिक मुक्तको के अन्तर्गत अपभ्रश मे जो प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं वे सभी प्राकृत के मुक्तक सग्रह 'गाहासतसई', 'वज्जालग्ग' मे मिल जाती है । रचना शैली की दृष्टि से अपभ्रश ने प्राकृत की परम्परा से बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण नही किया । फिर भी चरित काव्यो के प्रभाव से वह मुक्त भी नहीं है । पीछे निर्देश किया जा चुका है कि स्वयभू का 'पउमचरिउ' प्राकृत मे लिखित 'पउमचरिउ' से काफी प्रभावित है । अपभ्रश के चरित काव्यो से हिन्दी के चरित काव्य बाह्य रूप से प्रभावित है ।[2] मुक्तक काव्य के अन्तर्गत कवि द्वारा अपना नाम जोड़ने की परिपाटी अपभ्रंश से ही शुरू हुई जिसे हिन्दी के मुक्तक कवियो ने खूब अपनाया ।

अपभ्रश मे प्राकृत के छन्दों का प्रयोग कम हुआ है, परन्तु प्राकृत का प्रिय छन्द 'गाहा' का प्रयोग 'सदेशरासक' मे हुआ है । वर्णिक वृत्तो में स्रग्धरा, मालिनी आदि संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश मे आये । अपभ्रंश के विशिष्ट छन्द दोहा, पद्धडिया, घत्ता आदि छन्द हिन्दी मे अधिक लोकप्रिय है । मिश्रित छन्दो की परम्परा का विकास अपभ्रंश में हो गया था जिससे छप्पय, सवैया आदि निर्मित हुए । डॉ० भोलाशंकर व्यास ने सवैया के अनेक भेदो मे

---

१. डॉ० रामसिंह तोमर, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० २३२ ।

२. डॉ० रामसिंह तोमर, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० २४० ।

से कुछ के बीज अपभ्रंश छन्दो मे ही निर्दिष्ट किया है।[1] अपभ्रंश के ताल छन्दों (पज्झटिका, हरिगीता) की ताल, अपभ्रंश के चरित काव्यो से ध्रुवा या ध्रुवक के प्रयोग की प्रथा, सिद्ध कवियो को राग-निबद्ध चर्यागीत आदि तत्त्वों को ग्रहण करके पद शैली का उत्कृष्ट विकास किया गया। अपभ्रंश में दो छंदों के मेल से निर्मित मिश्र बध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि का पद की बनावट पर प्रभाव पड़ा।

अपभ्रंश के मुक्तकों में अलंकरण के लिए उपमानो तथा प्रतीको के चुनाव के लिए लोक जीवन की ओर दृष्टि-निक्षेप किया। प्राकृत के काव्यो 'गाहा-सतसई' आदि मे सिधाई के लिए सरकंडा, हंसी के लिए कपास, उष्णता के लिए पलाल, सूखती विरहणी के लिए घर के बन्दनवार आदि अप्रस्तुतो को लोक जीवन से ग्रहण किया गया है। अपभ्रंश के मुक्तक-काव्य (धार्मिक और लौकिक) मे अप्रस्तुतो के चुनाव की यह मौलिकता और समृद्ध हुई। हिन्दी के सन्त कवियो तथा रीति-कवियो ने इस परम्परा को अपने-अपने ढंग से अपनाया।

अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्राकृत साहित्य से अपभ्रंश में केन्द्रित हुईं फिर अपभ्रंश की मौलिक छाप तथा कुछ नवीनता लेकर आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी मे वितरित हो गयी।

●

---

१ डॉ० भोलाशंकर व्यास प्राकृत पैंगलम्, भाग २ पृ० ५६७

मुक्तक काव्य की परिभाषा, स्वरूप और वर्गीकरण

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने पद्यबद्ध काव्य को दो भागों मे विभक्त किया है—१ दीर्घ आकार के पूर्वापर घटनाओं से सम्बद्ध, सर्गबद्ध प्रबन्ध काव्य २—निर्बन्ध स्फुट मुक्तक काव्य।

मुक्तक शब्द की व्युत्पत्ति 'मुक्त' में कन् प्रत्यय जोड़कर होती है और उससे स्वतन्त्र, निर्बन्ध, पूर्वापर निरपेक्ष रचना का बोध होता है। मुक्तक शब्द मे निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय भी लगा है जो भूतकाल के कर्मकारक मे प्रयुक्त होता है और फलाश्रय के समानाधिकरण विशेपण का प्रत्यायन करता है। फिर विशेपण से संज्ञा की निष्पत्ति के लिए 'कन्' प्रत्यय जोडा गया है। अतः मुक्तक का अर्थ हुआ—'मुच्यते स्येति मुक्तकम्' जो छोडा गया है। कन् प्रत्यय से छन्दों की लघुता का भी द्योतन होता है। मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये है :—

१—फेंककर मारा जानेवाला कोई अस्त्र (सस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी)

२—एक प्रकार का गद्य जिसमें समास का प्रयोग बिलकुल न हो (साहित्य दर्पण उल्लास ६)

कल्पद्रुम—कोश मे मुक्त शब्द के निम्नलिखित अर्थ किये गये है :—

बिना कृतं बिरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूहे मुक्तं योवातिशोभनः॥

संस्कृत के आचार्यो की मुक्तक विषयक धारणा :

संस्कृत मे मुक्तक काव्य-रूप की चर्चा सर्वप्रथम 'अग्नि पुराण' मे मिलती है जहाँ अर्थद्योतन मे स्वत सक्षम श्लोको को मुक्तक की सज्ञा दी गयी है :—

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।[1]

आचार्य भामह ने पद्य बद्ध रचनाओं के प्रवन्ध और मुक्तक ये दो भेद माने। परन्तु उन्होने मुक्तको की कोई परिभापा नहीं दी। दण्डी ने मुक्तको को प्रवन्ध के आश्रित मानकर उसकी महत्ता को न्यायपूर्वक आँकने का प्रयास

१. अग्नि पुराण, अध्याय ३३७ श्लोक ३३, पृ० ४२१

नही किया। इसी कारण से उन्होने मुक्तक का विस्तृत विवेचन न करके केवल इतना ही उल्लेख किया कि मुक्तक, कुलक, कोश संघात आदि सर्गबद्ध महाकाव्य के अवयव मात्र है —

मुक्तक कुलकं कोष: संघात इति तादृश: ।
सर्गबन्धांग रूपत्वादनुक्त: पद्य विस्तार: ॥[२]

वामन ने मुक्तक के महत्व को और कम कर दिया—

असंकलित रूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।
न प्रत्येक प्रकाशन्ते तैजसा: परमाणव: ॥

अर्थात् असंकलित काव्य रूपों में चारुता नहीं आती जैसे अग्नि के अलग-अलग परमाणु नही चमकते। मुक्तक-काव्य की महत्ता की परख करनेवाले सर्व प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन है जिन्होने मुक्तको की परिभाषा केवल रूप के आधार पर नही की, बल्कि उसको रसात्मक आधार देकर रसवादी विवेचना प्रस्तुत की। 'ध्वन्यालोक' के लोचनकार अभिनव गुप्त व्याख्या करते हुए लिखते है :—

मुक्तमन्येनऽनालिंगितम् । तस्य संज्ञायां कन् ।
तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्ध—
मध्यवर्ती मुक्तमित्युच्यते ।......पूर्वापरनिरपेक्षणापि
हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।[3]

आगे पीछे के पद्यो से जिसका सम्बन्ध न हो, अपने विषय को स्पष्ट करने मे स्वत. पूर्ण हो ऐसे पद्य को मुक्तक कहते है। स्वतन्त्र और निरपेक्ष अर्थ द्योतन मे समर्थ होने पर भी वह प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है। पूर्वापर निरपेक्षता के बावजूद जिससे रस-चर्वणा सम्भव हो सके उसे मुक्तक कहते हैं।

काव्य मीमांसाकार ने मुक्तक पर अर्थ की दृष्टि से विचार किया और वस्तु के आधार पर मुक्तक तथा प्रबन्ध की समानता स्थापित की। राजशेखर ने यह माना कि प्रबन्ध के समान मुक्तक मे भी वस्तु के पाँचो रूप शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, सविधानक भू और आख्यानवान् प्रयुक्त हो सकते है।[४] 'काव्या-

---

१. काव्यादर्श, दण्डी, अध्याय १, श्लोक ६

२. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन, ३ उद्योत, पृ० १४३-१४४

३ राजशेखर नवम

नुशासन' मे हेमचन्द्र ने काव्य के दो रूप निर्धारित करते हुए मुक्तक को श्रव्य काव्य की अनिबद्ध कोटि मे रखा :—

अनिबद्धं मुक्तकादि[1]

कविराज विश्वनाथ ने सर्वथा मुक्तक को मुक्त अर्थ में लिया .—

छन्दोबद्ध पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।[2]

संस्कृत में मुक्तक को जिस रूप मे पारिभाषित किया गया उसका यही आशय निकलता है कि पूर्वापर निरपेक्ष रसमय काव्य को मुक्तक कहते है परन्तु उसमे रस की अवस्थिति की अनिवार्यता निर्विवाद नही मानी जा सकती क्योकि बहुत से ऐसे मुक्तक प्राप्त है जिनमे दार्शनिकता, उपदेशात्मकता, स्तुति-परकता की प्रधानता है और जिनमे शास्त्रीय रस नही है किन्तु मानवीय कल्याण तथा अभिव्यक्ति की कुशलता के कारण उन्हें काव्य की कोटि में माना जाता रहा है। मुक्तक को प्रबन्ध या सर्गबद्ध काव्य मानने वाले आचार्य दण्डी जैसे विद्वानों का मत सर्वथा ग्राह्य नही है। 'मुक्तक काव्य जब भी रचा जायेगा स्वतन्त्र रूप में ही उसकी अवस्थिति होगी और आत्मपर्यवसित रचना रसपूर्ण एव नीरस दोनो ही प्रकार की हो सकती है'।[3] सम्भव है कि दण्डी का ध्यान ऐसे मुक्तको के ऊपर रहा हो जो प्रबन्ध काव्य मे गुंफित होते हुए भी अपने अलग अस्तित्व की उद्घोषणा करते रहते है। रामचरितमानस की यह पक्ति 'परहित सरिस धरम नहि भाई' मुक्तक ही है। इस तरह की बहुत सी पक्तियाँ संस्कृत और हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में मिलती हैं। हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमे कथा प्रसंग की परिस्थिति मे भूला हुआ पाठक निमग्न हो जाता है और हृदय मे स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छीटे पडते है जिससे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अग का प्रदर्शन नही होता बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य सहसा सामने ला दिया

१. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, अ० ८ सूक्त ५, ६ पृ० ४४६।

२. विश्वनाथ कविराज . साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद।

३. डॉ० शकुन्तला दुबे : काव्य रूपो के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० ४६२।

जाता है।"[१] प्रस्तुत कथन का विश्लेषण करने पर प्रबन्ध की तुलना में मुक्तक की तीन विशेषतायें उभर कर सामने आती है :—

(१) प्रबन्ध मे रस की अजस्र धारा बहती है किन्तु मुक्तक मे रस के छींटे पड़ते हैं। इस मतव्य को अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट लक्षित होता है कि यह अवधारणा निर्दोष नही है। रामचन्द्र शुक्ल ने इस मत की स्थापना 'रामचरितमानस' जैसे प्रबन्ध काव्य के आधार पर की जिसमे राम की कथा स्वत. रुचिकर है। यही नहीं राम की कहानी को यदि बिना किसी प्रबन्ध काव्य का आश्रय लिये सुनाया जाय तो श्रोता को उसमे कहानी का आनन्द तो मिलेगा ही। पाठक या श्रोता का ध्यान कथात्मक प्रबन्ध काव्य मे इसलिए भी आकर्षित रहता है कि ध्यान चूक जाने पर वह आगे आनेवाले प्रसंगों को समझ नही पाता। शास्त्रीय दृष्टि से प्रबन्ध काव्य की हर पंक्ति मे रस निष्पत्ति नही होती है। उसमे अधिकाश भाग तो वर्णनात्मक ही रहता है। पूरे काव्य मे कुछ मार्मिक स्थल होते है जहाँ रस की पूर्ण व्यजना होती है और पाठक कथा क्रम के चक्कर को भूलकर उसमें डूब जाता है। प्रबन्ध मे रस की धारा नही बल्कि कथा का प्रवाह होता है जिसका सहगमन करता हुआ पाठक कभी रस का आस्वाद लेता है कभी घटना वैचित्र्य मे फँसकर चमत्कृत होता है, कभी रस मे पूर्णतः निमग्न होता है और कभी केवल कथा ही उसके साथ होती है। मुक्तक काव्य मे रस की धारा बहेगी या छींटे पड़ेगे या शुष्कता ही रहेगी यह सब तो मुक्तक रचना की प्रकृति पर निर्भर करता है। रसात्मक मुक्तको मे रस का आस्वाद किसी भी प्रबन्धगत रस से कम नही होता। 'अमरुकशतक', 'चौर पंचासिका', 'सूरसागर' आदि मुक्तक रचनाएँ नीरस नही है। अमरुक के एक एक श्लोक को सौ प्रबन्धों के बराबर माना जाता है। इस अतिशयोक्ति का कारण आकारगत नही है बल्कि रसगत है। रसहीन मुक्तको मे महत्त्वहीनता तथा अर्थहीनता नही होती उनका अपना एक विशिष्ट लक्ष्य होता है। फिर रस का कोई स्तर भेद भी नही माना जा सकता।

(२) प्रबंध को शुक्ल जी ने वनस्थली कहा और मुक्तक को चुना हुआ गुलदस्ता। इस कथन मे मुक्तक की सीमित जकड़न चुनाव कला प्रधानता और प्रबंध की स्वाभाविकता या स्वतः विकास प्रक्रिया की व्यजना निहित है। प्रबध का विकास बिलकुल सहज, अप्रयासित नहीं है। प्रबंधकार पूरी घटना को अपने प्रयोजन के अनुसार सुसज्जित करता एवं कथा का चयन तथा नियोजन

---

१ रामचन्द्र शुक्ल · हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २७५

कलात्मक सजगता के साथ करता है। माघ के 'शिशुपाल-वध' मे शब्द-योजना तथा कलागत कारीगरी की उच्चता देखी जा सकती है जिसके संबंध मे य‚ उक्ति है—नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते। वनस्थली मे विस्तृति और गुलदस्ता मे संक्षिप्तता का जो भाव है वह प्रबंध तथा मुक्तक के अन्तर को अवश्य ही निर्दिष्ट करता है। मुक्तक के अन्तर्गत कोई दोष छिप नही पाता इसलिए मुक्तककार को विशेष सजग रहना पड़ता है। यह सजगता कलात्मक स्तर पर भी होती है क्योकि उसे तो थोडे मे बहुत कुछ कह देना है। इन्ही सब कारणो से मुक्तक मे चयन, संचय और मंडन की प्रवृत्ति बढ जाती है।

(३) प्रबध मे पूर्ण जीवन आता है किन्तु मुक्तक मे एक रमणीय खण्ड का दृश्य आना है। रसोत्पत्ति के लिए मुक्तक मे दृश्य-विधान को विशेष महत्त्व दिया गया है। बिना इन दृश्यो की अनोखी उद्‌भावना के मुक्तक मे रसोत्पत्ति संभव नही।[१] अतः मुक्तक की अत्यन्त संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—

मुक्तक ऐसी निर्बंध काव्य रचना है जिसमे रस, भाव, उक्ति वैचित्र्य या किसी महत्त्वपूर्ण मानवीय संदेश की कलात्मक निष्पत्ति होती है।

पाश्चात्य साहित्य में मुक्तक की स्थिति :

प्राचीन तथा नव्य पश्चिमी काव्य परम्परा मे भारतीय मुक्तक जैसी कोई रचना नही हुई। प्राचीनकाल मे यूनान मे मुक्तकों के साथ गेयता अभिन्न रूप से जुड़ी थी। यह स्थिति प्राचीन वैदिक सूक्तों मे मिलती-जुलती है किन्तु वैदिक साहित्य मे कुछ ऐसे मुक्तक मिलते है जो गेयता से मुक्त है। सामवेद का निर्माण ऋग्वेद के गेय मुक्तको के चयन से हुआ अर्थात् अवशिष्ट मुक्तकों मे उतनी गेयता न थी जितनी सामवेद के संग्रहीत मुक्तकों मे। आगे चलकर उपनिषदो के बीच मे जो पद्यात्मक रचनाएँ समाहित हुईं उनसे शुद्ध मुक्तक-काव्य की परम्परा बिलकुल स्पष्ट हो गई। पाश्चात्य काव्य मे मुक्तक, गीति-मुक्तक के रूप मे ही विकसित हुए यद्यपि डा० रामअवध द्विवेदी ने यूरोपीय लिरिक के एक ऐसे भेद की ओर सकेत किया जिसमे सहजानुभूति कलात्मक उपकरणो से आच्छादित रहती है।[२] ऐसे मुक्तकों के उदाहरण स्वरूप उन्होने

---

१. डा० शकुन्तला दूबे : काव्य रूपो के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० ४६० ।

२. डा० रामअवध द्विवेदी : साहित्य रूप, पृ० २३८

लघु मुक्तकों को प्रस्तुत किया । मुक्तक के दूसरे भेद में ऐसे मुक्तक आते हैं जिनमें तीव्र भावनाओं की सीधी अभिव्यक्ति होती है जिनमे संगीतमयता प्रचुर परिणाम मे विद्यमान रहती है ।[१] शोक गीत, इडिल तथा सानेट मुक्तक काव्य के ही प्रारूप है :—

शोक गीत—यूरोप में भारत की अपेक्षा अधिक शोक गीत लिखे गये । शोक काव्य मृत्यु से संबंधित होता है और उसमें प्रियजन के निधन पर विषाद प्रकट किया जाता है । इसका एक भेद पैस्टोरेल एलेजी है जो प्रकृति और गडेरियों के जीवन से सबधित कतिपय रूढियों को आत्मसात करके विकसित हुई ।

इडिल—प्राचीनकाल मे चित्रात्मक लघु काव्य को इडिल कहा जाता था जिसमे प्राकृतिक सौन्दर्य तथा शान्तिपूर्ण मनोवृत्ति को अभिक्त किया जाता था किन्तु उन्नीसवी शताब्दी में ब्राउनिंग और टेनीसन ने लम्बे रोमाटिक आख्यानक काव्यो को इडिल नाम से अभिहित किया तब से उसके रूप-विधान की धारणा अनिश्चित सी हो गयी ।

सानेट—इसमे चौदह पंक्तियाँ होती हैं । अंग्रेजी ने पहले पहल इसे पेट्रोक से प्राप्त किया था और फिर धीरे-धीरे उसका रूप अपने ढग से परिवर्तित करती गयी । इस प्रकार अंग्रेजी मे सानेट के कई भेद हो गये ।

मुक्तक काव्य का क्षेत्र और भेद :

मुक्तक का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । मुक्तक ही किसी कवि के काव्य जीवन मे प्रवेश करने का प्रथम द्वार है । वामन ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा कि अनिबद्ध रचना में सिद्धि पा लेने के पश्चात् ही निबद्ध रचना मे सिद्धि मिलती है । बहुत से कवि अपने को मुक्तक काव्य रचना तक ही सीमित रखना चाहते है यह उचित नही है । अग्नि के अणु की तरह मुक्तक रचना चमकती नही है । राजशेखर का भी कथन है कि मुक्तक रचनाकार असख्य कवि होते है प्रबन्धकार एक समय मे सौ ही मिल सकते हैं । महाकाव्यकार एक समय में केवल कोई एक या दो हो सकते हैं । तीन का मिलना तो कठिन ही है । काव्य की महत्ता कवियों की संख्या पर आधारित मानना उचित नही है । मुक्तक काव्य की रचना करनेवाले बाल कवियो की संख्या भले ही ज्यादा हो किन्तु सिद्ध मुक्तककार कम ही मिलते है । काव्य के किस रूप की उन्नति

---

१ डा० राम अवध द्विवेदी साहित्य रूप पृष्ठ २३८

कब अधिक होगी कब कम यह समय सापेक्ष अधिक है। संपूर्ण ऋग्वैदिक काल मे तथा हिन्दी साहित्य के मध्यकाल मे मुक्तक ही अधिक रचे गये। रीतिकाल का एक ही कवि अपने मुक्तक तथा प्रबध काव्य रचना मे मुक्तककार के रूप मे अधिक कुशल सिद्ध हुआ। सामान्यतया मुक्तक के क्षेत्र मे स्वमात्र विश्रान्त वे समस्त पद आ जाते है जो किसी प्रबंध के अग न हो और रमणीयता का सपादन करने मे समर्थ हो। मुक्तक काव्य का रचना क्षेत्र प्रबध से कम विकसित नहीं है। वैदिक युग की जितनी सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक उपलब्धिया है वे सभी मुक्तको में अभिव्यक्त हैं। इन्ही मुक्तक रचनाओ का सग्रह ही वेद सहिता के नाम से प्रसिद्ध है।

मुक्तकों का वर्गीकरण :

मुक्तको के वर्गीकरण के कई आधार है। प्राचीन भारतीय आचार्यो ने मुक्तक काव्य के भेद मुख्यत: श्लोको की गणना के आधार पर किये है।—

१ - **मुक्तक**—एक श्लोक की निर्बंध रचना मुक्तक है।

२—**युग्मक**—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमे श्लोको का एक युग्म होता है। इन दो श्लोको में पूर्ण अर्थ की प्रतीति होती है।

(३) **विशेषक**—तीन श्लोकोवाली रचना को विशेपक कहते हैं।

(४) **कलापक**—चार श्लोकोवाली रचना कलापक कहलाती है।

(५) **कुलक**—इसमे पाँच या ५ से लेकर चौदह तक श्लोक होते है। कुछ आचार्यो का मत है 'पंचभि कुलकं' हेमचन्द्राचार्य ने कहा कि 'पचभिश्चतुर्दशान्तैः कुलकं। अग्नि पुराणकार ने पाँच से अधिक श्लोको के अन्वय को कुलक माना है।

(६) **कोश**—परस्पर असम्बद्ध मुक्तकों के संग्रह को कोश कहा जाता है। स्वपर कृति सूक्ति-समुच्चय कोश· सप्तशतकादिः (काव्यानुशासन हेमचन्द्र आठवा अध्याय)।

(७) **प्रघट्टक**—एक कवि रचित श्लोक समूह का नाम प्रघट्टक है।

(८) **विकर्णक**—अनेक कवियों द्वारा लिखित मुक्तको का सग्रह है। यह भी कोश का ही एक रूप है।

(९) **संघात या पर्यायबन्ध**—एक कवि द्वारा एक विषय पर रचित छन्दो को संघात कहते हैं 'एकार्थ विषय एककर्तृकपद्यसंघात'।

द्वितीय आधार : छन्द .

छन्दो के आधार पर मुक्तको को दोहा, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, छप्पय, बरवै और सोरठा आदि रूपों में विभक्त किया जाता है।

तृतीय आधार : रस और भाव :

इसके अनुसार मुक्तक के दो भेद किये जाते है —

(१) **रसात्मक मुक्तक**—रसात्मक शब्द उपलक्षण है इसके अन्तर्गत भावो से सम्बन्धित सभी प्रकार के मुक्तक आ जाते है। इन भावो के आलम्बन मे प्रकृति, परमात्मसत्ता या अन्य कोई दिव्य शक्ति चित्रित हो सकती है। इसमे भगवद्भक्ति स्तोत्र, राज विषयक रति का भी सन्निवेश हो जाता है। किन्तु रसात्मक मुक्तक की सज्ञा उन्ही मुक्तको को मिल सकती है जिनमे किसी न किसी भाव की अभिव्यंजना होती है। रसात्मक मुक्तको के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भाव-शबलता आदि का वर्णन करने वाले निर्बंध पद्यो का सन्निवेश किया जाता है।

धार्मिक मुक्तक :

प्राचीन साहित्य मे कुछ ऐसे मुक्तक मिलते है जिनमे लौकिकभाव की अभिव्यक्ति पर बल नहीं दिया गया है। यद्यपि इन मुक्तको मे भाव व्यजना तथा उक्ति वैचित्र दोनो का हल्का सस्पर्श मिलता है। इन्हे न तो शुद्ध रसात्मक कहा जा सकता है न सूक्ति। धार्मिक वर्णनों से सम्बद्ध मुक्तको को धार्मिक मुक्तक कहा गया है।

मुक्तकों का ऐसा वर्ग भी मिलता है जिसमे रस को कोई स्थान नही केवल कथन का चमत्कार ही प्रमुख रूप मे उपलब्ध होता है—

(१) प्रतीकात्मक भाषा मे लिखे गये मुक्तको-सन्ध्याभाषा, उलटवासियाँ, दृष्टकूट की प्रमुख विशेषताएँ भाषिक अस्पष्टता तथा प्रतीकात्मकता है।

(२) **सूक्ति**—सूक्ति का अर्थ होता है सुन्दर उक्ति। सुभाषित को भी सूक्ति का ही समानार्थी माना जाता है। सूक्तियो मे अधिकतर नीति तथा उपदेश के मुक्तक होते हैं। अत इसके दो उपभेद है :—

नीति प्रधान मुक्तक ·

इस प्रकार के मुक्तकों के माध्यम से कवि अपने महत्त्वपूर्ण अनुभवो को कलात्मक ढंग से सप्रेषित करके मानव को सचेष्ट करने का प्रयास करता है।

वह समाज के निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग, प्रजा से लेकर राजा तक को नीति की बाते बताता है।

उपदेश प्रधान मुक्तक :

सन्त-महात्मा आत्म कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण की भावना से व्यग्र रहते है। अत' वे सासारिक कर्म के जालों मे फँसी मानवता के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होते है। एतदर्थ उन्हें जन-प्रबोधन की जरूरत होती है। राग, विराग, ईश्वर महिमा आदि विषयों को लेकर वे सामान्य जनो को उपदेश देते है जिन्हे उपदेशात्मक मुक्तक कहते हैं। उपदेशात्मक मुक्तकों मे कुछ आचारपरक होते हैं।

समस्यापूर्ति—इसमे किसी दी हुई पक्ति के आधार पर छन्द को पूरा किया जाता है। इसका प्रारंभ सस्कृत काल से हुआ।

मुकरियाँ—इस काव्य रूप का प्रयोग खुसरो ने किया है। इसमे कुछ पक्तियो मे ऐसा वर्णन होता है जो साजन के ऊपर घटित होता है किन्तु ऐ सखि साजन को नकार कर (मुकर कर) दूसरा उत्तर दिया जाता है।

झूलना—इसमे उक्ति चमत्कार ही प्रमुख है। संतो ने इसका अधिक प्रयोग किया है।

ककहरा—इसमे मुक्तक का आरंभ वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से होता है।

पहाड़ा—इसमे सख्यावाचक शब्दों से छन्द का आरम्भ होता है।

मुक्तक का प्रकृतिगत विभाजन :

कवि जिस भाव की प्रेरणा से कवि कर्म मे प्रवृत्त होता है वह भाव उसके काव्य मे द्रवित हो जाता है। यदि पूरे मुक्तक का निचोड लिया जाय तो प्रस्तुत पद का भाव कवि रचना दृष्टि से जुडकर जीवन दृष्टि की झलक देने लगता है। लौकिक तथा अलौकिक दृश्यो को कवि अपने अभिप्रेत के अनुसार मोड देता है। इसी तरह मुक्तक की पूरी प्रकृति इच्छित दिशा मे ढल जाती है। लौकिकता तथा अलौकिकता के आधार पर मुक्तक को लौकिक मुक्तक तथा अलौकिक मुक्तक दो भागो मे बाँट देते है।

(१) **लौकिक मुक्तक**—लौकिक मुक्तक के अन्तर्गत समस्त सांसारिक क्रियाकलापो से सम्बद्ध मुक्तक आ जाते है। डा० शकुन्तला दुबे के शब्दो में लौकिक भावना इस लोक के समस्त क्रियाकलापो को लेकर चलती है। अतः

इसके भीतर अन्यान्य भावनायें स्थान पा लेती है। उसकी शृंगारिक, वीर, रसमयी नीति और उपदेशात्मक प्रवृत्तियाँ लौकिक मुक्तकों मे अभिव्यक्त होने लगती है।''[1]

(२) **अलौकिक मुक्तक**—कुछ कवि मूल रूप से भक्त, सन्त या आध्यात्मिक व्यक्तित्ववाले होते हैं। उनका मन न तो पायल की रुनझुन मे रमता है और न तलवारो की खनखनाहट मे ही रमता है। वे यह मानते है कि मानव को मदमस्त करनेवाली महिला, मनुष्यो का सब से बड़ा शत्रु नारी पारलौकिक आनन्द से विरक्त करनेवाली है। वे सब तरह की सासारिकता को तिलाजलि देकर आध्यात्मिक साधना में लीन हो जाते है। उनका उद्देश्य कविता करना नही बल्कि जनता को उद्बोधित करना होता है। ऐसे कवियों की मुक्तक रचनाये आमुष्मिकता के भावो से भरी होती है। उनमे मूलतः शान्त और भक्ति रसो की निष्पत्ति होती है।

अलौकिक मुक्तको को पाँच भागो मे बाँटा जाता है—

(१) स्तुति प्रधान

(२) प्रार्थना प्रधान

(३) वैराग्य प्रधान

(४) संतोष प्रधान, कथनी प्रधान[2]

धार्मिक मुक्तको को भी इसी मे सम्मिलित किया जा सकता है।

रचना-शिल्प के आधार पर :

मुक्तक रचना के लिए किसी इतिवृत्त या बडी घटना की आवश्यकता नही होती। इतिवृत्त तथा घटना का प्रयोग यदि किया जाय तो उसे एक हद तक सीमित रखना पड़ता है। मुक्तक की सामासिक शैली मे घटनाओं तथा इतिवृत्तों का थोड़ा सा संकेत मिलता है। सम्पूर्ण अर्थ को उद्घाटित करने के लिए अलग से प्रसंग कल्पना करनी होती है। कभी कोई कवि ऐसे प्रसगो को अपनी रचना प्रक्रिया का अग बना देता है। अत॰ उसके काव्य मे एक छोटे मोटे कथानक की सृष्टि हो जाती है। फलस्वरूप उसमें कुछ कुछ प्रबन्धात्मकता के गुण आ जाते हैं। ऐसी रचनाओं को प्रबन्धात्मक मुक्तक कहा जाता है।

---

१. डा० शकुन्तला दुबे : काव्य रूपो के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० ५२२।

२ वही

मेघदूत, संदेशरासक, गीति-गोविन्द, उद्धवशतक, आँसू इसी तरह की रचनाये है। सदेशरासक पर विचार करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस सबंध मे कुछ तथ्य उद्घाटित किये---वस्तुतः दोनो मे (मेघदूत, संदेशरासक) कथा वस्तु को बहाना बनाकर विरह- वर्णन का चित्रण करना ही कालिदास और अद्दहमाण का उद्देश्य है······ । इन कथा सूत्रों का अपने आप मे कोई महत्त्व नही है।··· ·········इस प्रकार के क्षीण-प्रबन्धधर्मा मुक्तक काव्यो की भारतीय साहित्य में कमी नहीं है।

'मेघदूत, ऋतुसंहार, गीतगोविन्द, चौर-पंचाशिका, रम्भा शुक संवाद, बीसलदेव रासो, ढोला मारूरा दोहा और उद्धवशतक आदि इसी प्रकार के काव्य है जिनमें प्रबन्धात्मकता केवल नाम मात्र के लिए है और जो शुद्ध मुक्तक काव्यो से दूर नही पडते।[1] इस प्रकार मुक्तक के दो भेद हो जाते है :—

१. शुद्ध मुक्तक।

२. प्रबन्धात्मक मुक्तक।

इसी सन्दर्भ मे श्री जितेन्द्र पाठक ने मुक्तक के अन्य भेद मुक्तक प्रबन्ध की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होने प्रबंध मुक्तक और मुक्तक प्रबन्ध दोनो मे भेद दर्शाते हुए लिखा प्रबन्ध मुक्तक से यदि उपस्थान शैली प्रबंधात्मक होती है और वक्तव्य-विषय प्रगीतात्मक तो मुक्तक प्रबंध मे उपस्थान शैली मुक्तकात्मक और वक्तव्य विषय कथाश्रयी।[2] वास्तव में प्रबन्धात्मक मुक्तक के अन्तर्गत दोनो के सामान्य तत्त्व सम्मिलित है। गेयता काव्य का एक अलग धर्म है। इसके आधार पर मुक्तकों के विभाजन की चर्चा आगे की जायेगी।

माध्यम के आधार पर मुक्तक का वर्गीकरण :

इस आधार पर मुक्तक को दो भागो में बाँटा जाता है :—

१ अगेय या पाठ्य मुक्तक।

२ गीति-मुक्तक।

पाठ्य या अगेय मुक्तक मे कवि अपनी अनुभूति को कलात्मक सजगता के साथ अभिव्यक्त करता है। किन्तु जब वह सुख दुख की गहराई मे निमग्न हो जाता है तो बुद्धि भी भावना में डूब जाती है। सारे भाव पिघल कर स्वतः ही बह निकलते है। आत्म निष्ठता तथा तरलता से युक्त ऐसे मुक्तक गीति-मुक्तक

---

१. विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक (भूमिका), पृष्ठ ८७-८८

२. जितेन्द्र नाथ पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २५।

कहलाते है। कुछ विद्वान् मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य दोनों को अलग-अलग मानते है। डा० शकुन्तला दुबे ने गीति तथा मुक्तक का भेद निम्नलिखित आधारो पर किया है—

१. स्वानुभूति के निरूपण में कवि उन्मुक्त पक्षी की भाँति गान करता है जिसमें कला पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष की प्रधानता होती है। उसे गीत कहते हैं। जब अनुभूति पर शास्त्रीयता तथा बौद्धिकता का अधिक दबाव पडता है तो अभिव्यक्ति सहज न रहकर अलंकृत तथा सचेष्ट हो जाती है और तब मुक्तक का निर्माण होता है।

२ मुक्तक में शास्त्र सपादित अन्यान्य व्यापारों की सहायता से रस व्यंजना की जाती है। गीतिकाव्य की रस व्यंजना मुक्तक की भाँति कलात्मक अथवा रूढिगत नही होती है।

३. मुक्तक में छन्द-विधान आवश्यक तत्त्व है। गीत काव्य तो एक बार इस छन्द के बन्धन को अमान्य करके आगे बढ सकता है किन्तु मुक्तक विना उसे अपनाये आगे बढ़ ही नही सकता।

४. मुक्तक में किसी कथा अथवा कथाश का वर्णन नही होता तथापि उसमें कोई प्रसंग अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य वर्तमान रहता है।

५. मुक्तक मे समुचित रसावगाहन के लिए काव्यगत रूढि का ज्ञान आवश्यक है।

ऊपर जितने भेद गिनाये गये है वही भेद कम बेश गीत तथा अगीत मुक्तको में है। मुक्तक तथा गीतिकाव्य को बिलकुल अलग मानना तर्क संगत नही है क्योंकि इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट रेखा नही खीची जा सकती। वैदिक मुक्तको में एक तरफ गीतिमयता है तो दूसरी तरफ कलात्मक सजगता भी है। उषा के वर्णन मे किसी भी लौकिक कवि द्वारा वर्णित दृश्य से कम आलंकारिता नही है जो कि प्रमुखतया मुक्तक का ही गुण माना जाता है। ये मत्र गीतात्मक तत्त्वों से विरहित नही है। वेदो का सस्वर पाठ होता था यह सर्वविदित है। लेखिका महोदया ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है 'अस्तु संगीत तो वैदिक सूत्रों मे है ही क्योंकि बिना लय के उनका पाठ या गान संभव नही। उनके प्रणयन मे स्वरों का तो इतना ध्यान रखा गया है कि कही भी स्वरों मे हेरफेर समस्त अर्थ को बदल कर उसके सौन्दर्य को नष्ट कर देता

सामवेद की रचना तो बहुत ही गीतात्मक है जिसका प्रत्येक सूक्त संगीत मे लिपटा हुआ है'।[१]

वैदिक सूक्तों की रचना किसी न किसी छन्द में अवश्य हुई है जो मुक्तक का गुण माना गया है। आधुनिक काल में ऐसे बहुत से गीत-अगीत काव्य लिखे गये है जो छन्दों से मुक्त है। लौकिक संस्कृत मे अमरुक कुशल मुक्तक-कार के रूप में प्रसिद्ध है। अमरुक द्वारा लिखित अमरुशतक को मुक्तक काव्य का निकष माना जाता है। वाह्याडम्बर से मुक्त इन मुक्तकों मे भावाभिव्यजना उच्चकोटि की है। शार्दूल विक्रीडित छन्दोबद्ध इन श्लोकों मे सामासिक क्लिष्टता नही है। कीथ महोदय ने इसे लिरिक (गीति काव्य) की कोटि मे रखा है। भाव और कला दोनो दृष्टियो से इस समोत्कृष्ट काव्य को केवल मुक्तक काव्य कहा जाय या केवल गीतिकाव्य ? वास्तव में इसे गीति-मुक्तक कहना ही उचित है। वैदिक मुक्तको को भी इसी कोटि मे रखना चाहिए। मुक्तक के रसावगाहन के लिए काव्यगत रुढि का ज्ञान आवश्यक है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन परवर्ती मुक्तककारो बिहारी आदि के मुक्तकों का अध्ययन करके किया गया है। सम्पूर्ण मुक्तक परम्परा पर यह सिद्धान्त लागू नही होता। निष्कर्ष यही निकलता है कि मुक्तक को गेयता के आधार पर गीत मुक्तक, पाठ्य या अगीत मुक्तक दो भागो मे बाँटना ही उचित है।

समस्त काव्य रूपो का विकास अलगाव की ओर होता रहा। अपभ्रंश तथा हिन्दी तक आते-आते मुक्तक काव्य के एक रूप ने अपनी अलग स्थिति बना ली। अपभ्रंश में पद शैली का विकास हुआ जो कि मुक्तक काव्य के सामान्य रूप से अभिव्यक्ति तथा भाव दोनो मे भिन्न थी। भक्तिकाल मे पद शैली का प्रचुर प्रयोग हुआ तथा उसके साथ गेय तत्त्व अनिवार्यत. जुडता गया। सूर, मीरा आदि ने जिन पदो की रचना की उनका निजी वैशिष्ट्य है। पद मे एक ही भाव केन्द्र मे होता है। अन्य बाते उसी केन्द्र के चारो ओर घूमती रहती है। भाव किसी विस्तृत विषय की अपेक्षा नहीं करता और उसमे न तो वाह्य रचना सबंधी कलात्मक चमत्कार ही होता है। गीतकार के प्रकाश का फोकस किसी भाव पर पडता है जिससे मूलभाव चमक उठता है तथा उसका परिवेश भी थोडा-थोडा प्रकाशित हो उठता है। मुक्तक मे फोकस किसी विषय

---

१. डा० शकुन्तला दूबे काव्य रूपो के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० १५२।

या तथ्य पर होता है तथा उसे कई रंगों मे तरह-तरह से चमका दिया जाता है। इसलिए उसमे एक विशेष चमत्कृति आ जाती है।

पद गीत मे पहले आरोह होता है फिर अवरोह किन्तु मुक्तक रचनाओं मे अवरोह से आरोह होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मुक्तक वह सपाट या अवरोह से आरोह की ओर अग्रसित होनेवाली काव्य-रचना है जिसमें किसी भाव या विषय को चमत्कारिक ढंग से प्रकाशित कर दिया जाता है।

अपभ्रंश तथा हिन्दी के कुछ छन्दो को लेकर मुक्तक की रचना प्रक्रिया को और अच्छी तरह से परखा जा सकता है। सर्वाधिक लोकप्रिय मुक्तक छन्द दोहा, कुंडलिया, सवैया, तथा कवित्त रहे है। दोहा एक लघु छन्द है। इसमे कवि का कथ्य बड़ी सक्षिप्तता से कलात्मक कसावट के साथ तुरन्त व्यक्त हो जाता है। किसी महत्त्वपूर्ण बात को समझाने के लिए बिना विस्तार किए दोहे का प्रयोग किया जा सकता है। इसीलिए धार्मिक उपदेशों के लिए इसे बहुत उपयुक्त समझा गया। इससे श्रोताओं को उपदेश के किसी विस्तृत क्रम को ध्यान मे नही रखना पडता। उसका ध्यान कवि द्वारा उद्घाटित तथा प्रकाशित किसी एक तथ्य पर टिक जाता है जैसे :—

जसु हरिणच्छी हियइ वसइ तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समंति बढ वे खण्डा पडियारि।।[१]

इस दोहे मे कवि कहना चाहता है कि साधना के मार्ग में स्त्री अवरोधक है। इसके लिए वह कोई लम्बा चौड़ा व्याख्यान नही देता बल्कि चुने चुनाये कुछ शब्दो से ही पूरी बात समझा देता है। जिसके हृदय मे हरिणाक्षी स्त्री निवास करती है उसे ब्रह्म विचार नही हो सकता। यह तो मात्र एक कथन हुआ जो उत्सुकता को शान्त नहीं करता बल्कि नये प्रश्न को उठाता है क्यो ? फिर कवि मूल भाव को दूसरी पक्ति से चमकाता है और प्रचलित मुहावरे को रखकर मुक्तक छन्द को पूर्ण कर देता है। 'बढ' के प्रयोग से वह श्रोताओ तथा पाठको को एक बार झकझोर देता है और कहता है (क्या) एक म्यान मे दो तलवारें रह सकती है? अर्थात् नही। शृगारिक भावो को चमत्कारिक ढग से व्यक्त करने के लिए भी दोहे को इसी तरीके से पूर्ण प्रभावोत्पादक बनाया जाता है जैसे :—

मइ जाणिउपिअ विरहिअहं कवि धर होइ विआलि।
णवर मिअङ्कु वि तिहतवइ जिह दिणयरू खय गालि।।[२]

१. परमात्म प्रकाश, प्रथ० महा०, पृष्ठ १२२।

इस दोहे मे प्रथम पद साधारण है, मुक्तक का पूर्ण चमत्कार दूसरी पंक्ति मे स्पष्ट होता है जिसमे नायिका को मृगाक (चन्द्रमा) प्रलयकालीन दिनकर की तरह चमकता दिखाई पड़ता है। हिन्दी के मुक्तककारों ने शब्दो की क्रियाओ की ऐसी नियोजना की कि वे अपने अर्थ-विस्तार की गरिमा से ही सारे भावो को उजागर कर देते हैं। ऐसे मुक्तको के हर शब्द अपने अपने स्थान पर ऐसी चुस्ती से पिरोया रहता है कि उसे यदि वहाँ से हटा दिया जाय तो सारा काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहि कोइ।
ज्यो ज्यों बूडे स्याम रंग, त्यो त्यों उज्जलु होइ॥

इस दोहे में स्याम शब्द अर्थगर्भित है जो कृष्ण तथा काले दोनो के लिए प्रयुक्त है। उज्जलु से कृष्ण का ईश्वरत्व भी सिद्ध हो जाता है।

लटपटालि सैं ससिमुखा मुख घूंघट पटु ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

इस छन्द में हर शब्द बराबर गति से अग्रसरित होता है किन्तु कवि की सौन्दर्यानुभूति का गहरा चित्र 'पावक झर सी झमक' मे उजागर होता किन्तु सम्पूर्ण भाव-चित्र पूरे दोहे की व्यजना पर आधारित है।

कुडलिया मे लय अवरोह से आरोह की होती है। एक के बाद एक स्वर ऊँचा होता जाता है तथा अन्त मे बडे ओज के साथ अभीप्सित प्रभाव छोडता है। इस तरह की गति तथा लय के कारण कुडलिया छन्द वीर रस के वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त होता है। शिक्षाप्रद अन्योक्तियाँ भी कुडलिया द्वारा व्यक्त की गयी है। एक उदाहरण देखिये—

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महं मुच्छिअ मेच्छसरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर।
चलिअ वीर हम्मीर पा अभर मेइणि कंपइ।
दिग मग णह अंधार धूलि साह रह झंपइ।
दिग मग णह अंधार आण खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख, मारू, ढिल्ली मह ढोल्ला।

इस छन्द में कुछ शब्दो की पुनरावृत्ति होती है अत. वह पुनः पुनः अनुरणित होता है। कवित्त तथा सवैया मे शब्दो की पुनरावृत्ति तो नही होती पर सारा भाव हर पक्ति मे फैलता-फैलता अन्त की पक्ति मे बिलकुल केन्द्रित हो जाता है।

मुक्तको की पद शैली जिन्हे गीत-मुक्तक कहा गया है की रचना

प्रक्रिया अगीत या पाठ्य-पुस्तकों से भिन्न होती है। पदो मे टेक या ध्रुवक जोड़कर प्रचलित छन्द से थोड़ा भिन्न कर दिया जाता है। छन्दों के प्रयोग मे अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्दता बरती जाती है। इस तरह कभी-कभी छन्दोभंग हो जाता है। अपभ्रंश मे चर्याओ के लिए जो पद सज्ञा का प्रयोग हुआ है उसकी रचना-विधि हिन्दी पदो की रचना विधि से भिन्न है। उसमे अधिकतर दो-दो पक्तियो में तुक साम्य परिलक्षित है। टेक या ध्रुवक का प्रयोग नही है जैसे —

आलिएं कालिए बाट रुन्धेला।
ता देखि काह्नु विमन भइला ।।
काहु कहिं गइ करिब निवास।
जो मनगोअर सा उआस ।।

अपभ्रंश की सभी चरित-कृतियो मे सधि के प्रारम्भ मे ध्रुवक या ध्रुवा के प्रयोग की प्रथा मिलती है। संभव है इसी का विकसित रूप हिन्दी की पदशैली हो। अपभ्रंश मे दो छन्दो के मेल से नये छन्दों के गढ़ने की परम्परा चल पडी थी जो सूर आदि भक्त कवियो की पद शैली के रूप मे और भी पुष्ट हो गयी। दोहा के पहले दूसरे और तीसरे चौथे चरणो के बीच में दो मात्राओ की ध्वनि झल्कर विशेष लोच पैदा किया जाता था तथा उसे लयात्मक बनाया जाता था जैसे—

दीपक पीर न जानई (रे) पावक परत पतंग।
तन तो तिहि ज्वाला जर्‌यौ (पै) चित भयो रसभंग।[1]

सूरदास ने फाग का वर्णन करते हुए दोहा के दूसरे और चौथे चरणो मे ११ मात्राओं की एक पंक्ति और जोड दी है—

झुंडनि मिलि गावत चली हो, झूमक नन्द दुवार मनोरा झूम करो।
आजु परब हँसि खेलियै मिलि संग नन्द कुमार मनोरा झूम करो ।।[2]

चौबोला, चौपाई, चउपई को मिला जुलाकर भी प्रयोग किया गया है। सूरसागर मे चौपई या चौपाई के दो चरणों के बाद १२ या १३ मात्राओ की

१. सूरसागर–पद–३२५।
२ वही पद ३४८२

एक पंक्ति जोडकर तीन-तीन चरणो के समूहो का एक द्विपदी छद भी बनाया गया है । अंतिम मात्राओ की पंक्ति प्रत्येक छद मे दुहराई गई है जिससे नवीन वर्णन शृंखलाबद्ध बना रहता है—

पढ़ै पढ़ावै सुनै सुनावै
ते बैकुठ परम पद पावै
सरस रसहि फूल डोल
सूरदास कैसे करि गावै[३]

३. डा० ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास पृ०, ५७३ ।

मुक्तक काव्य का स्वरूपात्मक विकास

सांस्कृतिक तथ्यो की तरह प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ऋग्वेद मे साहित्यिक तत्वों का भी सार्थक अन्वेषण किया जाता है। वैदिक सहिताओ मे उच्चकोटि की कविता के दर्शन तो होते ही है उनमें आगे विकसित होनेवाले अनेक काव्य-रूपो के बीज भी विद्यमान दिखाई देते है। ऋग्वेदादि मे जो मन्त्र उपलब्ध है वे अनेक ऋषियों द्वारा (रचित) मंत्रो के संग्रह ही है। ये रचनाये पूर्वापर निरपेक्ष तथा अर्थाभिव्यक्ति में स्वत. पूर्ण है। कुछ सूक्तो मे अलकरण तथा कला की प्रधानता है। जिस तरह कुछ प्रसिद्ध या रोचक दृश्यो को लेकर मुक्तककार अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते है उसी तरह वैदिक ऋषियो ने किसी एक देवता को लेकर उसकी स्तुति तथा प्रमशा के गीत गाये।

वैदिक-मुक्तक काव्य :

वैदिक मुक्तको का कथ्य महाकाव्य की तरह अत्यन्त विस्तृत है। उसमे तत्कालीन जीवन के विविध पक्षो का उद्घाटन किया गया है।

वेदों मे सृष्टि रचना, प्रकृति, आत्मा और जीव का स्वरूप धर्म-नीति, चरित्र, सदाचार, परोपकार और मनुष्य के वास्तविक कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है साथ ही समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति, गणित, ज्योतिष, भूगोल, रसायन या मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण किया गया है। अथर्ववेद अन्नसिद्धि, बुद्धिवर्धन के उपाय, ब्रह्मचर्य, व्यापार, स्वास्थ्य आदि का विज्ञान है। यजुर्वेद में कर्म काण्डो की प्रधानता है। इसमें यज्ञो के विधि विधान के साथ ही राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिल्प, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित बातों पर भी प्रकाश डाला गया है। सामवेद ऋग्वेद के गेय मुक्तको का सग्रह है।

कोटि निर्धारण :

वैदिक मुक्तकों में श्रृंगार और वीररस की सहज निष्पत्ति हुई है। श्रृगार के आश्रय रूप मे सशरीरी भौतिक नारी को प्रत्यक्षत. चित्रित नही किया गया है और न तो प्रकृति को निर्जीव रूप रसोद्दीपन का कारण माना गया है। वास्तव मे उत्तरकालीन रस प्रक्रिया से वैदिक कालीन रस प्रक्रिया भिन्न है।

वैदिक ऋषियों ने ऐसी दिव्य, सार्वभौम, शाश्वत देवियों को अपने काव्य का आधार चुना जिनमे लौकिक नारी का सारा व्यक्तित्व सिमट जाता है। दिव्य नारियों की परिकल्पना वायवी नही है उसमे उदात्त कल्पना, सौन्दर्यांकन की अद्भुत चेष्टा परिलक्षित होती है। उषा के वर्णन मे श्रृंगारिकता का भाव निखर पड़ता है।

इन्द्र के द्वारा वृत्त वध की चर्चा बार-बार की गयी है। शत्रु की भयंकरता, व्यापकता आदि का चित्रण करते हुए इन्द्र की वीरता का जो आख्यान किया गया है साहित्य शास्त्रीय विभावानुभाव आदि प्रपंचो से मुक्त होता हुआ भी वीररस को व्यंजित करता है। पर्यजन्य और वायु के प्रसंग में वीररस की पुष्ट व्यंजना अधिक है। इस तरह के मुक्तक सूक्तो को रसात्मक मुक्तक काव्य की कोटि मे रखा जा सकता है। शेष मुक्तकों को रसहीन मुक्तक कहा जा सकता है। प्रचलित अर्थ मे तो वे रसहीन है परन्तु ऋषियों की दृष्टि में वे ज्ञान रस के अन्तर्गत मानने योग्य है। एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करते हुए कहता है :—

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।

मध्वा रजांसि सुक्रत (सामवेद, उ० १-२५ (१) पृ० १९९)

हे मित्र वरुणा हमारी इन्द्रियों के घर रूप देह (और मन) प्रकाश युक्त ज्ञान रस से सीचो और उत्तम रस से हमारे पारलौकिक स्थानो को भी सिंचित करो। वेद में ऐसे बहुत से कथन है जिन्हे सूक्ति काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमे उपदेशात्मकता तथा नैतिकता दोनों भाव धार्मिकता के धरातल पर संयुक्त हैं।

वैदिक ऋचाओ की यही धार्मिकता अनुभवों की गहराई के साथ दार्शनिकता मे बदलती गयी है। इस दृष्टि से वैदिक मुक्तको को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) दार्शनिक भाव के मुक्तक।
(२) धार्मिक भाव के मुक्तक।
(३) लौकिक भाव के मुक्तक।

(१) दार्शनिक मुक्तकों मे ब्रह्म, जगत्, सृष्टि-रचना, आदि विषयो पर विचार किया गया है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त, प्रजापतिसूक्त की कतिपय ऋचाएँ इसी कोटि की है। मोक्ष के उपाय भी दार्शनिक सूक्तों मे बताये गये है।

(२) धार्मिकता तथा भक्तिभाव से परिपूर्ण इन सूक्तो की रचना देवी-देवताओं की स्तुति के लिए की गयी है। देवी-देवताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के साथ-साथ उनसे ज्ञान, अन्न, जल आदि भौतिक सुख-सुविधाओं की याचना की गयी है। इन्ही स्तुत्यात्मक मुक्तको का परवर्ती विकास प्रशंसात्मक मुक्तको के रूप मे हुआ।

(३) भौतिक जीवन के अनेक पक्षों का चित्रण करते हुए ऋषियों की दृष्टि शुद्ध लौकिकता की भूमि पर विचरण करने लगती है। मानवीय पुरुषार्थों मे मोक्ष को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए भी उन्हे इसका कटु अनुभव था कि जो व्यक्ति लौकिक जीवन को सज्जनोचित एवं कुशलता से व्यतीत नहीं कर सकता वह अलौकिक जीवन को सुश्रेष्ठ बनाने का यत्न कैसे कर सकता है। धन-धान्य तथा बाह्य आडम्बर पर आकर्षित होनेवाली स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए वह वैवाहिक संस्कार के प्रति सतर्कता की चेतावनी देता है।[1]

साहित्यिक गौरव :

वेदो के संकलन की मूल दृष्टि धार्मिक है। परन्तु सभी मुक्तक यज्ञ या धार्मिक परम्परा से ही सम्बद्ध नही हैं। बहुत से मुक्तक न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये हैं, न अग्निदेव को, न आकाशदेव को, न वायुदेवो तथा जलदेवों को, न ऊषा देवी को ये सूक्त अर्पित किये गये हैं किन्तु स्वयं प्रकाशमान सूर्य रात्रि के आकाश में चमकता हुआ चन्द्र, वेदी या चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटें अथवा मेघो के मध्य से फूटनेवाली बिजली की दीप्ति दिन का निर्मल आकाश अथवा रात्रि का नक्षत्रों से भरा हुआ आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघो अथवा नदियो मे प्रवाहित होता हुआ जल, प्रकाशमयी उषा और विस्तीर्ण फलवती भूमि इन समस्त प्राकृतिक दृश्यों का कवित्तमय वर्णन किया गया है, पूजा की गयी है प्राथनायें की गयी है।[2]

इन प्राकृतिक वर्णनो को दैवत्य प्रदान करते हुए भी मानवीय धरातल पर रखा गया है। उनके शारीरिक अंग आलंकारिक निदर्शन के सिवाय कुछ भी नहीं है। इसके द्वारा उनकी प्राकृतिक प्रक्रिया का ही प्रतिनिधित्व होता है।

---

१ कियती योषा मर्यतो वध्यो. परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा धूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयंसा मित्रं वनुते जनेचित्॥

२ डॉ० रामशंकर त्रिपाठी भारतीय मुक्तक पृ० १३

सूर्य की भुजाएँ किरणो का और अग्नि की जीभ और बाहे उसकी लपटों का ही मानवीयकरण है। मनुष्य का प्रिय भोजन ही देवो का प्रिय भोजन है।

काव्य प्रयोजन की दृष्टि से वैदिक काव्य को न तो शुद्ध रूप से मनोरंजनार्थ रचित कहा जा सकता है और न ज्ञानार्थ। उसमे मनोरंजन, ज्ञान जिज्ञासा, आनन्द आदि की समन्वित भावनाएँ विद्यमान हैं। इन सब के ऊपर अथ से इति तक सम्पूर्ण मानवीय सृष्टि के कल्याण की कामना प्रतिष्ठित की गयी है। भौतिक सुख सुविधाओं की कामना करने वाले वैदिक कवियों के मन मे प्रकृति और मानव के शाश्वत सम्बन्धों की कल्पना सुदृढ़ थी। यही कारण है कि प्रकृति अपने विभिन्न क्रिया-कलापो के साथ अपने साकार रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। यद्यपि इस काल में काव्य के कोई लक्षण या प्रयोजन निर्धारित नहीं किये गये थे। उत्कृष्ट अनुभवों की सहज अभिव्यक्ति मे काव्य गुण स्वतः ही समाहित हो गये हैं। डॉ० रामसागर त्रिपाठी का विचार है 'जिस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में ऋग्वेद एक बड़ी सी मनोरम तथा महत्त्वपूर्ण रचना है उसी प्रकार साहित्य के दूसरे क्षेत्रों मे भी इसका महत्त्व कम नहीं है चाहे अविवक्षित वाच्य हो चाहे विवक्षितान्यपर वाच्य के रस-ध्वनि भाव-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि मे कोई भेद हो, चाहे शब्द शक्ति-मूलक ध्वनि हो हमे ऋग्वेद में प्रत्येक के उदाहरण बड़ी ही सुगमता से प्राप्त हो जायेंगे। ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियों का भण्डार है।'[1] यज्ञ-कर्त्ता ऋषिजन वैदिक मंत्रो का सस्वर गायन करता रहा होगा तो सोमपान की मस्ती के साथ संगीत लहरी से सारे श्रोतागण झूम जाते रहे होगे। यह विभोर कर देने वाला आनन्द किसी अन्य लौकिक काव्य के श्रवण या पाठ से होनेवाले आनन्द से कम नही है।

श्रृंगाररस का उत्कृष्ट रूप उषा की उदात्त तथा रागरंजित कल्पना मे मिलता है। तेजस्वी रथ पर चढ़ी हुई, सर्वव्यापिनी, यज्ञों में उत्तम प्रकार से पूजनीय, अरुण वर्णवली, सूर्य के पहले आनेवाली उषा की ऋत्विगण स्तोत्रो से स्तुति करते हैं। दर्शनीय रूप वाली उषा सोते हुए आदमियो को चैतन्य करती है और मार्गों को दिखाती हुई विस्तृत रथ पर चढ़कर सूर्य के आगे-आगे चलती है। लाल किरणो मे संयोग करती हुई उषा सुख से जाने के लिए मार्गों को चमकाती है।······वह नित्य प्रति सूर्य का अनुगमन करती हुई दिशाओं को मापती है।······स्नान करके सुन्दर अलंकारो में सजी हुई रमणी के समान

१—डॉ० रामसागर त्रिपाठी : भारतीय मुक्तक परम्परा, पृ० १३।

अपने रूप दिखाती हुई उषा प्राची मे प्रकट होती है।[1] आगे उषा को सूर्य की पुत्री तथा नित्य तरुणी कहा गया है।

गेय तत्व :

वैदिक मत्रो का ऊँचे स्वर मे गायन किया जाता था। आन्तरिक विधान अर्थात् भाव-प्रवणता मे कोई विशेष अन्तर न होने के कारण इनमे मुक्तक काव्य तथा गीतिकाव्य जैसा कोई स्पष्ट विभाजन नही किया जा सकता है। पहले भी इस बात की ओर सकेत किया चुका है कि वैदिक काल मे काव्य-रूपो की समन्वित स्थिति थी। उनके बीच के विभेदक तत्वो का स्पष्ट विकास नही हुआ था। गेयता का रूप गानेवाले के राग तथा शैली के अनुसार बदलता रहता था। पतंजलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में कहा है "सहस्रवर्त्मा सामवेदः" सामगान के हजारो भेद हैं। गायक प्रवीण होने के बाद गायन का अपना नया ढग तैयार कर लेता था। इस सामगान की पद्धति मे और आधुनिक पद्धति मे थोड़ा सा अन्तर है, सामगान के स्वर को ऊँचे आलाप से शुरू करके उसे धीरे-धीरे नीचे आलाप पर लाया जाता है उसके कारण मन को शान्ति मिलती है और भड़का हुआ मन सामगान को सुनकर शान्त हो जाता है।······आधुनिक पद्धति के गाने मे ऊँचे और नीचे तानो के मिश्रण होने के कारण उस गाने से मन शान्त होने के बजाय और अधिक विकारवश हो जाता है।[2]

पालि-मुक्तक काव्य—भाषिक विकास की दृष्टि से पालि संस्कृत के बाद विकसित हुई किन्तु पालि साहित्य का विकास बहुत कुछ संस्कृत साहित्य के विकास के समानान्तर हुआ। मुक्तक काव्य को जब हम अन्य साहित्यिक विधाओं से अलग करके देखते हैं तो यह कालक्रम की दृष्टि से संस्कृत मुक्तक काव्यों के पूर्व का सिद्ध होता है। अपनी विशिष्ट रचना प्रक्रिया तथा कुछ मौलिक दृष्टिकोण के कारण पालि मुक्तक रचनाएँ संस्कृत रचनाओं से काफी भिन्न हैं। पालि मुक्तकों का रचना उद्देश्य, शिल्प विधान, भाषिक आदर्श बहुत कुछ वैदिक मुक्तको के समान ही है। इस दृष्टि से भी इन मुक्तको को विकास परम्परा मे द्वितीय स्थान पर रखकर मूल्याकित किया गया है।

१—ऋग्वेद, मण्डल ५, अध्याय ४, सूक्त ८०।

२—ब्रह्मर्षि श्रीपाददामोदर सातबलेकर · सामवेद-भूमिका- प ०४।

कथ्य :

वैदिक मुक्तको का कथ्य अत्यन्त विस्तृत था। उसमें ज्ञान-विज्ञान संबंधी तथ्य भी समाहित हो गये थे। सभी प्रकार के सांस्कृतिक तत्त्वो की अभिव्यक्ति वेदों में बडी कुशलता से की गयी थी। जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है कि इन सब के ऊपर धार्मिकता की भावना हावी थी। यही धार्मिक भावना ही उपलब्ध पालि मुक्तको की मूल प्रेरक शक्ति मानी जा सकती है। पालि साहित्य के विकास तथा ह्रास दोनो का ही कारण धर्म मे विशेष दखल देना ही है। वास्तव में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का वर्णन ही इन मुक्तकों का मूल विषय है। यदि बौद्ध साहित्य तथा पालि साहित्य दोनो को पर्याय माना जाय तो असंगत न होगा।

वर्गीकरण :

पालि मुक्तकों का मूल स्वर धर्मपरक है इसलिए उन्हे धार्मिक मुक्तक की कोटि मे रखा जा सकता है। रस की दृष्टि से विचार करने पर ऐसे धर्म सापेक्ष काव्यो मे यह निर्णय कर पाना कठिन होता है कि इनमें कौन सा रस प्रधान है। उपलब्ध मुक्तको मे बहुत कम ऐसे चित्रण मिलते है जो कि सीधे सासारिक या लोक जीवन के सुख विलासो से सम्बन्धित हों। बौद्ध धर्म मे भिक्षु और भिक्षुणुओ के लिए आचार सम्बन्धी कठोर नियम थे। संगीत, चांदनी रात, बसन्त सेवन आदि तो उनके लिए वर्ज्य थे। इससे शृंगार चित्रण के लिए सारी ही सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। युद्ध वर्णन का कोई प्रसग ही नहीं है। क्षात्र धर्म की महत्ता अवश्य ही स्वीकारी गयी है लेकिन उसे दानवीर का उदाहरण नही माना जा सकता। अधिकाश कृतियो मे शान्तरस की व्यजना होती है। शुद्ध रूप से शान्त रस को व्यजित करने वाले स्थल भी कम ही हैं। अधिकतर स्थल उपदेशात्मक है। थेर और थेरी गाथा मे भिक्षु और भिक्षुणुओं के आत्म उद्गार है। उनके प्रारंभिक जीवन के सुख वैभव तथा पारिवारिक सम्बन्धो की स्मृति आदि मे कही-कही करुण रस तथा शृंगार रस का आभास मिलता है। वैसे ये लोग त्यागमय जीवन को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं जिसमें शान्त रस ही है। शृंगार की किंचित झलक आते ही ये उस पर वीभत्स भाव को आरोपित कर देते हैं ताकि इन्हे त्यागमय जीवन बिताने की प्रेरणा मिल सके। संसार की कठोर यातनाओं तथा कर्मो की अनित्यता देखकर भिक्षुओ ने संसार से वैराग्य लिया। चित्त की शान्ति ही उनकी

असीप्सित वस्तु है जीवन के प्रति न लालसा है न लगाव। वे तो जीवन और मरण का समान रूप मे अभिनन्दन करते हैं :—

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकंखामि सम्पजानो पतिस्सतो ॥[1]

एक तरफ भिक्षुओं ने अलंकृता, सुन्दर वस्त्रों से युक्त, मालाधारणी, चन्दन से लिप्त नर्तकी को नृत्य करते देखा तो दूसरी तरफ श्मसान में स्त्री के सड़ते हुए शरीर को कृमि आदि से खाये जाते हुए देखकर स्थविर कुल ने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की :—

अलंकृता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा।
मज्झे महापथं नारी तुरिये नच्चति नट्टकोथा
... ...
ततो में मन सीकारो ततो चित्तं विमुच्चि में गाथा।

उपर्युक्त मुक्तकों में किसी न किसी भाव तथा मन स्थिति का चित्रण है अतः इन्हें रस-भाव युक्त सरस मुक्तको की कोटि में रखा जा सकता है।

प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण :

पालि मुक्तकों में आदि मे अन्त तक उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह उपदेश भावना आत्म प्रबोधन और सिद्धान्त निरूपण दोनो रूपों मे व्यक्त होती है। इन मुक्तकों की प्रवृत्ति का विश्लेपण करके इन्हें निम्नलिखित कोटियो में रखा जा सकता है :—

(१) नीतिपरक मुक्तक :

इस वर्ग मे उन मुक्तको को सम्मिलित किया जा सकता है जो कि धार्मिक नीति से संबधित है। सुभाषित के रूप मे कुछ तत्त्व करीब-करीब सभी धर्मों में मान्य होते हैं। सत्य भाषण, अहिंसा, दान महिमा, अप्रमाद, क्रोध न करना आदि ऐसी बाते है जो धर्म साधना तथा समाज व्यवस्था दोनो के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। "धम्मपद" मे आये बहुत से मुक्तक इसी प्रकार के है।

(२) वैराग्यपरक मुक्तक :

बुद्ध धर्म मे सन्यास तथा विरक्तिपूर्ण जीवन का बड़ा महत्व माना गया है। सासारिकता मे आसक्ति ही अनेक पापो तथा दुःखों की उत्पत्ति का कारण

१—वायु थेरगाथा-थेरीगाथा, गाथा, १९६।

है। इन्द्रिय संयम करने तथा राग-द्वेष छोड़कर काषाय धारण करने का वर्णन अनेक गाथाओं मे मिलता है।

आचारपरक मुक्तक :

आचारपरक गाथाओं में दो प्रकार के निर्देश है। एक तो भिक्षुओ के आचार से सम्बन्धित हैं जिनमें अपेक्षाकृत अधिक दुरूहता है। 'विनयपिटक' तथा 'सुत्तपिटक' मे संघ जीवन, भिक्षुओं के निवास, वस्त्र, औषधि तथा नित्य प्रति के आचरण संबंधी जो वर्णन हैं वे सब आचारपरक हैं। दूसरे प्रकार के चित्रणों में ऐसी गाथायें सम्मिलित हैं जिनमें सामान्य गृहस्थों को आचरण के उपदेश दिये गये हैं।

दार्शनिक मुक्तक

धर्म की शुरुआत चाहे जितने ऋजु मार्ग से हो किन्तु आगे चलकर वह अन्य धर्मों तथा दर्शनों की प्रतिस्पर्धा तथा होड़ मे आकर दार्शनिक तत्त्वो से टकराने लगता है। उसके अनुगामियो को प्रचलित दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर तो देना ही पडता है। फिर अपनी मौलिक मान्यताओ की विवेचना करनी होती है। बौद्धधर्म के साथ भी बहुत कुछ ऐसा ही घटित हुआ। इस तरह की गाथाएँ पूरे पालि साहित्य मे सर्वत्र व्याप्त है किन्तु 'अभिधम्मपिटक' इस तरह के मुक्तको का सर्वप्रमुख संग्रह है।

मूल्यांकन—पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि पालि-मुक्तक अधिकतर धार्मिक तथा उपदेशात्मक है। इस मूल प्रवृत्ति के बावजूद उसमे पर्याप्त साहित्यिक गरिमा आ गयी है। उपदेश देकर अपने मंतव्य को संप्रेषित करना भी एक कला है जिसमें काफ़ी मनोवैज्ञानिक सतर्कता की जरूरत पडती है। इस विषय में भीड़ मनोविज्ञान, जनरुचि आदि चीजे विशेष ध्यातव्य होती है। भगवान् बुद्ध इस कला मे विशेष पारगत थे। वह एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश देते थे। पहले वे इस बात का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे कि जो व्यक्ति उनके दर्शनार्थ आया है वह किस स्तर का है तथा किस व्यवसाय से सबंधित है। वह सिपाही है या राजा है या परिव्राजक। फिर बुद्ध भगवान् उसी के परिचित जीवन से उपमाएँ चुनते थे। किसी बात को ग्राह्य बनाने के लिए उसी का बार-बार कथन किया गया है जो साहित्य की दृष्टि से अनुचित होते हुए भी धार्मिक तत्त्वो को बोधगम्य बनाने के लिए अनिवार्य था। बुद्ध के साथ हुए गृहस्थ श्रमण आदि के संवाद भी सुन्दर बन पड़े हैं। 'सुत्त-निपात'

मे गृहस्थ गोप तथा बुद्ध दोनों के सवाद भाषिक एकरूपता पर आधारित है 'छन्ना कुटि' का 'उत्तर' 'विवतावुटि' 'सुन्दर तरुणी' का उत्तर 'सुन्दर तरणि से दिया गया है। 'थेरगाथा' मे प्रकृति का मनोरम चित्रण मिलता है जो कि किसी लौकिक कवि के द्वारा चित्रित प्राकृतिक सुषमा से किसी भी रूप में कम नहीं है :—

नदन्तिमोरा सुसिखा सुपेखुणा,
सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो।
सुसद्दला चा पि महामही अयं,
सुब्यापतम्बु सुवलाहकं नभं ॥[1]

वर्षा ऋतु का कैसा सुन्दर वर्णन है। इसी तरह बहती हुई नदी का रमणीय रूप में एक थेर रमने लगता है। पद शैली की तरह कई पदों में उसी भाव की पुनरावृत्ति होती जाती है। अनेक पदों का अन्त तथा नदी अजकरणी रमेति मं[2] से होता है। पालि मुक्तको मे प्रयुक्त भाषा अत्यन्त सहज तथा सरल है। संस्कृत की तरह उसमें लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग नहीं है।

पालि मुक्तको मे अधिकतर गाथा छन्द का प्रयोग है। यह गाथा छन्द प्राकृत मुक्तकों में प्रयुक्त मात्रिक गाथा नहीं है। यह मूलतः अनुष्टुप् या अनुष्टुप वर्ग का वर्णिक छन्द ही है। अधिकतर गाथायें ८, ८ वर्णों की है जो कि अनुष्टुप छन्द का लक्षण है। विद्वानों ने बाद में विकसित होनेवाले मात्रिक गाथा छन्द का जन्म द्राविड़ सपर्क से माना है। पंक्ति, जगती, त्रिष्टुप आदि अन्य छन्दों का प्रयोग भी पालि मुक्तकों मे किया गया है ;[3]

गीति-तत्त्व

यद्यपि बौद्ध संघ में संगीतादि का श्रवण वर्जनीय था फिर भी कुछ उद्गारों मे प्रगीतात्मक तत्त्व आ गये हैं। विशेपकर 'थेर और थेरीगाथा' में ये तत्त्व स्पष्ट लक्षित होते हैं। 'थेर तथा थेरीगाथा' में कहीं-कहीं वैयक्तिक भावना प्रबल हो गयी है। अहं शब्द के प्रयोग से पाठकों का भाव उनके भाव के साथ

---

१. थेरगाथा, पृ० २७७
२. थेरगाथा (सम्यक थेरगाथा) पृ० २६० ।
३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् (भाषा शास्त्रीय तथा छन्द-शास्त्रीय अध्ययन) पृ० ४१२ ।

सरलता से जुड जाता है। ऐसा लगता है कि कोई अपनी दुख-दर्द की कहानी सुना रहा हो—

> दुग्गताहं पुरे आसिं, विधवा च अपुत्तिका।
> विना मित्तेहि आतीहि, भत्तचोलस्स नाधिगं ॥[1]
> उच्चे कुले अहं जाता, बहुवित्ते महद्धने
> वण्णरूपेन सम्पन्ना, धीता मज्झस्स अत्रजा ॥[2]

प्रकृति के साथ अपने भावों को जोडकर एक शब्द की बार-बार आवृत्ति करता हुआ एक थेर गाता है। उसे कितना संतोष है तथा कितनी शान्ति है। उसका चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है। वह कामासक्ति से वियुक्त है। वह अपनी छायी हुई कुटिया मे सुख अनुभव करता है। उधर देव के सुन्दर गीत की तरह बरसता है और इधर उसकी भावना बरसती है :—

> छन्ना में कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।
> चित्तं में समाहितं विमुत्तं आतापो विहरामि वस्स देवा,
> वस्सति देवो यथा सुगीतं छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता,
> तस्सं विहरामि वूप सन्तो, अथ चे पत्थयसि पवस्स देव ॥[3]
>
> —गाथा

संस्कृत मुक्तक—संस्कृत वाङ्मय भाषा तथा साहित्य दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट है। यहाँ तक साहित्य के विविध रूपों नाटक, गद्य, महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि का स्वतन्त्र विकास हो गया। यह साहित्यिक विविधता विकास परम्परा में संस्कृत की अपनी मौलिकता सिद्ध हुई। संस्कृत साहित्य ऋषिओं तथा महात्माओं की वाणी मात्र न रहकर शुद्ध लौकिक धरातल पर उतर कर प्रतिभा संपन्न कवियों के हाथों से राजाओ महाराजाओं के आश्रय मे पुष्पित तथा पल्लवित हुआ। वैदिक ऋषि तथा बौद्ध भिक्षु अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण सामान्य मानवीय जीवन के स्पन्दनों को महसूस न कर सके थे। अप्रत्यक्ष रूप से जो लौकिक भाव आये है वे अनादृत होने के कारण बहुत सहमे तथा दबे से है।

संस्कृत मुक्तक काव्य उपदेशात्मक तथा नीरस कथनों का संग्रह मात्र नही है, बल्कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभवों तथा भावो की सरस अभिव्यक्ति है जिसमे

---

१. थेरीगाथा, (चन्दा थेरी) पृ० ४२१।
२. थेरीगाथा, (सोणा थेरी) पृ० ४२३।
३. थेरगाथा-गाथाएँ ३२५-२६।

कलात्मक कसावट है तथा हृदय और बुद्धि दोनों को झंकृत करने की शक्ति है।

कथ्य—संस्कृत मुक्तक काव्यों का कथ्य पर्याप्त संकुचित हो गया है। वर्ण्य का विस्तार तथा विविधता महाकाव्यों के हिस्से मे पड़ी। मुक्तकों को शृंगार चित्रण तथा धार्मिक कथन की सीमा तक आबद्ध रखा गया। नायिका के विविध हाव-भाव, मिलन वियोग का चित्रण ही इन शृंगारी मुक्तकों के मुख्य विषय हैं। 'अमरुशतक', 'चौरपचाशिका', 'आर्यासप्तशती', 'मेघदूत' आदि ऐसे ही मुक्तक काव्य हैं। अति शृंगारिकता से ऊबकर कुछ कवियों ने वैराग्य का भी वर्णन किया जिसमे सांसारिक नश्वरता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। भर्तृहरि का 'वैराग्यशतक' ऐसा ही मुक्तक काव्य है किन्तु वैराग्य में भी अंकुठित जीवन यापन की इच्छा इन कवियों में बलवती है। भक्तिपरक मुक्तक जिन्हें कि संस्कृत साहित्य में स्तोत्र काव्य के नाम से वर्गीकृत किया जाता है किसी न किसी देवता या इष्टदेव की महिमा मे गाये गये हैं।

वर्गीकरण :

संस्कृत-मुक्तक-काव्य कथ्य के क्षेत्र मे यदि संकुचित हुआ तो कला के क्षेत्र मे गीतिकाव्य, खण्डकाव्य और प्रबन्धकाव्य के कुछ तत्त्वों को समाहित करके विस्तृत हो गया। कुछ मुक्तको मे प्रबन्धात्मकता आ जाने की वजह से उनका ऊपरी प्रारूप प्रबन्ध सा दीखने लगा। वास्तव मे ऐसे मुक्तक भावो के आधार पर एक बिलकुल हल्के कथा सूत्र के द्वारा एक दूसरे से पिरो दिये गये हैं। यह कथा तत्त्व इतना हल्का तथा नगण्य है कि अन्य मुक्तकों की प्रसंग कल्पना से अधिक इसका महत्त्व नहीं है। अत. ये भी मुक्तक काव्य ही हैं प्रबन्ध या खण्डकाव्य नहीं। इसी प्रबंधात्मक तत्त्व को ध्यान मे रखकर संस्कृत मुक्तकों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

१—प्रबन्धात्मक मुक्तक।

२—अप्रबन्धात्मक मुक्तक।

(१) प्रबन्धात्मक मुक्तक के अन्तर्गत 'मेघदूत,' 'शीलदूत' (चरित्र सुन्दर गणि) 'हंसदूत' (वेकटनाथ) 'गीति-गोविन्द' आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इन दूत काव्यों मे एक छोटी सी कथा का बहाना लेकर विरह का चित्रण किया गया है।

(२) अप्रबन्धात्मक मुक्तक के अन्तर्गत 'आर्यासप्तशती'. 'नीतिशतक'

'वैराग्यशतक', 'शृंगारशतक', 'अमरुशतक', 'चौर-पंचाशिका', 'भामिनी-विलास' आदि को सम्मलित किया जा सकता है।

रस दृष्टि से संस्कृत मुक्तक काव्यों का विभाजन अत्यन्त सार्थक है क्योंकि रस-योजना संस्कृत मुक्तककारों को विशेष रूप से अभिप्रेत थी। अधिकतर मुक्तक सरस मुक्तकों की कोटि में रखने योग्य हैं। दूत काव्य, 'गीति-गोविन्द' आदि में शृंगाररस का उत्कृष्ट परिपाक है। 'मेघदूत' वस्तुतः विरह-पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अभिव्यक्त हो रही है। भर्तृहरि का 'शृंगारशतक', 'अमरुशतक', 'चौरपचाशिका' मे नायिका के विविध हावों, भावों का बड़ा मार्मिक तथा सूक्ष्म चित्रण है। 'वैराग्यशतक' तथा स्तोत्र काव्य में यत्र-तत्र शान्तरस को व्यंजित करने का सराहनीय प्रयास किया गया है। प्रेम-भाव के चित्रण में प्राकृतिक दृश्यों को समाहित कर लिया गया है। 'ऋतुसंहार' मे तो शुद्ध प्रकृति चित्रण है।

'हितोपदेश' में प्राप्त उपदेशात्मक मुक्तक, 'नीतिशतक', 'चाणक्यनीति', 'राजनीति समुच्चय' आदि शुद्ध उपदेशात्मक तथा नीतिपरक हैं।

प्रवृत्ति के आधार :

वैसे तो संस्कृत मुक्तकों की मूल प्रवृत्ति का आभास अब तक के विवेचन से बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है लेकिन सारी प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद मुक्तकों के अनेक वर्ग निर्धारित किये जा सकते है तथा विभिन्न दृष्टियों से उनके प्रारूप की स्थापना की जा सकती है :—

१—शृंगारिक मुक्तक।

२—भक्तिपरक मुक्तक।

३—उपदेशात्मक मुक्तक।

(क) लोक जीवन से सम्बन्धित उपदेश

(ख) वैराग्यपरक उपदेश।

४—धार्मिक मुक्तक।

५—नीतिपरक मुक्तक।

१—शृंगारिक मुक्तक :

संस्कृत के रस-भाव युक्त मुक्तकों में शृंगारिक मुक्तकों का प्राधान्य है। शृंगाररस को रस-राजत्व की गद्दी पर प्रतिष्ठित किया गया है। कालिदास

अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य आदि मुक्तककारो ने इस धारणा को ध्वस्त कर दिया कि नाटकों और प्रबन्ध-काव्यों के द्वारा ही सही रस चर्वणा करायी जा सकती है। इन कवियो ने एक-एक छन्द मे उन सारे भावों को प्रतिष्ठित तथा घनीभूत कर दिया जो कि प्रबन्धादि मे बिखरे रहते है। कालिदास का 'मेघदूत' धनपति कुबेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। अमरु ने अपने मुक्तकों मे प्रणय की विविध स्थितियों का अंकन बडी कुशलता से किया है। मुक्तकों मे उन्होंने अधिकतर विप्रलंभ-शृंगार का ही चित्रण हुआ है विप्रलंभ में भी मान विप्रलंभ का। चौरपंचाशिका में कवि ने प्रियतमा की अनेक भंगिमाओ का स्मरण किया है। विचारो मे पर्याप्त वैचित्र्य होने के कारण हर उक्ति नवीन है। शृंगारशतक में कवि भर्तृहरि शृंगार के चटकीले चित्रण मे नही चूकते। वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखते हैं। वैसे तो सम्पूर्ण शृंगारी मुक्तकों में स्वस्थ शृंगार ही मिलता है किन्तु 'आर्या सप्तशती' जैसे कुछ ग्रंथों मे कही-कही सदाचार की मर्यादा का उल्लंघन पाया जाता है। उसमे कहीं पुष्पवती नायिका के सहवास का चित्रण है तो कहीं देवर भावज की प्रेम-क्रीड़ा की व्यंजना है। इसमे नग्न नायिका के अंगो का अश्लील चित्रण किया गया है। प्रियतमा के चरण प्रहार का वर्णन करना तो कवि के लिए सामान्य सी बात है।[१]

२—भक्तिपरक मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तकों में इष्टदेव की स्तुति के साथ-साथ उनके अनुपम सौन्दर्य के चित्र अंकित किये गये है। राम, कृष्ण, शिव, सूर्य, गंगा यमुना, बुद्ध, जिन आदि मे से कोई एक या अनेक कवियों की अपनी रुचि तथा विश्वास के आधार पर स्वीकृत हुए है। इन मुक्तकों में ईश्वर-रति को भावनात्मक आवेग के साथ वर्णित किया गया है। मन को भगवत्-भक्ति में तल्लीन करने के लिए सासारिक विराग तथा इन्द्रिय निग्रह पर जोर दिया गया है।

३—उपदेशात्मक मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तको मे मूल्यवान अनुभवो तथा उपयोगी विचारो को सामान्य जनो तक सम्प्रेषित करने की चेष्टा की गयी है। ये उपदेश इहलौकिक

१—आर्या सप्तशती (आर्या १८०, १८४, १८८. २२५ ६८८।

जीवन यापन मे तो सहायक सिद्ध हो सकते है और पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराने में भी समर्थ है। भर्तृहरि का नीतिशतक तथा हितोपदेश मे आये मुक्तक छन्द इसके उदाहरण है।

४—धार्मिक मुक्तक :

धार्मिक मुक्तक भी बहुत कुछ भक्तिपरक मुक्तकों के समान ही है लेकिन भक्ति में यदि भाव की प्रधानता रहती है तो धर्म मे वर्जनीयता, अवर्जनीयता तथा लौकिक नैतिकता पर बल दिया जाता है। जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैष्णव धर्म, शैवधर्म आदि मे प्रभावित मुक्तकों मे कवियो की विशेष प्रकार की धार्मिक दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ जाती हैं। प्राय. धर्मपरक तथा भक्ति-परक मुक्तकों की मिली-जुली स्थिति ही मिलती है।

५—नीतिपरक मुक्तक :

संस्कृत-मुक्तक-काव्य मे नीतिपरक मुक्तकों का पर्याप्त विस्तार मिलता है। गद्यमयी भाषा मे लेखन के स्तर पर दण्डनीति, राजनीति, युद्धनीति आदि को व्यक्त करने के बजाय जो संदेश मुक्तकों के माध्यम से दिये गये बहुत ही सरल तथा सदा स्मरणीय होने के कारण काफी लोकप्रिय हुए। काव्य के मान्य तथा महनीय प्रयोजनो मे कान्ता-सम्मित उपदेश भी अन्यतम है। मनोरंजन के साथ शिक्षण, हृदयावर्जन के साथ तत्त्व का उपदेश यदि काव्य नही करता तो पाठको का वास्तविक आकर्षण नहीं हो सकता। संस्कृत के कवियो ने इस काव्य तत्त्व के मर्म को खूब ही पहिचाना है और इसलिए उन्होंने उपदेशपरक या नीति विषयक काव्यों का प्रचुर प्रणयन किया है।[1]

मूल्यांकन :

संस्कृत मुक्तक काव्यों की मूल्य सम्बन्धी चर्चा करने के पूर्व उन दो नयी परिस्थितियों की जिक्र कर देना आवश्यक है जिनसे संस्कृत मुक्तक-काव्य विशेष रूप से प्रभावित हुआ :—

(१) प्राचीन भारत में अन्य शास्त्रों के साथ कामशास्त्र का उदय हुआ। इससे अमरुक आदि शृंगारी कवि अवश्य ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से

१—बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६६।

प्रभावित हुए जैसा कि आचार्यों ने 'अमरुकशतक' जैसे मुक्तक काव्यों को नायिका भेद के रूप में व्याख्यायित किया है। उस समय के साहित्य शास्त्र ने भी कामशास्त्र से काफी प्रेरणा ग्रहण की।

(२) महान् साम्राज्यो के उदय के साथ महान् नगरियों का आविर्भाव हुआ। राजाओ तथा महाराजाओ के जीवन में काव्य विमर्श भी एक मनोरंजन का साधन बना। सारा जीवन आभिजात्य तथा संस्कृत हो गया। इससे साहित्य का परिवेश बदलने लगा। मुक्तकों पर भी इसका कुछ कम प्रभाव नही हुआ। संस्कृत मुक्तको मे भाव प्रवणता तथा कलात्मकता दोनो ऐसे घुल-मिल गये हैं कि यह निर्णय करना कठिन हो गया कि संस्कृत मुक्तकों को गीतिपरक-मुक्तक या गीतिकाव्य की कोटि में रखा जाय कि शुद्ध कलात्मक, वैचित्र्यपूर्ण मुक्तक की कोटि में। अधिकांश इतिहासकारों ने उन्हे गीतिकाव्य की कोटि मे रखकर मूल्यांकित करने का प्रयास किया है। विदेशी इतिहासकार ए० बी० कीथ आदि के संबंध में तो यह तर्क दिया जा सकता है कि उनके यहाँ चूंकि मुक्तक काव्य जैसा कोई काव्य रूप नहीं था इसलिए उन्होंने संस्कृत मुक्तको को लिरिक के अन्तर्गत रखकर ही विवेचित किया किन्तु बलदेव उपाध्याय जैसे भारतीय विद्वानो ने भी इन्हें गीति काव्य के अन्तर्गत माना। आचार्य आनन्दवर्धन ने अमरुक के एक-एक श्लोक को सौ-सौ प्रबन्धो के बराबर कहकर उसके कलागत एवं भावगत उत्कर्ष को उद्घाटित किया है। कला का प्रभाव भक्तिपरक भावों की अभिव्यक्ति मे भी बढ़ता गया है। यही कारण है कि 'गीत-गोविन्द' 'गंगा-लहरी' आदि भक्ति-भावमय काव्यो के संबंध में यह संदेह होने लगता है कि इन कवियों का उद्देश्य शुद्धरूप से भावाभिव्यक्ति है कि अपनी काव्य प्रतिभा का दिग्दर्शन।

इन कवियो द्वारा प्रयुक्त भाषा अधिक सजी तथा निखरी हुई है। यथा-स्थान सामासिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उक्ति-वैचित्र, नाटकीयता, शब्द-वैचित्र आदि इनकी अन्यतम विशेषतायें हैं। भावमय संगीतात्मक स्थलों पर भाषा के प्रवाह तथा गतिमयता पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है।

मुक्तककारों ने अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। उपमा, रुपक, अन्योक्ति, विशेषोक्ति, निदर्शना, उत्प्रेक्षा आदि उसके प्रिय अलंकार हैं। 'भामिनीविलास' में ही इन समस्त अलंकारो के प्रयोग की कला को देखा जा सकता है। इनमें अलंकरण की प्रक्रिया प्रचलित परिपाटी पर ही निर्भर है।

अपह्नुति, असंगति आदि अलंकारो का उपयोग केवल उक्तिवैचित्र तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही हुआ है।

प्राकृत-मुक्तक काव्य—प्राकृत मुक्तको की रचना ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से ही होने लगी थी। प्राकृत का प्रयोग और विकास बहुत कुछ जैन धर्म के साथ संबंधित है। जिस प्रकार पालि के माध्यम से बौद्धों ने अपनी धार्मिक भावनाओ तथा मान्यताओं को जनता तक संप्रेषित करने का प्रयास किया उसी तरह जैन धर्म के अनुयायिओ ने प्राकृत को अपनी धार्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम चुना। ईसवी सन् के पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी तक प्राकृत काव्य जैनियों के द्वारा समृद्ध तथा विकसित गया गया। लगभग इसी काल में लौकिक कवियों ने प्राकृत में सरस काव्यो की रचना की। 'गाथासप्तशती', तथा 'वज्जालग्ग' प्राकृत मुक्तक काव्य की प्रवृत्तियों को सदर्शित करने वाले दो उपलब्ध काव्य संग्रह है। इन मुक्तक संग्रहो मे अनेक कवियों की मुक्तक रचनायें संग्रहीत की गयी है जिनका समय छठी शती तक माना जाता है। प्राकृत मुक्तको मे धर्म तथा लोक जीवन दोनो को काव्य का विषय बनाया गया है। जैन-धर्म संबंधी ग्रथों में जो मुक्तक अंश उपलब्ध हैं वे धार्मिक कट्टरता से संयुक्त न होते हुए भी जैन-धर्म की महत्ता को ही व्यंजित करते हैं।

लौकिक मुक्तक तथा शुद्ध काव्य की दृष्टि से 'गाथासप्तशती' तथा 'वज्जालग्ग' के काव्य विषय पर दृष्टिपात करने पर संपूर्ण लौकिक मुक्तको की प्रवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है। विक्रम की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में रचित (कुछ अंश परवर्ती भी है) हाल की 'गाथासप्तशती' मे मुक्तक काव्य की नई गति विधि का दर्शन होता है। पूर्व चर्चित जिन परि-स्थितियों ने संस्कृत मुक्तक काव्य को प्रभावित किया उन्हीं परिस्थितियो ने प्राकृत मुक्तको को भी प्रभावित किया। संस्कृत-मुक्तक काव्य धारा उन्मुक्त प्रकृति चित्रण से हटकर राजदरबारों तथा सामाजिक धरातलों की ओर उन्मुख होने लगी अत· उसमे प्रकृति सौन्दर्य के स्थान पर स्त्री सौन्दर्य प्रधान होता गया। विषय तथा अभिव्यक्ति के स्तर पर आभिजात्य का विशेष आग्रह होने लगा। किन्तु प्राकृत-मुक्तक-काव्य विषय की दृष्टि से राजघराने मे होनेवाले प्रेम व्यापारों तक ही सीमित नही रहा बल्कि उसमे ग्रामीण नायक नायिकाओ के हास-विलास को बड़ी सजीवता से व्यक्त किया गया। शृङ्गार के संयोग, वियोग,

दूत-संदेश, नखक्षत, सौतियाडाह आदि परम्परित विषय इन लौकिक काव्यों में पूर्ववत् प्रतिष्ठित रहे।

वर्गीकरण—संपूर्ण प्राकृत मुक्तक काव्यों मे विषय, दृष्टिकोण, उद्देश्य आदि का स्पष्ट अन्तर झलकता है। रस की दृष्टि से विचार करने पर धार्मिक काव्य में यदि रस का अभाव दिखाई देता है तो लौकिक काव्य में रस की प्रधानता। जैन धर्म संबंधी उपदेशों मे अधिकतर शान्तरस ही पाया जाता है। उन्हे आत्म कल्याण के लिए लौकिक साधनों तथा क्षणिक रसानन्द की आवश्यकता थी ही नही। वे सुख-दुख दोनों से रहित मोक्ष की खोज मे तल्लीन थे। अतः न तो वे आनन्द चाहते थे न परमानन्द। नारी तो उनकी सबसे बड़ी दुश्मन थी तो शृङ्गाररस मे उनका मन कैसे लीन होता। 'मूलसूत्र-उत्तराध्ययन' मे कहा गया है कि ये काम भोग कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस के बूंद के समान है। ऐसी हालत में आयु अल्प होने पर क्यों न कल्याण मार्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय—

कुसग्गमेता इमे कामा सान्निसद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउ जोगक्खेमं न संविदे॥

हिन्दी के भक्त कवियों ने स्त्रियों के प्रति जो कटु तथा तिक्त दृष्टिकोण रखा वह इसी परम्परा से प्रेरित जान पड़ता है। इन धार्मिक मुक्तकों मे अनेक मुक्तक नीरस है।

'गाथासप्तशती' 'वज्जालग्ग' तथा नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत-मुक्तक सरस हैं। इस मे शृङ्गाररस की प्रधानता है। विस्तृत से दृष्टि विक्षेप करने से प्राकृतिक मुक्तकों में शृङ्गार का परिवेश अत्यन्त विस्तृत परिलक्षित होता है। कुछ मुक्तकों मे यदि राधा, कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम का वर्णन है तो कुछ में ग्राम-वधूटी तथा व्याध-पत्नी के अल्हड़ तथा सहज सौन्दर्य का निरूपण मिलता है। अभिसार के नवीन स्थानों की खोज लोकजीवन के सानुकूल है। कपास तथा सनई के खेत ही इन नायक नायिकाओं के रमण स्थल बन गये हैं।

प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण :

नीरस या रसहीन मुक्तकों की प्रवृत्तियों के आधार पर प्राकृत मुक्तकों के अधोलिखित वर्ग बन सकते है—

१—उपदेशात्मक मुक्तक :

उपदेश का रूप बहुत कुछ उपदेशक के स्वभाव तथा कर्म से सम्बद्ध है। किसी धर्म विशेष मे आस्था रखनेवाले व्यक्ति अधिकतर उसी धर्म मे सबंधित बातो को प्रचारित करने तथा अन्य लोगो को उसमें दीक्षित करने के लिए उपदेश देते है। जैनियों ने अपनी मान्यताओ को थोपने के लिए कही-कही उपदेशों मे बड़ी कट्टरता बरती क्योंकि इनका अपना बना बनाया आदर्श था। इन उपदेशात्मक मुक्तकों के कई रूप है।

नैतिक मुक्तक

इन मुक्तकों को आचारपरक मुक्तक भी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक उन्नति मे नित्य प्रति के कुछ अनुष्ठानो तथा व्रतो का संपादन करने के अतिरिक्त इन्द्रिय निग्रह, माया का त्याग, दुश्चरित्र का त्याग आदि बातो पर बल दिया गया जो कि बौद्ध धर्म तथा अन्य धर्मों मे समान रूप से मान्य रही है। अपभ्रंश तथा हिन्दी के उपदेशात्मक नैतिक मुक्तको मे इन्ही वर्जनाओ का विस्तार होता चला गया है। जैन ग्रन्थो मे स्त्रियो को साधना के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध माना गया है। स्त्री के अनेक पर्यायवाची शब्दो का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि स्त्री हर रूपो में पुरुष का शत्रु है। नारी के समान पुरुषो का कोई और अरि नहीं है (नारि समा न नराणा अरीओ इति नारीओ) इसलिए उसे नारी कहा जाता है। नानाविध कर्मो मे वह पुरुषो को मोहती है (नाणा विहेहि कम्मेहि सिप्पइयाएहि पुरिसे मोहंति त्ति महिलाओ)। पुरुषो को मदयुक्त करने के कारण प्रमदा, रमणीय लगने के कारण रामा, पुरुषो के अंग मे राग जगाने के कारण अगना, युद्ध, कलह, संग्राम, अटवी, शीत, उष्ण, दुःख, क्लेश आदि उपस्थित होने पर पुरुषो का लालन करने के कारण ललना, पुरुषों को वश में करने के कारण योषित तथा पुरुषों का अनेक प्रकार से वर्णन करने के कारण उसे वनिता कहते हैं। समूचे कथन पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि कवि की दृष्टि मे स्त्री अनेक तरह से पुरुष को अपने जाल में फँसा रखती है जिससे संसार की यथार्थता का न तो उसे अनुभव हो पाता है न वैराग्य की भावना जगने पाती है। कबीर, तुलसी आदि का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुत कुछ इसी परम्परा पर आधारित था जो कि उन्हे सन्त संस्कारो से प्राप्त हुआ था।

दार्शनिक भाव के मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तको में द्रव्य, पुद्गल, माया, समाधि, महाव्रत आदि के

स्वरूप को समझाया गया है। सांख्यमत, अज्ञानवाद, कर्मचयवाद, कषायप्राभृत आदि का खण्डन-मण्डन किया गया है।

लौकिक व्यवहार के मुक्तक

लोक कवियों के द्वारा प्रणीत कुछ मुक्तको मे बिलकुल यथार्थ नीति की झलक मिलती है। आदर्श का बाना त्यागकर कवि कहता है कि आत्महित करना चाहिए यदि हो सके तो परहित करना चाहिए। आत्महित तथा परहित मे आत्महित ही करना चाहिए—

अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं।
अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्वं॥

प्राकृत भाषा को साहित्यिक प्रतिष्ठा तथा यश प्राप्त करने के पूर्व मौजूदा संस्कृत साहित्य से होड लेनी पड़ी। यही कारण है कि प्राकृत कवियो ने संस्कृत साहित्य के लोकप्रिय तत्त्वो को आत्मसात् करने का प्रयास किया। यही इन कवियो की परिवेशगत प्रतिबद्धता है। अपने युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति सजगता इन कवियो के लिए कुछ हद तक हानिकर सिद्ध हुई। संस्कृत साहित्य के शृंगारिक वातावरण मे प्राकृत कवियो ने लोक जीवन के भावो को चित्रित करना चाहा किन्तु वे शृंगारिकता तथा प्रेम क्रीडा तक सीमित रहे। उस समय के लौकिक मुक्तको की यह सीमा स्वाभाविक थी। प्राकृत कवियो ने ग्रामीण भावो को अपनाकर प्रेम चित्रण मे विस्तार तथा नयी सजीवता ला दी। अपने कुछ मौलिक चित्रणो के कारण संस्कृत कवियों को प्राकृत भाषा मे लिखित साहित्य के प्रति स्पृहा जागृत हुई। गोवर्धनाचार्य जैसे कुछ कवियो ने 'गाथा सप्तशती' जैसे काव्य के अनुकरण पर काव्य रचना करने का प्रयास किया। मुक्तककारों ने अपने काव्य को अमृतमय कहा। ऐसे प्राकृत काव्य को पढना, सुनना जो नही जानता वह काम की चिन्ता करता हुआ लज्जित क्यो नही होता।

अमिअं पाउअ कव्वं का औचित्य :

यह गर्वोक्ति कि प्राकृत का काव्य अमृत से भरा है तथा काम की चिन्ता करनेवाले को इसका अध्ययन तथा श्रवण जरूरी है कुछ सीमा तक उचित कहा

---

१. अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणान्ति।
कामस्स तत्त तन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥

जा सकता है। अमृत तथा काम दोनो शब्द प्राकृत मुक्तको के लालित्य तथा माधुर्य को द्योतित करते है। प्राकृत कवियों ने रत्यात्मक चेष्टाओं को अकृत्रिम भाषा मे ऐसा घोल दिया है कि दोनो का विलगाव असंभव हो जाता है। उसने सुरति, वियोग, मान, आंगिक सौन्दर्य, नायक तथा नायिका के हास-विलास, अभिसार आदि भावों का बडी कुशलता से अंकन किया। उनका यह प्रेम व्यापार बडे-बडे राजाओं महाराजाओ के अन्तःपुर की चहारदीवारी की जकड़न को तोड़कर गाँव की सिवान-कपास, धान, सनई के खेतों में संपन्न होने लगा। उनकी दृष्टि मे भिक्षाजीवी युवक धनहीन भले ही हो लेकिन भावहीन नही होता। नायिका सदैव धन दौलत पर ही जान नही देती। स्वस्थ यौवन भी कभी-कभी उसके खिंचाव का कारण हो जाता है। इसी भाव को एक कवि इस प्रकार चित्रित करता है। भिक्षाजीवी पुरुप नायिका के नाभि मण्डल की ओर स्निग्ध दृष्टि से ताक रहा है। वह नायिका भी उसके मुख चन्द्र की ओर निहार रही है। इस अवसर पर कौआ उसके चटुक और करछु से अन्न लेकर भागता रहता है।[1] यह रूपाकर्षण और भावमग्नता का कितना उत्कृप्ट चित्र है सहज अनुमेय है। अनेक मुक्तको मे प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण मिलता है। पर्वत के प्रतिनितम्ब मे लग्न, बादलो का एक चित्र देखिये। ये मेघसमूह पर्वतो में विघटमान होकर सारे दिशाओ म फैले हुए ऐसे प्रतीत होते है मानो विन्ध्य पर्वत अपनी शरीर से झिल्ली छोड़ रहा है। कहीं-कहीं प्रकृति नायक तथा नायिका के भावो से जुड़कर अस्फुट होती हुई भी अजीब ध्वनि सौन्दर्य प्रकट करती है। वर्षा ऋतु सबसे अधिक कामोद्दीपक मानी जाती है। एक किसान दिन भर श्रम करके शाम को सो गया। अप्राप्त सुरत सुखा पामर वधू इस पर वर्षा काल को अभिशाप देने लगती है। जीवन की यथार्थता, कठोरता तथा पति (नायक) की विवशता को न अनुभव करनेवाली शुद्ध वासना से युक्त वधू निश्चय ही पामरी है। कवि की दृष्टि मे प्रेम का यह रूप काम-विकारो से युक्त होने के कारण निन्दनीय है।[2]

धार्मिक तथा लौकिक दोनो प्रकार के काव्यो मे भाषा का सुबोध, सरल तथा अकृत्रिम रूप प्रयुक्त हुआ। भाषा की दुर्गमता तथा पांडित्य पर ज़ोर न देकर कथन की भंगिमा तथा वाणी-वैचित्र्य को उभारा गया है। प्राकृत भाषा की प्रकृति ही कुछ इस तरह की है कि उसमे गीतिमयता तथा लालित्य सहज

२. गाथा ६०, द्वितीय शतक।

१. गाथासप्तशती, पृ० ७८ चतुर्थ शतक।

ही उत्पन्न हो जाता है। स्वरो के बाहुल्य तथा संस्कृत के उपसर्गों के स्थान पर ओ ऐ हो जाने की वजह से उच्चारण मे अनायास कोमलता का आगमन हो जाता है। प्राकृत में सन्धि तथा समास के नियम भी काफ़ी ढीले पड गये थे। अत: मुक्तकों मे लम्बे समासो से युक्त भाषा का सर्वथा अभाव है। देशी शब्दों के प्रयोग से भाषा मे और जीवन्तता आ गयी है।

प्राकृत गाथाओं में अलकार का बड़ा स्वाभाविक प्रयोग हुआ। सादृश्यमूलक अलकारो का विशेष रूप से अपनाया गया। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत अतिशयोक्ति आदि प्रमुख अलंकार है। इस काव्य में लोक जीवन के विविध पहलो की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। गाथाओ के दृश्य अधिकतर सरल ग्राम्य-जीवन से लिये गये हैं।

अपभ्रंश मुक्तक काव्य

अपभ्रंश की उपलब्ध रचनाये छठी शताब्दी या उसके बाद की हैं और तभी से साहित्य में इसका अविरल प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश काव्य ने संस्कृत प्राकृत आदि की कुछ परम्पराओं को सुरक्षित रखा कुछ को उत्कर्ष प्रदान किया और कुछ को त्याग दिया। मुक्तक काव्य के संदर्भ में इस बात को देखना है कि अपभ्रंश मुक्तको का रूप परम्परा और मौलिकता के बीच किस तरह निश्चित हुआ।

अपभ्रंश मुक्तको का कथ्य प्राकृत के कथ्य के समान धार्मिक अधिक है। इसका कारण यह है कि पूर्व-कालीन जैन धर्म के कवियों ने जिस उत्साह से प्राकृत भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था उसी उत्साह से पश्च-कालीन कवियों ने अपभ्रंश को माध्यम के रूप में चुना। सिद्ध और नाथों के धार्मिक और साहित्यिक योगदान से भी अपभ्रंश मुक्तकों के परिमाण में वृद्धि हुई। इन कवियो ने धर्म के ऊहा-पोह या दार्शनिक संबद्धता को स्वीकार नही किया। कुछ पारिभाषिक शब्दावलियों तथा एकाध स्तुतिपरक ग्रथों को छोड़कर इन मुक्तको का विषय समाज तथा लोक जीवन के श्रेय से संबंधित मूल तथा निर्विरुद्ध भावों से सम्बद्ध है। बाह्याडम्बर का विरोध, माया का त्याग, विरक्ति की महिमा, राग की निन्दा, इन्द्रिय वशीकरण, गुरु महिमा, आत्म साक्षात्कार के उपाय आदि इनके वर्ण्य विषय हैं। हिन्दी के भक्ति भाव-परक मुक्तको की विषयगत पृष्ठभूमि यही से तैयार हो जाती है। लौकिक मुक्तक परिमाण की दृष्टि से तो कम ही उपलब्ध है किन्तु उनका साहित्यिक स्तर निःसंदेह रूप से उच्च है। करीब-करीब सभी भाव से संबंधित लौकिक

मुक्तक अधिक तो नहीं किन्तु प्रतिनिधि रूप में उपलब्ध है जिससे अपभ्रंश मुक्तकों के विषयगत विस्तार तथा प्रवृत्तिगत श्रेष्ठता का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृत के संदेश काव्य की जो परम्परा प्राकृत में शुष्क हो गयी थी अपभ्रंश में फिर हरी हो गयी। इस तरह का यद्यपि एक ही काव्य 'संदेश-रासक' उपलब्ध है किन्तु चित्रण कुशलता में यह कालिदास के 'मेघदूत' से कम नहीं ठहरता। हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश मुक्तकों, प्राकृत पैंगलम् तथा अन्य ग्रंथों में उद्धरण रूप से दिये अपभ्रंश के मुक्तकों के विषय अधिकतर शृंगारिक है। कहीं-कहीं दारिद्र्य की पीड़ा, युद्ध का वर्णन भी किया गया है। कुछ मुक्तकों में नीति के उपदेश दिये गये है।

वर्गीकरण

अपभ्रंश मुक्तकों में जैसा निर्देश किया गया है धार्मिकता का भाव काफी प्रबल है। इस दृष्टि से इसके दो विभाग किये जा सकते हैं—

धार्मिक भाव के मुक्तक

'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', 'पाहुड दोहा', चर्यापद आदि धार्मिक भाव के मुक्तक है। इन मुक्तकों के भी दो रूप है। एक जैन धर्म से सबंधी जैसे— 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', 'पाहुड दोहा', 'सावयधम्म दोहा', 'दोहापाहुड', 'कालस्वरूप कुलक', 'संयममंजरी' आदि।

दूसरे प्रकार के धार्मिक मुक्तकों के अन्तर्गत सिद्धों के मुक्तक आते है जिसमें 'दोहाकोश' तथा 'चर्यागीत' को शामिल किया जा सकता है।

धार्मिक ग्रंथ के कुछ मुक्तकों में भी पुद्गल, सम्वर, मोक्ष, समाधि, आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप के विवेचन की गहराई आ जाने के कारण कुछ मुक्तक धार्मिकता की सीमा को लांघकर दार्शनिकता के क्षेत्र में पहुँच जाते है। ऐसे मुक्तकों में कवि की दृष्टि भाव-अभाव, पाप-पुण्य, आचरण-स्वरूप आदि से ऊँचे संस्थित होती है। आचारपरकता पर बल न देकर ऐसे मुक्तकों में शुद्ध अनुभूति पर जोर दिया गया है। लौकिक मुक्तक की कोटि में 'संदेशरासक' तथा 'प्रबंध-चिन्तामणि', हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण, छन्दोऽनुशासन,' 'प्राकृत पैंगलम्' के उद्धृत अंशों को सम्मिलित किया जा सकता है।

रस भाव की दृष्टि से :

रस तथा भाव की दृष्टि से अपभ्रंश मुक्तकों का विभाजन प्राकृतादि की तरह सहज नहीं है। दार्शनिक तथा धार्मिक मुक्तकों में भी कुछ इस तरह की

उद्भावनाये मिलती है जो नि सन्देह रूप से महत्त्वपूर्ण है। वैराग्यपरक मुक्तको मे शान्तरस को व्यंजित करने का प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं कुछ मुक्तक नीरस भी है। उनमें मात्र वस्तु विवेचन पर ही जोर दिया गया है। सिद्धो की मान्यता मे पचमकारों का प्रवेश उनके दार्शनिक पतन का कारण भले ही हो किन्तु काव्य मे प्रतीकात्मकता की नई शुरुआत के लिए यह पर्याप्त स्पृह्य है। सन्त साहित्य को इससे पर्याप्त प्रेरणा मिली। प्रज्ञा को डोमिनी नारी के रूप मे कल्पित करके उससे मिलन का प्रयास करना इन सिद्ध कवियो की आध्यात्मिक कामना थी। यही से रत्यात्मक भक्ति को एक नई दिशा मिलती है। जिन आध्यात्मिक भावो को इन सिद्ध तथा नाथ कवियों ने काव्य मे द्रवित करने का प्रयास किया वही आगे आनेवाले भक्त कवियो की भावधारा मे मिलकर उसको काव्य सीमा के दुकूलो के ऊपर से उमडने के लिए बाध्य किया।

'सदेशरासक' मे शुद्ध रूप से वियोग श्रृंगार की पुष्टि होती है। 'प्राकृत पैगलम्' में वीर रस का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है।

स्तुतिपरक आशीर्वादात्मक मुक्तक :

शिवं (कल्याण) काव्य के अन्य उद्देश्यों में एक प्रमुख उद्देश्य है। अपभ्रंश मुक्तकों में यह कल्याण कामना स्तुतिपरकता के साथ संश्लिष्ट होकर व्यक्त हुई है।

उपदेशात्मक मुक्तक :

उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति प्राय सभी धार्मिक कृतियो में पायी जाती है। कुछ मुक्तको का नामाकन तक इसी प्रवृत्ति के आधार पर किया गया। 'उपदेश रसायन रास' इसकी प्रतिनिधि स्वरूप कृति मानी जा सकती है। इसमें मानव जीवन की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए कवि उसे सफल बनाने का उपदेश देता है। इसके अलावा वह सुगुरु, कुगुरु, सुपथ, कुपथ, लोकप्रवाह तथा विविध धर्मो के स्वरूप को विवेचित करता है। कवि का विश्वास है कि उपदेश तो स्वयं रसायन है इसलिए उसमे काव्यरस मिलाने की चेष्टा व्यर्थ ही है। 'सावयधम्म दोहा' भी श्रावको को दिये गये उपदेशो का संग्रह है किन्तु उसमें वर्णित बातें सामान्य जनों के लिए भी उपयोगी हैं। चोरी न करना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मदिरापान का निषेध, वेश्यावृत्ति की अवहेलना आदि ऐसी बातें हैं जो कि पूरे भारतीय के लिए किसी न किसी स्तर पर

उपयोगी हो सकती है। मुनि रामसिंह आदि की कृतियों में भी वैराग्य इन्द्रिय-निग्रह मन को वश मे करने का प्रयास आदि परम्परित धार्मिक तथ्य उपदिष्ट किये गये हैं। वास्तव मे ये सारे भाव संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे समान रूप से चर्चा के विषय बने रहे। हिन्दी का मुक्तक काव्य इन भावो से काफी प्रभावित हुआ। उपदेशों की कहीं-कहीं कट्टर विरोधी के रूप मे परिणति हुई है।

अपभ्रंश मुक्तकों का परम्परा के संदर्भ में मूल्यांकन :

जैसा पहले लक्षित किया गया है कि अपभ्रंश मुक्तक काव्य का भावगत प्ररूप बहुत कुछ परम्परा के विकास के फलस्वरूप निर्मित हुआ है। धार्मिक मुक्तको के सम्बन्ध में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यहाँ तक आते-आते कवियो मे धार्मिक सम्बद्धता तथा दार्शनिक पेचीदापन काफी क्षीण हो गया। हर सम्प्रदाय के कवियो ने मुख्यतः उन्ही बातो को अपनाया जो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को कुछ सोचने के लिए विवश करती है। सिद्धो, जैनो सभी ने अपने अपने धर्म की परम्परागत मान्यताओ का पुनर्मूल्यांकन किया। उन्होने धार्मिक तथा दार्शनिक विषयो को सहज बनाकर काव्य मे ढालने का प्रयास किया। सरहपाद के विषय में कही गयी निम्नलिखित बातें पूरे धार्मिक मुक्तको के लिए लागू है 'सरह के साथ एक नये धार्मिक प्रवाह को हम जारी होते देखते है जो आज भी सन्त परम्परा के रूप मे हमारे सामने मौजूद है। सन्तो के साथ जिस योग और भावनाओ का सम्बन्ध है, वह भी इसी समय अपने नये रूप मे प्रकट होते है। उनकी भावना या योग वही नही है जिसे पतंजलि के योग दर्शन या पुराने बौद्ध सूत्रो में देखते है।[1]

शिल्प विधान :

अपभ्रंश मुक्तको में शिल्प की दृष्टि से गीतिकाव्य और मुक्तक काव्य का अलगाव अधिक स्पष्ट होने लगा। 'थेर तथा थेरीगाथा' मे पद शैली का जो बीज वपन हुआ था वह अब अंकुरित होकर बढ़ने लगा। सिद्धो के चर्यागीत मे इसका विकासमान रूप देखा जा सकता है।

अपभ्रंश मुक्तको मे भावानुकूल तथा उद्देश्यानुकूल भाषा पर अधिक ज़ोर दिया गया। रहस्यवादी मुक्तको मे गूढ़ भावो को सरल तथा प्रतीकात्मक

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दोहा कोश, भूमिका, पृ० ५।

भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा की गयी। जोइन्दु, रामसिंह, सरहपादि, छीहल आदि कवियों को इसमें विशेष सफलता भी मिली। अपभ्रंश भाषा के प्रकृतिगत विकास के कारण भी मुक्तकों में अनुप्रास या वर्णमैत्री का स्वतः आगम हुआ जो कि भाषिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक सिद्ध हुआ। उपदेशात्मक मुक्तको मे (सावयधम्म दोहा आदि) तथ्यपरकता तथा विषय बोध पर बल दिया गया। किन्तु मुक्तककारों का ध्यान इस बात पर सदैव टिका रहा कि उपदेशों की भाषा शैली आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण हो। उन्होंने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भाषा को गूढ़ उलझनों से बचाने का उद्योग किया। लौकिक मुक्तको 'संदेशरासक' तथा स्तुतिपरक मुक्तक 'चर्चरी' मे भाषा का आदर्श बहुत कुछ संस्कृत से मिलता जुलता है। कोमलता, लय, मधुरता इन मुक्तको की भाषा की सामान्य विशेषताएँ है। सिद्धो ने सिद्धान्तों को गोपनीय रखने के लिए कहीं-कहीं अस्पष्ट तथा प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया। लौकिक मुक्तककारों ने परम्परागत भावों को मौलिकता से रंजित करके नवीन भाषा शैली मे प्रस्तुत किया। 'संदेशरासक' मे एक तरफ़ उन समस्त काव्य परिपाटिओं स्तुतिपरकता, कलात्मकता, भावनात्मक गहनता तथा सघनता आदि मुक्तक काव्य के विशिष्ट गुणों को आत्मसात किया गया तो दूसरी तरफ़ अपभ्रंश मे विकसित ध्वन्यात्मक शब्दों को रचनात्मक स्तर पर संप्रयोजित किया गया। अपभ्रंश कवियो ने लोकजीवन से भी काफी संपर्क बनाये रखा। धार्मिक मुक्तककारो में कुछ निम्न जाति से सम्बन्धित थे अतः उन्होंने स्वभावतः सामान्य लोगों के बीच के अनुभवों को व्यक्त किया किन्तु धार्मिक तत्त्वो मे ये सारे अनुभव ऐसे घुल मिल गये है कि उन्हें अलग कर पाना कठिन है। उपमानो तथा रूपको मे ही ये तत्व मुखरित होते है। लौकिक कवियो की दृष्टि प्रायः समाजोन्मुखी थी। अपभ्रंश मे विषय सम्बद्धता तथा भावानुकूलता इतनी बढ़ती गयी कि परवर्ती काल में भाषा के डिंगल तथा पिंगल दो रूप बिल्कुल स्पष्ट हो गये। डिंगल भाषा जिनमे ट, ड, ढ आदि का बाहुल्य था वीररस की व्यंजना मे अधिक सहायक सिद्ध हुई। पिंगल भाषा मे कोमल भावो को व्यक्त किया गया। हिन्दी मुक्तक काव्य परम्परा इससे काफ़ी प्रभावित हुई।

हिन्दी मुक्तक काव्य :

वैदिक, पालि, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश मुक्तको के विकासमान स्वरूप पर दृष्टिपात करने के बाद मुक्तक काव्य की समस्त साहित्यिक विधि

ष्टता, क्षेत्र, सीमा आदि का ज्ञान आसानी से प्राप्त हो जाता है। हिन्दी मुक्तकों का स्वरूप इसी परम्परा की अन्तिम बेजोड़ कड़ी के रूप मे ही परिलक्षित होता है। हिन्दी मुक्तक काव्य मे चार धारायें अलग-अलग बहने लगी। प्रथम जैनियों द्वारा रचित काव्य की परम्परा अन्य धाराओ की साहित्यिक गरिमा तथा लोकप्रियता के कारण क्षीण होती हुई भी सत्रहवी अठारहवी शताब्दी तक चलती रही। सिद्धो तथा नाथो की भावधारा तथा विचार परम्परा सन्तो में घुल मिलकर प्रबल वेग से बह चली। यही नही योग का प्रसरित भाव सूरदास, मीरा, जायसी आदि अन्य भक्त कवियो को प्रभावित किया। तीसरी धारा उन सगुण भक्तो की है जिन्होने आत्म-प्रपत्ति, वैराग्य, भगवत्-निवेदन, ईश्वर-स्तुति आदि के भावपरक कलात्मक गीत गाये। चौथी धारा उन रीतिकालीन लौकिक तथा रीतिकवियों की है जिन्होंने संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश की काव्य रूढ़ियो के सहारे नयी-नयी उद्‌भावनायें करके हिन्दी मुक्तक को मुक्तक काव्य परम्परा मे महत्वपूर्ण तथा विकसित स्थान दिलाने का उद्यम किया।

कथ्य :

हिन्दी के मुक्तक कवियो ने कथ्य की दृष्टि मे अपनी परिवेशगत सजगता जाहिर की। उन्होंने सहज रूप से विकसित तथ्यों को ग्रहण करते हुए निकटतम भाषा साहित्य के पार सुदूर परम्पराओ को भी अपनाने का मौलिक यत्न किया। वर्ण-व्यवस्था का विरोध, शुद्ध अनुभूति की प्रधानता पूजा-पाठ तथा तीर्थादि की निरर्थकता का भाव सिद्धो तथा नाथो से होता हुआ कबीरादि संत कवियों मे युगानुकूल विकसित हुआ। सिद्धों ने प्रज्ञा को डोमनी के रूप में कल्पित किया तथा उससे मिलने की आकांक्षा व्यक्त की थी तो कबीरदास स्वयं ही राजाराम भर्तार की अनुपम दुल्हन बन गये। गुरु-महिमा का वर्णन तो पूरे भक्ति-काव्य में पाया जाता है। सन्त-साहित्य में सिद्धो और नाथो की समाधि, वैराग्य, मन को मारने के उपाय, इन्द्रियों को वश करने के प्रयत्न, माया, ब्रह्म तथा आत्मा के बीच के सम्बन्धो आदि का निरूपण हुआ है। स्त्रियों को तप मे बाधक मानकर सगुण तथा निर्गुण दोनों भक्तो ने कही-कही पर उनकी कटु निन्दा की है। सगुण कृष्ण भक्त कवियो मे कथानक की दृष्टि से अपभ्रंश मुक्तको के साथ कोई खास समीपता नहीं है। कथा तत्व को 'भागवत' से ग्रहण करते हुए माधुर्य, वचन भंगिमा, शृंगारिकता आदि का चित्रण संस्कृत मुक्तकों के अधिक निकट है। अपभ्रंश में राधा, कृष्ण सम्बन्धी

जो छन्द उपलब्ध है उनमे कृष्ण और राधा को नायक और नायिका के रूप मे ही चित्रित किया गया है। कृष्ण की बाल, किशोर तथा यौवन की अनेक लीलाओं ने सूरदास, नन्ददास आदि को विशेष आकर्षित किया। विरक्ति, गुरु महिमा, विनय, भगवत्कृपा, वनिता त्याग आदि का चित्रण अन्य भक्तो के समान ही है। तुलसीदास के मुक्तको ने राम के जीवन सम्बन्धी आदर्शों को लोक जीवन तथा युग परिवेश से मिला जुलाकर ग्रहण किया किन्तु उनमे आत्म-निवेदन का भाव अधिक मुखर है। जैनमत की धार्मिक भावनाओ का विकास छीहल, बनारसीदास, भगवतीदास, रूपचन्द्र, ब्रह्मदीप, आनंदघन आदि मे मिलता है। रीतिकालीन लौकिक कवियो ने श्रृंगारिकता से सम्बन्धित स्त्री सौन्दर्य वर्णन नायक नायिका के विलास, मान, प्रवास, विरह आदि को चित्रण का विषय बनाया।

वर्गीकरण :

हिन्दी मे सस्कृत अपभ्रंश आदि की तरह ही कुछ मुक्तक काव्यो मे कथा का बिलकुल हल्का सूत्र मिलता है। जिसके कारण उसमे प्रबन्धत्व के कुछ गुण प्रविष्ट हो गये हैं। काव्य-नियोजना से अलग इन मुक्तक छन्दों की अर्थगरिमा तथा भावाभिव्यक्ति किसी विशिष्ट कथा प्रसग की अपेक्षा नहीं करती। कभी सकलनकर्त्ता भी ऐसे मुक्तको को संकलित करते समय कथाक्रम से जोड देते हैं। किन्तु शुद्ध वर्णनात्मकता के अभाव तथा एक ही भाव के विस्तार और पुनरावृत्ति के कारण झीना कथासूत्र बार-बार टूट जाता है। 'वीसलदेव रासो' 'ढोला-मारूरा-दोहा', 'सूरसागर', 'गीतावली', कवितावली आदि इसी तरह की रचनाएँ हैं। इन्हे प्रबन्धात्मक मुक्तक की कोटि मे रखा जाता है। शेष रचनाये जो काव्य संकलनों मे तथा उनसे अलग सर्वत्र कथासूत्र से मुक्त होती है को अप्रबन्धात्मक मुक्तक की कोटि मे रखा जाता है। सन्तकाव्य, विनय-पत्रिका, शिवराज-भूषण, मीरा पदावली, बिहारी सतसई, रहीमदास के नीति के दोहे, 'मतिराम सतसई' तथा रीतिमुक्त कवियो घनानन्द, बोधा, ठाकुर, आलम आदि की रचनाये इसी तरह की है।

रस की दृष्टि से :

अपभ्रंश की तुलना मे परिमाण की दृष्टि से हिन्दी मे सरस मुक्तको का आधिक्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अपभ्रंश तथा प्राकृतादि के शुद्ध तथा धार्मिक भाव के मुक्तको का भक्तिपरक

मुक्तको में विलय हो गया । वे विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण से संबद्ध अपनी नीरसता खो बैठे । किन्तु बहुत से स्थानो पर इनका अस्तित्व सुरक्षित है । उदाहरण के तौर पर 'सूरसागर' से एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है । माया को स्त्री रूप में परिकल्पित करके सूरदास ने उसका एक ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें माया एक शरीरी भौतिक जगत् की मोहक नारी के रूप मे सजधज कर उपस्थित हो जाती है । अपभ्रंश तथा प्राकृतादि मे माया आदि से सावधान रहने के लिए उपदेश दिया गया था लेकिन उसे ऐसी मधुर पृष्ठभूमि नही प्रदान की गयी ।

गोपाल तुम्हारी माया महा प्रबल, जिहि सब जग बस को कीन्हौ (हो)
नैंक चितै, मुसक्याइ कै, सब को मन हरि लीन्हौ (हो)
पहिरैं राती चूनरी, सेत अपरना सोहै (हो)
कहि लहंगा नीलौ बन्यौ को जो देखिन मोहै (हो)
अंतरौहा अवलोकि कै, असुर महामद मातै (हो) ।[1]

इसी तरह का चित्रण कबीर ने "माया महाठगिनि हम जानी' मे किया ।' उन्होंने गुरु के उपदेश को भी प्रभावात्मक तथा मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है भक्त कवियों ने माया मोह की दुनियां त्याग करके एक नयी काल्पनिक दुनियां की सृष्टि कर डाली । अपने अद्‌भुत काव्य कौशल के सहारे वे स्वय भगवान्‌मय विश्व के सफल उद्‌गाता बने । उनका काव्य क्षेत्र हर बिन्दु पर ब्रह्म का संस्पर्श करता है । लोकभावनायें उनमे कड़ी के रूप में जुड़ी हैं क्योंकि ये भक्त कवि भी इसी कठोर तथा सघर्षमय दुनिया के जीव थे जोकि ऊर्ध्व-गमन के लिए छटपटा रहे थे । प्रेम के शाश्वत तथा माधुर्य-भाव को इन्होने अपने ढंग से स्वीकार किया । इनके आगे यह प्रश्न था क्या लौकिक प्रेम के स्थान पर ईश्वर विषयक प्रेम को काव्य का विषय बनाया जा सकता है ? फलत. इस दृष्टि से इनकी सारी काव्य सामग्री संस्कृत काव्य में प्रेम के लिए प्रयुक्त काव्य शास्त्रीय मान्यताओं के बीच मे ग्रहण की गई है । इसके अन्तर्गत उन्होंने लौकिक शृंगार की ही भाति नायक, नायिका, दूत, दूती, संयोग विप्रयोग उसके समस्त विभाव अनुभाव संचारि को अपने काव्य का आधार बनाया ।[2]

---

१. सूरसागर (सभा) प्रथम स्कंध पं० सं० ४४ ।

२ डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह : हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य : काव्यादर्श और काव्य सिद्धान्त,–पृ० ४२ ।

लौकिक शृंगार की परिपुष्ट परम्परा हिन्दी साहित्य के आदिकाल (बीसलदेव-रासो-ढोला मारूरा दोहा) में चली आ रही थी जो रीतियुग के दरबारी वातावरण में अनेकश: विकसित हुई। यही कारण है कि सरस मुक्तक काव्य के अन्तर्गत शृंगारिक मुक्तकों का प्राधान्य है। मोटे तौर पर पूरे हिन्दी मुक्तक काव्य को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) सरस भाव युक्त मुक्तक।

(२) नीरस उपदेशात्मक तथा नीतिपरक मुक्तक।

सरस मुक्तकों में उन सभी मुक्तकों को सम्मिलित किया जा सकता है जिनमें किसी भावानुभूति या भाव का वर्णन है। भाव चाहे पुष्ट होकर रस बने हों या नहीं। सरस मुक्तकों में शृंगाररस, वीररस, शान्तरस को व्यंजित किया गया है। वैसे शृंगार से संबंधित चित्रणों का अत्यधिक विस्तार है। शृंगार के भी दो रूप हैं जैसा कि पहले निर्देशित किया जा चुका है—

(१) लौकिक शृंगार।

(२) भक्ति शृंगार।

आदिकाल के 'बीसलदेव रासो' तथा 'ढोला मारूरा दूहा' में एक क्षीण कथा के माध्यम से शृंगार के वियोग तथा संयोग पक्ष को चित्रित किया गया। कुछ आलोचक इसी कथा को आधार मानकर इन्हे खण्डकाव्य के अन्तर्गत डाल देते हैं। परन्तु इनमें वर्णनों के बीच कवि भावात्मक तथा मार्मिक स्थलों पर ऐसा रम जाता है कि कथा क्रम के चक्कर को बिलकुल विस्मृत कर देता है। इन शृंगारिक प्रबन्धात्मक मुक्तकों में किसी प्रकार की अलौकिकता तथा आध्यात्मिकता का भ्रम नहीं है। लौकिक भाव तथा लोक जीवन के घटना सापेक्ष में 'गीत गोविन्द' जैसे काव्य की तरह इनमें लौकिकता तथा अलौकिकता की द्विविधा नहीं प्रस्तुत की गयी। यह लौकिक शृंगार रीतिकाल से पुनः बहुविध विकसित हुआ। रीतिकाल में मुक्तक कवियों ने चमत्कार उक्ति वैचित्र्य, दूरारूढ़ कल्पना, अलंकृति आदि पर इतना अधिक ध्यान केन्द्रित किया कि मुक्तक काव्य अपने उत्कर्ष काल में कला प्रधान काव्य बन गया। भावोन्मेष तथा भाव-विह्वलता हार्दिक-तरलता आदि क्षीण हो गये। लौकिक शृंगार के अन्तर्गत संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों को सूक्ष्म से सूक्ष्म ढंग से विकसित किया गया।

संयोग शृंगार के अन्तर्गत नखशिख, नायक-नायिका भेद, षट्ऋतु वर्णन, हावचित्रण, मिलन, परिहास, हाव मिलन, क्रीड़ा विलास आदि का सुखद

कथन हुआ है और विप्रलंभ श्रृंगार में पूर्वराग, मान प्रवास, वियोग रस की दशायें, दूती, बारहमासा, सन्देश, षट्ऋतु आदि का बहुत हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।[1] विप्रलंभ श्रृंगार के अन्तर्गत वियोगिनी की विविध दशाओं का चित्र उतारा गया है। कहीं-कहीं वियोग वर्णन इतना ऊहात्मक है कि सहानुभूतिपूर्ण तथा हृदयस्पर्शी न रहकर हास रस का स्थायी भाव बन गया है। रीति-मुक्त कवियों ने भाव तथा कला दोनों का सामंजस्य स्थापित किया। उनकी मुक्तक कवितायें संस्कृत मुक्तकों के काफी नजदीक हैं। भक्ति शृंगार लौकिक शृंगार का ही एक दूसरा रूप है। इसमें लौकिक नायक की जगह कोई लीलावतारी आराध्यदेव होता है। नायिका उसके प्रेम में अनुरक्त भावनारी आत्मा या भक्त स्वयं होता है। वीररस को व्यंजित करनेवाले मुक्तककार भूषण हैं जिन्होंने शिवराज तथा छत्रसाल की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करके हिन्दुत्व की रक्षा के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। युद्ध यात्रा नायक की वीरता का शत्रुओं तथा उनके परिवार परपड़नेवाले सत्रास का चित्रण अतिरंजित शैली तथा जोशीली शब्दावली 'हम्मीर यात्रा' जैसे संबंधित अपभ्रंश मुक्तकों में हुआ था इसी परिपाटी को भूषण ने अपने ढंग से काव्य क्षेत्र मे प्रयुक्त किया। 'विनयपत्रिका', तथा सूर के विनय तथा भक्ति के पदों में शान्त रस को प्रधान रस के रूप मे स्वीकार किया गया है

नीरस उपदेशात्मक तथा नीतिपरक मुक्तक :

हिन्दी मुक्तकों मे बहुत से ऐसे मुक्तक हैं जिनमें रस या भाव का निरूपण नहीं किया गया हैं। उनका मुख्य उद्देश्य है किसी कल्याणकारी अनुभूति का जनता के बीच प्रचार। भक्ति काव्य तथा रीति काव्य दोनों में इस तरह के मुक्तक पाये जाते हैं। भक्तिपरक उपदेशात्मक मुक्तकों में आचरण, त्याग तथा बाह्याडम्बरों की निरर्थकता को समझाया गया है। ये उपदेश कहीं-कहीं परार्थ न होकर आत्मसंबोधनार्थ दिये गये हैं। नीतिपरक मुक्तकों में विनय, परोपकार आदि की बातों पर प्रकाश डालते हुए सामाजिक नीति तथा व्यवहार नीति को ही ग्रहण किया गया है। लोकनीति की तरफ सबसे अधिक ध्यान रहीम ने दिया 'बिहारी सतसई' में भी नीति के अनेक दोहे है जो रसहीन हैं गोस्वामी जी की रचना 'दोहावली' में धार्मिकता, राजनीति एवं व्यवहार नीति से सम्बद्ध मुक्तकों की रचना हुई है। इन मुक्तकों में वस्तु की ही प्रधानता है—

१. डा० किशोरी लाल, रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० २५३।

नीतिपरक मुक्तको मे व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियो, नश्वरता तथा अन्यान्य सामाजिक संबंधो जैसे स्वामी का संबंध आदि को समझाने की चेष्टा की गयी है।

प्रवृत्तियों के आधार पर

हिन्दी मुक्तकों की अनेकानेक प्रवृत्तियों को ध्यान मे रखकर उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

१—शृंगारिक मुक्तक।
- (क) वियोगात्मक।
- (ख) सयोगात्मक।

२—वात्सल्य भाव के मुक्तक।
३—भक्तिपरक मुक्तक।
४—धार्मिक मुक्तक।
५—रहस्यवादी मुक्तक।
६—उपदेशात्मक मुक्तक।
७—नीतिपरक सुभाषित मुक्तक आदि।

हिन्दी मुक्तको का शिल्पगत विवेचन

हिन्दी मुक्तको मे पद शैली पूर्णतया विकसित रूप मे परिलक्षित होती है। सिद्धों के चर्यागीत मे पायी जानेवाली साधनागत तन्मयता कबीरदास के पदों मे भी पायी जाती है। कबीरदास के पदो के भावो को यदि समन्वित रूप से लिया जाय तो यही कहा जा सकता है कि उनमें दार्शनिक गूढ़ता, भावुकता, प्रतीकात्मकता, प्रेम विह्वलता, विवेचनात्मकता आदि सभी तत्त्व सम्मिलित रूप से पाये जाते हैं। पदों का बौद्धिक विस्तार तिरोहित होने लगा। सूरदास और मीरा ने पदो के अन्तर्गत शुद्ध तथा शाश्वत भावो को भर दिया है। गुण, रेखा, जाति, युक्ति हीन निर्गुण ब्रह्म को छोड़कर सूरदास ने जो सगुण ब्रह्म का लीला गान किया वह सामान्यजनों के लिए साधारणीकृत बन गया। 'सूरसागर' मे वर्णनात्मक पदों का अभाव नही है किन्तु वे भी किसी न किसी राग मे निबद्ध है। मीरा पदावली मे पदशैली एकदम कोमल

---

१ दोहावली 'तुलसी ग्रंथावली' (सभा) दो० ५०३

तथा हृदयस्पर्शी हो गयी है क्योंकि वहाँ विवेचनात्मकता का क़रीब-करीब अभाव ही है। अभिव्यक्ति में कलात्मकता तथा साज संवार न होते हुए भी मनमोहकता तथा प्रभावात्मकता की अद्भुत क्षमता है। हृदय की वाणी पदो मे बहकर सीधे हृदय मे ही बेधती है।

पद शैली का वैशिष्ट्य—

(१) एक पद मे एक ही केन्द्रीय भाव रहता है उससे संबधित अन्य भाव इसी केन्द्र के दर्द-गिर्द घूमने रहते हैं। इस केन्द्रीय भाव की अभिव्यक्ति पद की प्रथम पंक्ति मे ही कर दिया जाता है। फिर यही भाव आगे एक लय मे बहता है। प्रथम पक्ति का अन्तिम वर्ण हर पक्ति के अन्त मे आकर, तुक तथा लय को केन्द्रीय भाव से बार-बार जोड देता है। पद के गान के समय प्रथम पक्ति की बार-बार आवृत्ति भावोद्रेक तथा भावोत्तेजना उत्पन्न करती है। सूरदास का एक पद उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। कृष्ण के चले जाने पर गोपिया अत्यन्त व्याकुल हो उठीं। वे अपलक नेत्रो से निहारती रहती हैं। इस वियोग व्यथा में उन्हें अपनी आँखो पर ही विश्वास नहीं होता। इसी वेदनामय भाव को कितने सरल शब्दो मे लयात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। पद की हर पंक्ति मे नैनो को ही कोसा गया है :—

> **बिछुरत श्रीब्रजराज आज सखि नैन की परतीति गई।**
> **उड़ि न मिले हरिसंग बिहंगम, ह्वै न गए घनश्याम मई।।**
> **याते क्रूर कुटिल सह मेचक, वृथा मीन छवि छीन लई।**
> **रूप रसिक लालची कहावत सो करतो कछु लौ न भई।।**
> **अब काहे जल मोचत, सम्य गए नित सूल नई।**
> **सूरदास याहीं ते जड़ भए जब ते पलकन दगा दई।।[१]**

(२) पदो की रचना लोक में प्रचलित रागो के आधार पर हुई है। प्राकृत से ही लोक प्रचलित गीतो से प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा होने लगी थी अतः छन्दो की नियोजना का आधार धीरे-धीरे लोक राग को अन्तर्लीन करके निर्मित होने लगा था। अपभ्रंश मे इस प्रयोग में अधिक स्पष्टता तथा संजीवनी आयी। हिन्दी मुक्तकों में पद शैली काव्य क्षेत्र मे बहुत लोकप्रिय हुई विशेषकर भक्ति-काव्य में। सूर, मीरा आदि के पदों में राग निर्देश पदों की गीतात्मकता को भी सिद्ध करते है।

---

१. भ्रमर गीत सार-सूरदास, पद ३३३।

(३) पदों मे अन्य मुक्तकों की तरह चमत्कार पर जोर नहीं दिया जाता बल्कि किसी भाव चित्र का ही अकन होता है। अतिरंजना की एक सीमा होती है जिसे परिपाटी पालन तक ही सीमित रखा जाता है। भावव्यञ्जना तथा अभिप्रेत भावांकन प्रस्तुत या अप्रस्तुत दोनो चित्रणों मे प्रधान रहता है। सूरसागर का एक पद उदाहरण के लिये लिया जा सकता है। इस पद मे गोपियों ने विरहिणी की समस्त दशाओं का आरोप यमुना के ऊपर कर दिया है। यहाँ प्रस्तुत रूप मे हिमालय से निकल कर बहती हुई यमुना का ऐसा चित्र है जो विरह ज्वर से पीडित विरहिणी का होता है। वह हिमालय रूपी पर्यंक से नीचे गिरती है। तन से तरग रूप तडफ पैदा होती है। तट पर की बालू उपचार की तरह है और जल पसीने की तरह बह रहा है। यहाँ पर यद्यपि कल्पना बडी विस्तृत है परन्तु सारे चित्रणों के बावजूद मस्तिष्क में एक विरह ताप से पीड़ित विरहिणी का ही बिम्ब बनता है। अन्तिम पंक्ति मे यह कलात्मक अभिव्यक्ति भावो से जुड़कर सारे चित्र को ही परिवर्तित कर देती है तब विरह-ज्वर से पीडित गोपी सारी अभिव्यक्ति के ऊपर छा जाती है—सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी।[१] इस पद मे कलात्मकता पर भी काफी ध्यान दिया गया है।

(४) पदो मे भावो के अकन में पुनरावृत्ति मिलती है। जिन भावो या अगों से कवि अभिभूत होता है उनका भिन्न-भिन्न लयो तथा रागो मे गायन करता है।

रीतिकालीन कवियो ने छोटे छन्दो के प्रति विशेष मोह दिखाया। अपभ्रंश का दूहा यहाँ दोहा बनकर फारसी छन्द शेर की होड मे उपस्थित हुआ। भक्तिकाल में जहाँ कविता स्वान्त सुखाय है और भक्त कवि सारे लौकिक भावो को समेटकर तथा अपने प्रतिभा तथा कवित्व शक्ति से विस्तृत तथा पवित्र करके अपने आराध्यदेव के श्री चरणो मे अर्पित करता गया है। उसमे किसी तरह का बाहरी दबाव, बाजी मारने का प्रयास तथा लौकिक यश की कामना नही है। उसने कविता की रचना कविता के लिए नही की जिसमें निरुद्देश्य बौद्धिक आयास मात्र पाया जाता हो। इसके विपरीत रीति कवि राजाश्रित था वह कृपा यश तथा धन पाने की चिन्ता से ग्रसित था। यही कारण था कि वह थोडे में बहुत कुछ, किसी साधारण बात को भी चमत्कारिक ढग से कहने की चेष्टा करता था। रीति युग मे मुक्तक काव्य का कलात्मक उत्कर्ष ही नही

१. स० धीरेन्द्र वर्मा—सूरसागरसार—पद ६४. पृ० १३६।

हुआ बल्कि परिमाण की दृष्टि से भी समृद्धि हुई। राजाओं के पास महाकाव्य या खण्ड काव्य सुनने का न तो अधिक समय था और न धैर्य ही। किन्तु अतिरिक्त कलात्मकता के कारण भावाभिव्यक्ति में काफी बाधा पड़ी है कहीं-कहीं तो उसकी जान बूझकर उपेक्षा भी की गयी है। हिन्दी मुक्तकों का यह निजी वैशिष्ट्य है जो उसे मुक्तक परम्परा से अलग करता है। वैदिक, संस्कृत, प्राकृत में कला और भाव दोनों पर बराबर ध्यान दिया गया था। प्राकृत की 'गाहा सतसई' में कलात्मकता का पलडा कुछ-कुछ भारी होने लगा था हिन्दी रीति मुक्तकों का आदर्श बहुत कुछ प्राकृत की 'गाहा सतसई' पर ही आधारित है।

हिन्दी मुक्तकों की भाषा का रूप अधिकांशतः हिन्दी भाषा के विकास से जुड़ा हुआ है। सन्तों के निर्गुण भक्तिपरक मुक्तकों की भाषा ने अपभ्रंश के बहुत से तत्त्वों को अपनी प्रकृति में सजो लिया है किन्तु भाषा में धीरे-धीरे लोच, वक्रता, सौष्ठव, माधुर्य आता गया। रीति मुक्तकों की भाषा वैशिष्ट्य के सम्बन्ध मे साराश रूप से कहा जा सकता है कि 'रीति काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता कवियों की शब्द साधना में प्रस्फुटित हुई है। शब्दों को खोजना उसको शोधकर, माँजकर प्रयोग करना, उसके भीतर नाद सौन्दर्य अर्थ चमत्कार और उक्ति वैचित्र भरना, यह सब रीति कवियों की सामान्य विशेषता है।[1]

पदों के अलावा हिन्दी मुक्तकों का लोकप्रिय छन्द दोहा, कवित्त तथा सवैया है। अपभ्रंश का दूहा ही अब दोहा बन गया था। इसी का दूसरा रूप सोरठा है जो दोहा को उलट देने पर बनता है। रीति मुक्तककारों ने निःसन्देह रूप से दोहा रूपी गागर में सागर भरने का सफल प्रयत्न किया। कवित्त तथा सवैया का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया। भक्तिपरक मुक्तकों में भी इन्हें लोकप्रियता मिली क्योंकि इन छन्दों मे भाव-विस्तृति का किंचित अधिक अवसर मिलता है।

●

1. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीति साहित्य पृ० १२५।

अपभ्रंश के मुक्तक कवि और काव्य

अपभ्रश में कुछ स्वतन्त्र मुक्तक काव्य उपलब्ध है कुछ स्फुट मुक्तक अलंकार तथा छन्द के लक्षण ग्रंथो मे उद्धरण रूप में पाये जाते है। उद्धरणो के रूप मे प्राप्त मुक्तकों के विषय में यह जानकारी प्राप्त करना कठिन है कि इन्हे लक्षणकार ने स्वयं रचा है कि कहीं अन्यत्र से ग्रहण किया है। कुछ मुक्तको को छोड़कर बाकी के स्रोत का पता नहीं है। कालक्रम की दृष्टि से उनका अन्तिम समय उद्धरणकर्त्ता का ही समय है। नीचे मुक्तक कवियो तथा उनके मुक्तक काव्यो का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :

कालिदास

अपभ्रश मुक्तको की सर्वप्रथम रचना करनेवाले कालिदास माने जा सकते हैं। कालिदास सस्कृत साहित्य के मूर्धन्य नाटककार तथा महाकवि हे। इनका समय पहली शती से लेकर छठी शती तक माना जाता है। अनेक मतो का परीक्षण करने के बाद यह निश्चित किया गया है कि ये गुप्त काल के स्वर्ण-युग मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालिक (३६५ ई०-४३० ई०) रहे होगे।[1]

मुक्तक कृतियाँ

कालिदास रचित कुछ मुक्तक छन्द (द्विपदी और चर्चरी) विक्रमोर्वशीयम् चतुर्थ अंक में आये हैं जब पुरुरवा मूर्छित अवस्था में है। सपादनकर्त्ताओ ने इनका ऐसा रूप निर्धारित किया है जो प्राकृत के अधिक निकट है। कुछ विद्वान् तो इन्हे प्रामाणिक भी नही मानते। इसका कारण है कि कालिदास की अन्य कृतियो मे अपभ्रंश भाषा का प्रयोग नही मिलता। किन्तु यह भी संभव है कि अज्ञानवश प्राकृत और अपभ्रश के भेद को निर्दिष्ट न कर पाने के कारण अपभ्रंश मुक्तको को प्राकृत के रूप मे संपादित किया गया हो। इन मुक्तको मे पुरुरवा के वियोग का वर्णन किया गया है। पुरुरवा बादलो के मध्य चमकती बिजली देखकर सोचता है कि उसकी प्रियतमा उर्वशी को कोई राक्षस उठा ले जा रहा है :—

---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास—पृ० ६१ संस्कृत विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

मइ जाणिअ मिअलोअणि णिसअरु काइ हरेइ ।
जाव णु णवतडिसामल धाराहरु वरिसेइ ॥[1]

जैन मुक्तक कवि और काव्य

जोइन्दु—कालिदास के पश्चात् अपभ्रंश मुक्तको की रचना करने वाले किसी कवि का पता नहीं है। यदि ए० एन० उपाध्ये द्वारा निर्धारित जोइन्दु का समय छठी शताब्दी मान लिया जाय तो ये सर्वप्रथम अपभ्रंश मुक्तक कवि सिद्ध होते है जिनकी दो मुक्तक कृतियाँ 'परमात्म प्रकाश' तथा 'योगसार' उपलब्ध है। 'योगसार' में इनका नाम जोगचन्द मिलता है।[2] तथा टीकाकार ब्रह्मदेव भट्ट ने जोइन्दु का संस्कृत रूपान्तर योगीन्दु का प्रयोग किया है। पर्यायवाची नामो का प्रयोग भारतीय परम्परा के अनुकूल है। जोगिचन्द (जोगचन्द) का चन्द और जोइन्दु का इन्दु दोनों पर्याय है किन्तु योगीन्द्र का इन्द्र इनके तुल्य नही हैं। इसी आधार पर डा० वासुदेव सिंह ने योगीन्द्र नाम का प्रयोग गलत माना है।[3]

समय निर्धारण

जैन साधक तथा कवि जोइन्दु का जीवन काल बडा विवादास्पद है क्योंकि कवि ने स्वयं अपने विषय में कोई उल्लेख नही किया है। थोडे बहुत साधारण प्रमाणो के आधार पर विद्वानो ने इनके विषय में तरह-तरह के अनुमान लगाये हैं। श्री ए० एन० उपाध्ये ने देवसेन के 'तत्वसार' के कुमार सेन के 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' रामसिंह के 'पाहुड दोहा' आदि पर जोइन्दु का प्रभाव सिद्ध किया है। हेमचन्द्र के व्याकरण मे उद्धृत अंशो का उल्लेख करते हुए जोइन्दु को इनके पूर्व का कवि माना है। कन्द ने अपने 'प्राकृत लक्षणम्' में एक सूत्र को समझाने के लिए निम्न दोहे को उद्धृत किया है :—

कालु लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ ।
तिम-तिम दंसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥[4]

---

१. सपादक एम० आर० काले : विक्रमोर्वशीयम्—चतुर्थ अंक परिशिष्ट (कालिदास)।

२. सं० ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश और योगसार—पृ० ३६४।

३. डा० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद—पृ० ३६।

४. परमात्म प्रकाश—प्रथम खण्ड, पृ० ८५।

जोइन्दु पूज्यपाद से काफी प्रभावित हैं। पूज्यवाद ५वीं शताब्दी ई० के अन्तिम चतुर्थांश में जीवित थे इन तथ्यों पर विचार करके उपाध्ये महोदय ने निष्कर्ष रूप मे जोइन्दु का समय छठी शताब्दी ईसवी में निश्चित किया।[1] बिना किसी विस्तृत व्याख्या, प्रमाण आदि के श्री उदय सिंह भटनागर ने जैन साधु जोइन्दु को महान् विद्वान् तथा वैयाकरण कवि माना है तथा चित्तोड का निवासी सिद्ध किया है। भटनागर जी के अनुसार इनका समय १०वीं शताब्दी है।[2] कामता प्रसाद जैन जोइन्दु को बारहवीं शताब्दी का पुरानी हिन्दी का कवि मानते है।[3] जोइन्दु के ऊपर सिद्धों तथा नाथों का प्रभाव मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें योगियों और तान्त्रिको से बहुत भिन्न नही माना है।[4] आत्मसाधन तथा अनुभूति पर जोर देने वाले इन कवियों मे बाह्याचार का विरोध, चित्त शुद्धि पर बल आदि बाते समान रूप से पायी जाती है। सरहपाद को महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि सिद्ध मानते है तथा इनकी मृत्यु ७८० ई० स्वीकार करते हैं।[5] इसी आधार पर डा० वासुदेव सिंह इनका समय आठवी शताब्दी निर्धारित करते है।[6] किन्तु सिद्धों का समय अब भी विवाद का विषय है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। जोइन्दु के समय निर्धारण मे इसे आधार मानना अधिक उचित नहीं है। वासुदेव सिंह ने 'योगसार' के दो दोहों को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है :

देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
इउ जाणे विणु जीव तुहं अप्पा अप्प मुणेहि॥
चउरासी लक्खहिं फिरिउ कालु अणाइ अणंतु।११
पर सम्मतु ण लद्धु जिय एहउ जाणि णिभंतु॥२५

इन दोहों मे देहादिउ 'जे, परि, ते, चउरासी, लक्खहिं आदि शब्द हिन्दी के

१. वही, पृ० ६७।

२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज (तृतीय भाग) प्रस्तावना, पृ० ३।

३. कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—पृ० ५४।

४. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म साधना—पृ० ४४।

५. महापंडित राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० ४।

६ डा० वासुदेव सिंह अपभ्रंश और हिन्दी में जैन पृ० ४०

माने गये है। किन्तु 'जे' शब्द संस्कृत ये का रूप है प्राकृत मे ही य का ज होने का नियम है। 'ते' संस्कृत तद् शब्द का बहुवचन का रूप है। यही नहीं प्राकृत तथा अपभ्रंश में बहुत से शब्द रूप हिन्दी के निकट आ गये थे। इसलिए इन आधारो को अपने आपमे अधिक ठोस नही माना जा सकता है। डा० हरिवंश कोछड़ ने लिखा है कि 'योगीन्द्र का समय आठवी शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है।'[1] बाणभट्ट तथा ह्वेनसांग के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि हर्षकालीन भारत मे धार्मिक अनेकता तथा बाह्याडम्बरो का प्रभाव अधिक था। ह्वेनसांग लिखता है 'कुछ लोग मोरपुच्छ धारण करते थे, कुछ मुण्डमाला द्वारा अपने को अलंकृत करते थे। कुछ बिलकुल नंगे रहते थे। कुछ बालो को उखाड़ते और मूँछो को कटवाते थे। कुछ सिर पर वृत्ताकार चोटी रखते थे। 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' में मस्करी भागवत, वर्णी, कापिल, लोकायतिक, काणाद, औपनिषदिक, ऐश्वरकारणिक, धर्मशास्त्री, पौराणिक, शाब्दिक, पाचरात्रिक, पाशुपत, शैव इत्यादि सम्प्रदायो के नाम मिलते है[2] आगे चलकर यह स्थिति और बिगड गयी होगी। बहुत कुछ संभव है कि जोइन्दु ऐसे ही समय में हुए हों तथा इसी कारण उन्होने चित् शुद्धि पर जोर दिया तथा बाह्याडम्बरो का विरोध किया। भारतीय दर्शन में योग बहुत पुराना है तान्त्रिको तथा कापालिको ने हर्षकाल मे ही जोर पकड लिया था। हर्षवर्धन की मृत्यु ६४७ में हुई थी। अतः जोइन्दु का समय सातवी शती का अन्तिम तथा आठवी शती के प्रारम्भ के बीच हो सकता है।

मुक्तक कृतियाँ

जोइन्दु द्वारा रचित दो मुक्तक रचनाएँ उपलब्ध है :—

(१) परमात्म प्रकाश।

(२) योगसार।

'परमात्म प्रकाश' निःसन्देह रूप से जोइन्दु की रचना है। कवि इस कृति में स्वयं अपने नाम का उल्लेख करता है। उपाध्ये लिखते है—वास्तव में यह जोइन्दु की महानतम् रचना है और उनकी आध्यात्मिक ख्याति इसी पर है।[3]

---

१ डा० हरिवंश कोछड़ा : अपभ्रंश साहित्य—पृ० २६८।

२ डा० विमल चन्द्र पाण्डेय . प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० ३२२।

३. ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश—भूमिका, पृ० ५८।

'परमात्म प्रकाश' की रचना शिष्य भट्ट प्रभाकर के प्रश्नो का उत्तर देने के लिए हुई।

ग्रन्थ का विभाजन दो खण्डों मे हुआ है तथा कृति का आरम्भ नमस्कारात्मक दोहो से होता है। 'परमात्म प्रकाश' में आत्मा के तीन रूपों बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा का स्वरूप, जीव तथा शरीर का अन्तर, आत्मा परमात्मा मे अभेद, परमात्मा का स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति मे ज्ञान का महत्त्व, चित्त शुद्धि, द्रव्य, पुद्गल, समाधि, सम्यक् चरित्र, इन्द्रियनिग्रह आदि का विशद वर्णन किया गया है।

योगसार :

'योगसार' जोइन्दु की द्वितीय कृति है जो कि "परमात्म प्रकाश' के साथ ही ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित होकर प्रकाशित हुई है। 'योगसार' का विषय भी 'परमात्म प्रकाश' की तरह आध्यात्मिक ही है। इसमे पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता, पुण्य पाप दोनों को त्यागने का उपदेश, सम्यक दर्शन, पर भाव तथा बाह्य उपकरणों का त्याग, आत्मा को गुरु तथा देव सब के रूप मे मान्यता देना, आत्मा की निर्लिप्तता, गुरु की महत्ता आदि का निरूपण किया है। 'परमात्म प्रकाश' तथा 'योगसार' मे मूल अन्तर यह है कि 'परमात्म प्रकाश' की रचना शिष्य को समझाने के लिए की गयी थी और योगसार की रचना आत्म प्रबोधनार्थ की गयी।[१]

मुनि रामसिंह

मुनि रामसिंह का जीवन-काल तथा जन्म स्थान विवादास्पद तो है ही उनके अस्तित्व के विषय मे भी विद्वानो में मतभेद है। डॉ० हीरालाल जैन तथा डॉ० वासुदेव सिंह को 'पाहुड दोहा' की कुछ प्रतियो में रचनाकार जोइन्दु का नाम मिला। जैन साहब को प्राप्त होनेवाली कोल्हापुर वाली प्रति में इति श्री योगेन्द्र देव विरचित दोहापाहुडं नाम ग्रन्थं समाप्तं लिखा है। पुस्तक के दोहा नं० २११ मे रामसिंह का भी नाम है।[१] दिल्ली वाली प्रति मे तो स्पष्ट रूप से रामसिंह का ही उल्लेख है इति श्री मुनि रामसिंह विरचिता पाहुड दोहा समाप्तं। डॉ० सिंह को प्राप्त होनेवाली जयपुर वाली प्रति में कुछ दोहों

---

१. अणुपेहा वारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण॥ २११

का क्रमादि भिन्न है किन्तु उल्लेख रामसिंह तथा जोइन्दु दोनो का है ।[1] इसके आधार पर मुनि रामसिंह तथा जोइन्दु दोनो एक ही व्यक्ति के दो नाम सिद्ध होते है । रामसिंह सामान्य तथा प्रारम्भिक नाम हो सकता है तथा जोइन्दु जैन धर्म में दीक्षित तथा सिद्ध होने का नाम हो सकता है । जब रामसिंह जैन मुनि हुए हों तो अपना नाम बदल कर योगीन्द्र या जोगीन्दु कर लिया हो यह सम्भव नहीं[2] योगीन्द्र का अर्थ योगियों से इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ है ।

मुनि रामसिंह के जीवन से सम्बन्धित कोई सामग्री उपलब्ध नही है । डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार नाम से ये मुनि अर्हद्वलि आचार्य द्वारा स्थापित 'सिंह', सघ के अनुमान किये जा सकते है । ग्रन्थ में करहा की उपमा बहुत आयी है तथा भाषा में भी राजस्थानी हिन्दी के प्राचीन मुहाविरे दिखाई देते है । इससे अनुमान होता है कि ग्रंथकार राजपूताना प्रान्त के थे ।[3] जैन साहब का यह अनुमान पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नही है । 'परमात्म प्रकाश' तथा 'दोहाकोष' (सरहपाद) के दोहों मे भी मन के लिए करह शब्द का प्रयोग मिलता है । इसके अतिरिक्त मन-करहा-रास नाम की एक रचना भी प्राप्त हुई है ।

समय निर्धारण :

अन्य बातो की तरह मुनि रामसिंह के समय का भी कोई पुष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । डॉ० हीरालाल जैन ने 'परमात्मा प्रकाश' तथा सावयधम्म दोहा' दोनो रचनाओं को मुनि रामसिंह की रचना 'पाहुड दोहा' से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है ।[4] व्याकरणकार हेमचन्द ने अपना पूर्ववर्ती काव्य कृतियो से उदाहरण के रूप में कुछ दोहो को उद्धृत किया है । अतः 'परमात्म प्रकाश' के रचयिता जोइन्दु 'सावयधम्म दोहा' के रचयिता देवसेन तथा 'पाहुड दोहा'

१. अणुपेहा वारह'वि जिय भवि-भवि एक्क मणेण ।
रामसीकु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण ॥
जयपुर वाली प्रति । इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोगीन्दु विरचित दोहा पाहुडयं समाप्तानि । उद्धृत अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद— पृ० ४८ ।

२. वही, पृ० ४६ ।

३. डॉ० हीरालाल जैन : पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० २७, २८ ।

४ वही, पृ० २८-३३ ।

के रचयिता रामसिंह हेमचन्द्र के पूर्व हुए थे हेमचन्द्र का समय सं० (११४५-१२२९) माना जाता है। देवसेन ने 'दर्शनसार' में अपने समय का स्वतः उल्लेख किया है जिसके आधार पर उनका समय दसवीं शताब्दी निश्चित होता है।[3] अतः मुनि रामसिंह १०वीं तथा १२वीं के बीच ११वीं शताब्दी में हुए थे।

पाहुड दोहा :

'पाहुड दोहा' मुनि रामसिंह की एकमात्र उपलब्ध रचना है। हस्तलिखित प्रतियों में इसका नाम 'पाहुड दोहा' तथा 'दोहा 'पाहुड' दोनों मिलता है। दिल्लीवाली प्रति में ग्रंथ का प्रारम्भ 'अथ पाहुड दोहा लिख्यते' और अन्त इति श्री मुनि रामसिंह विरचिता पाहुड दोहा समाप्तं। कोल्हापुरवाली प्रति के अन्त में तथा जयपुरवाली प्रति के अन्त में 'दोहा पाहुडयं' का उल्लेख है।[1] इससे भ्रम होता है कि कृति का सही नाम 'दोहा पाहुड' माना जाय कि 'पाहुड दोहा।' पाहुड शब्द संस्कृत प्राभृत का अपभ्रंश रूप है। प्राभृत का अर्थ होता है उपहार। डॉ० हीरालाल जैन ने 'पाहुड दोहा' का अर्थ किया है दोहों का उपहार।[2] पाइअसद्दमहण्णवो में पाहुड का अर्थ परिच्छेद और अध्याय भी बताया गया है।[3] डॉ० हीरालाल जैन ने 'पाहुड दोहा' नाम से इस ग्रंथ का संपादन किया है किन्तु वासुदेव सिंह दोहा पाहुड अधिक उचित मानते हैं क्योंकि परिच्छेद या प्रकरण और उपहार दोनों दृष्टियों से इसकी उपयुक्तता सिद्ध होती है।[4] पाहुड दोहा का अर्थ हुआ उपहार के दोहे और दोहा पाहुड का अर्थ हुआ दोहों का उपहार। दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है। चूंकि कृति का प्रकाशन पाहुड दोहा के नाम से हुआ है अतः यही नाम स्वीकृत किया जाना चाहिए।

---

१. पुव्वायरिय कयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण मुणिणा धाराए संवसंतेण॥ ४९
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥ ५०॥

२. डॉ० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ०५१।

३. डॉ० हीरालाल जैन : पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० १३।

४. पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ : पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ७२२।

५. डॉ० वासुदेव सिंह, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद पृ० ५२

जैन मुनि रहस्यवादी कवि रामसिंह ने धार्मिक कट्टरता से अलग होकर अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। उन्होंने आत्मा को नित्य वर्णहीन तथा ज्ञानमय माना है। यद्यपि आत्मा का वास शरीर में ही है किन्तु वह शरीर से पूर्णतया भिन्न है। आत्म स्वरूप के ज्ञान के लिए बाह्याचार व्यर्थ है। कवि ने आत्म-साक्षात्कार के लिए गुरु की कृपा नितान्त आवश्यक मानी है। 'पाहुड दोहा' में यत्र-तत्र रूपकों तथा उपमाओं के सुन्दर चुनाव से काव्य सौन्दर्य अनायास ही आ गया है। 'पाहुड दोहा' में कुल २२२ पद्य प्रयुक्त है जिसमें १७ पद्य प्राकृत में है, तीन पद्य संस्कृत में है। शेष सब अपभ्रंश में है। कृति की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश कही जा सकती है। कृति में अधिकतर दोहा छन्द का प्रयोग किया है।

देवसेन

सावयधम्म के रचयिता देवसेन का समय अनिश्चित नहीं है। इन्होंने अपनी एक कृति 'दर्शनसार' में स्वतः उल्लेख किया है। कवि कहता है कि उसने धारानगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत ९९० की माघ सुदि १०वी शताब्दी को दर्शनसार समाप्त किया यथा—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे महासुद्धदसमीए ॥[1]

अतः सिद्ध है कि इसकी रचना सं० १००० ई० के लगभग मालवा प्रान्त के धारानगरी में हुई। देवसेन का समय भी यही था। इसके अतिरिक्त कवि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सावयधम्म दोहा :

'सावयधम्म दोहा' देवसेन की कृति है कि नहीं यह भी विवाद का विषय है। इस ग्रंथ के मूल भाग में कर्ता का उल्लेख नहीं है। संपादन के समय प्रो० हीरालाल जैन को तीन पोथियों के उल्लेख से ज्ञात हुआ कि इसके रचयिता लक्ष्मीधर या लक्ष्मीचन्द्र है जो सम्भत १५८२ के लगभग हुए थे। किन्तु भ प्रति के अन्तिम श्लोक से इस मत की सत्यता पर सन्देह हुआ। इस

---

१. देवसेन दर्शनसार : दोहा, ४९, ५०।

श्लोक में प्रस्तुत ग्रंथ के साथ मूल ग्रंथकार योगीन्द्रदेव पंजिकाकार लक्ष्मीचन्द्र और वृत्तिकार प्रभाचन्द्र मुनि का उल्लेख है। इसी कथन के साथ पहली प्रति के अन्तिम वाक्य मे कहा गया है कि संवत १५५५ कातिक सुदि १५ सोमवार को विद्यानन्दि के पट्ट पर अधिष्ठित मल्लिभूषण के शिष्य पं० लक्ष्मण के पठनार्थ लिखी गयी।[१] जोइन्दु के 'परमात्म प्रकाश' तथा देवसेन के 'सावयधम्म दोहा' के कुछ दोहों मे सादृश्य है।[२] किन्तु सम्यक् रूप से दोनो के दृष्टिकोण तथा विचारधारा मे बहुत अन्तर है। 'सावयधम्म दोहा' आचार-परक काव्य है किन्तु 'परमात्म प्रकाश' रहस्यवादी काव्य है। इस ग्रंथ मे किसी आध्यात्मिक प्रगति की भी सूचना नही मिलती जो यह सिद्ध कर सके कि योगीन्द्र अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की पराकाष्ठा पर पहुँचने के पूर्व गृहस्थाश्रम मे इस ग्रंथ की रचना की होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि 'सावयधम्म दोहा' जोइन्दु (योगीन्दु) की रचना नहीं है।

इस ग्रन्थ मे कोई गूढ़ चिन्तन नही मिलता। कवि ने सामान्य श्रावको को उपदेश दिया। इसमे दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोपधोपवास, सचित्त त्याग ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म के परिपालन का वर्णन किया गया है।

इस ग्रंथ की भाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अपभ्रंश तथा अवहट्ट का वही रूप है जो १०-११वी शताब्दी में लगभग समस्त उत्तर भारत मे प्रचलित थी।

सुप्रभाचार्य

सुप्रभाचार्य का जीवन काल तथा जन्म स्थान ज्ञात नही है। 'वैराग्यसार' नामक कृति मे बार-बार सुप्पउ भणइ मिलता है जिससे इनके नाम का पता चलता है। 'वैराग्यसार' मे जोइन्दु तथा रामसिंह से मिलता-जुलता भाव पाया जाता है जिसके आधार पर सुप्रभ का समय दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है।

वैराग्यासार :

वैराग्यसार ७७ दोहो की एक छोटी सी कृति है जो प्रो० एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित की गयी है। यह कृति आचारपरक न होकर अनुभूति-

---

१. देवसेन : सावयधम्म दोहा, पृ० ५-६।

२. सम्पा० डा० हीरालाल जैन : सावयधम्म दोहा, भूमिका पृ० ७।

परक है। संसार के प्रति होने वाले माया मोह को त्याग कर वैराग्य भाव अपनाने का उपदेश दिया गया है। यह ससार सुख-दुख से परिपूर्ण है। धन सम्पत्ति क्षणिक है मानवदेह नश्वर तथा संसार के सभी सम्बन्ध अस्थायी है।

जिनदत्तसूरि

जिनदत्तसूरि के जीवन के विषय मे विस्तार से उल्लेख मिलता है। उनके अनेक शिष्यो ने उनका विवरण बड़े आदर मे दिया है। इन शिष्यो में जिनपति सूरि, पूर्णभद्र गणि, जिनपाल गणि, सुमति गणि आदि प्रमुख है। श्री धर्मदेव उपाध्याय की पत्नी ने संयत अभिगति के लिए चतुर्मासी किया था। वहाँ क्षपणक भक्त वाच्छिग श्रावक की पत्नी वाहडव देवी अपने पुत्र के सहित धर्म श्रवण के लिए आयी। उस पुत्र को विशेष गुणवान् जानकर साध्वियों ने गुरु को समर्पित करने के लिए कहा। उपाध्याय के यह पूछे जाने पर कि यह बालक कितने दिन का है उसकी मां ने कहा 'एकादशशतद्वात्रिंशत्संवत्सरे जात इति' अर्थात् जिनदत्तसूरि का जन्म ११३२ में हुआ था। ११४१ में उपाध्याय ने उस बालक को दीक्षा देकर सोमचन्द्र नाम रखा।[1] वे बचपन से ही प्रतिभावान थे तथा हर नगर मे घूमकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। श्री जिनवल्लभ सूरि के देहावसान के बाद सोमचन्द्र ने उनका स्थान ग्रहण किया और तब से वे जिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके बाद उन्होंने मरुस्थलीय नगरो, नागपुर, अजमेर, देवगृह, वागजडदेश में बिहार किया। उनकी भेंट अर्णोराज तथा जयदेव आचार्य से भी हुई थी। ख पट्टावली मे उल्लेख है कि श्री जिनदत्त सूरय: संवत १२९१ आषाढ़ सुदि एकादश्या अजमेरुनगरेऽनशनं कृत्वा स्वर्गं गताः ॥४१॥[2] श्री जिनदत्तसूरि ने संवत १२९१ आषाढ़ सुदि एकादशी अजमेर नगर मे अनशन करके स्वर्ग चले गये।

मुक्तक कृतियाँ

जिनदत्तसूरि रचित तीन अपभ्रंश रचनायें उपलब्ध हैं। ये रचनायें जैन धर्म से संबंधित हैं।

(१) चर्चरी

'चर्चरी' की रचना जिन वल्लभ सूरि के स्तुत्यार्थ हुई है। कवि त्रिभुवन

१. सम्पादक लालचन्द भगवान दास गाँधी : अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ४१।

२. वही, पृ० ६०।

स्वामी शिवगति गामी जिनेश्वरधर्म के चन्द्रमा के समान निर्मल पद्मकमलो को नमस्कार करके युग-प्रवर, जिन वल्लभ के गुणो की स्तुति करता है। जिन वल्लभ व्याकरण, शुभलक्षण, शब्द, अशब्द, छन्द, गुरु लघु आदि के ज्ञाता है। उनमे अपूर्व नवरस युक्त काव्य रचना की शक्ति है। इसके बाद जिनदत्त सूरि ने चैत्यगृह के विधि-विधान का प्रसंग छेड़ा है। गुरु जिन वल्लभ द्वारा की गयी चैत्यगृहीय व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करता है। कवि अन्त मे जिन वल्लभ की गुरुपरम्परा का वर्णन करते हुए युग-श्रेष्ठ, परमार्थ के समय को जानने वाले बहुत से लोगो के लिए दुर्लभ जिन वल्लभ सूरि की स्तुति करता है।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना कंद छन्द में हुई है। कवि काव्यशास्त्रीय तत्त्वों से परिचित जान पड़ता है।

कालस्वरूप कुलक—३२ छन्दो की एक छोटी सी रचना है। इसका वर्ण्य-विषय भी जिनदत्त सूरि रचित अन्य दो ग्रंथो के समान ही है। ग्रंथकर्त्ता जिन वल्लभ को प्रणाम करके सुगुरु का उपदेश देने का निश्चय करता है।

गुरु के वचनो से मोह निद्रा का त्यागकर राग, द्वेष, मोह को जो पराजित कर देते हैं वे सिद्ध-पुरन्ध्री का निश्चय ही भोग करते है।

कवि पाखण्डो का विरोधी है। राग-द्वेष मे विलसित लुंचित सिरवाले जैन को भी वह श्रेष्ठ नही समझता।

उपदेश रसायन-रास

इस कृति मे सुगुरु, कुगुरु, सुपथ, कुपथ, लोक-प्रवाह, चैत्य विधि, तथा विविध धर्मों के स्वरूप बोधक उपदेश दिये गये हैं। मनुष्य जन्म पाकर हारना नही चाहिए। आत्मा को भवसमुद्र से तारने का उद्योग करना चाहिए। आत्मा को राग तथा रोष को अर्पित करने से तथा सर्व दोषों के निधान करने से मनुष्य जीवन व्यर्थ हो जायेगा। कुपथ पर चलनेवाले तथा पतित व्यक्ति का कुल मे जन्म लेना व्यर्थ है। कवि अपने उपदेश को रसायन कहता है तथा उसका फल बताता है—

> इयजिणदत्तु वएसरसायणु
> इह परलोयह सुक्खह भायणु।
> कण्णं जलिहिं पियंति जि भव्वइं
> ते हवंति अजरामर सव्वई॥

महयंद मुनि

दोहापाहुड या दोहा वेल्लि के रचयिता महायंद मुनि का रचनाकाल बिलकुल स्पष्ट नही है। 'आमेरशास्त्र भण्डार' से प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति मे उल्लेख है कि 'संवत् १६०२ वर्षे वैसाख सुदि १० तिथौ रविवासरे नक्षत्र उत्तर फाल्गुने नक्षत्रे राजाधिराज साहि आलमराजे। नगर चंपावती मध्ये श्री पार्श्वनाथ चैत्यालए—श्री धर्मचन्द्र देवा।[1] इससे सिद्ध होता है कि रचनाकार का समय संवत् १६०२ के पहले ही था। जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्र भाण्डार से प्राप्त होनेवाली प्रति मे लिपिकाल पौष सुदी १२ बृहस्पति स० १५९१ का उल्लेख है।[2] डॉ० वासुदेव सिंह ने विरचित सत्तावीस के आधार पर महयंद मुनि की रचना का समय वीर संवत् १७२० (वि० संवत् १२५०) माना है। तिथि निर्धारण ने उन्होने उक्त काव्य की भाषा को १३वी शताब्दी का माना क्योकि १८वी शताब्दी में इस प्रकार के अपभ्रंश के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय तो जैन कवि भी हिन्दी में ही रचना कर रहे थे।[3] डा० हरिवल्लभ भायाणी के अनुसार यह काल-निर्धारण पूर्ण रूप से भ्रात है।' वैसे छठवें छन्द मे, 'विरचिय सत्तावीस' ऐसे शब्दो का बिलकुल गलत अर्थ समझ कर उन्होंने कृति का रचना-वर्ष १३२० है ऐसा मान लिया है और कृति की दो प्रतियो के लिपिकाल (वि० स० १५९१ तथा १६०२) से इसका विरोध मिटाने के लिए उन्हे बिना किसी आधार के इसको वीर निर्वाण संवत् लेना पड़ा। वस्तुतः सारे छठे दोहे का डॉ० वासुदेव सिंह ने जो अर्थ किया है वह पूर्ण रूप से भ्रात है।[4] भायाणी जी ने सत्तावीस पाठ को सत्तावीस करके उसका अर्थ सत्ताइस लिया है जो ठीक भी है। उनका कथन है कि कृति मे रचनाकाल का कोई निर्देश नही है।[5] जब तक कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता तब तक इस ग्रन्थ का रचनाकाल १३वी शताब्दी माना

---

१. डॉ० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद, पृ० ६२।

२. अनेकान्त (वर्ष १२, किरण ५) अक्टूबर, १९५२ पृ० १५६-५७।

३. डॉ० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद—पृ० ६३।

४. डॉ० हरिवल्लभ भायाणी : मरुभारती (पत्रिका) जनवरी, १९७३ पृ० ५७।

५. संपादक, डॉ० कन्हैयालाल : मरुभारती, जनवरी, १९७३ अंक पृ० ५६।

जाना चाहिए। जैनधर्म सबधी यह रचना १२-१३वी शताब्दी अर्थात् मुनि रामसिंह आदि के आस-पास की होनी चाहिए। अतः महयंद मुनि का समय १२-१३वीं शताब्दी सिद्ध होता है। कवि के गुरु का नाम वीरचन्द्र था।

रचनाएँ :

महयंद मुनि की एक रचना प्राप्त हुई है जिसके नामकरण के संबध मे पर्याप्त विवाद है। हस्तलिखित प्रति के अन्त में इति 'पाहुडं समाप्तं' दिया हुआ है। इसके आधार पर वासुदेव सिंह ने इस कृति का नाम दोहा—पाहुड' या बारहखडी माना है। कृति के अन्तर्गत 'दोहा पाहुड जैसा कोई नाम नही मिलता। कृति के पाँचवे छन्द में दोहावेल्लि' दिया हुआ है। डॉ० भायाणी ने इसी को प्रस्तुत कृति का उचित नाम माना है। उन्होने 'दोहा वेल्लि' तथा राउर वेलि को उपलब्ध वेलि काव्यों मे सबसे प्राचीन माना है। 'दोहावेल्लि' की रचना ककहरा के रूप मे हुई। दोहों की संख्या आदि पर कवि ने स्वतः प्रकाश डाला है :—

> तेत्तीसह छह छंडिया, बिरचिय सत्तावीस।
> बारह-गुणिया तिण्णिसय, हुअ दोहा चउबीस॥

पाँचवे छन्द मे भी कवि ने कुल छन्द संख्या ३३४ बताई है चउती सग्गल तिण्णि सय' दोनो छन्दो में व्यक्त ३२४ और ३३४ की असंगति को मिटाते हुए डॉ० भायाणी ने लिखा—प्रारम्भ के प्रस्तावना रूप सात छन्द, इसके बाद मुख्य विषय के ककहरा पद्धति के ३२४ छन्द (ये सभी दोहे जान पडते है, केवल अन्तिम छन्द ३३१वाँ छन्द गाथा है और उसकी भाषा भी प्राकृत है और उपसंहार के तीन छन्द (३३३ और ३३४) एक ही रासावलय छन्द के दो अर्ध है और अन्तिम छन्द १६+१२, १६+१२, इस मापवाला कर्पूर नामक उल्लास है) ऐसे ३३४ छन्दो की संख्या बराबर होती है।[1]

कृति का विषय रामसिंह, जोइन्दु आदि रहस्यवादियों की तरह है। कवि कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुतप तथा कुमार्ग को छोडकर मिथ्या भाव का परित्याग कर सम्यक् दर्शन मे सलग्न होने का परामर्श देता है।[2] कृति में धार्मिक सम्बद्धता तथा नीरसता अधिक है।

---

१. मरुभारती पत्रिका, पृ० ५७ जनवरी, १९७३ का अंक।

२ महयंद मुनि दोहावेल्लि या दोहापाहुड दोहा १२ ४०

महाणंद देउ या आणंदा

महाणंद देउ की 'आणंदा' नाम की एक रचना प्राप्त है। आमेर शास्त्र भण्डार तथा अगरचन्द नाहटा के पास इसकी एक एक प्रति सुरक्षित है। कासलीवालजी कवि और कृति दोनो का नाम आणंदा मानते हैं।[1] नाहटा जी का मत है 'जहाँ तक रचना के नामकरण का प्रश्न है, इसमें आनेवाले आणंदा शब्द के पुनः-पुनः आने के कारण ही किसी लेखक ने यह नाम लिख दिया है। कर्त्ता के नाम के साथ इसका संबंध नहीं है न रचयिता ने इसका यह नाम रखा ही होगा।[2] श्री कामताप्रसाद जैन ने लिखा कि 'मुनि महानदि देउ ने 'आनन्दतिलक' नामक रचना साधुओं और मुमुक्षुओं के संबोधन के लिए आध्यात्मिक सुभाषित नीति रूप गोपाल साहू के लिए रची।[3] इन समस्त उल्लेखो से कवि का वास्तविक नाम, रचनाकाल आदि अत्यधिक विवादास्पद हो जाता है। श्री नाहटा जी ने कवि का सही नाम महाणंददेउ सुझाया है और प्रमाण हेतु निम्नलिखित दोहो को उद्धृत किया है :—

> **चिदाणंद साणंद जिणु समल सरीर हसोइ।**
> **महाणंदि सो पूजायइ, आणंदागगन मण्डल थिर होइ॥**
> **महाणंदि इ इ वालियउ आणंदा जिणि दरसाविउ मेउ॥आणंदा॥**

आनन्द तिलक, महानन्द, आणंदा तीनों नामों में कोई खास अन्तर नही है। ये एक ही नाम के अन्य रूपान्तर है।

कवि के समय के विषय मे भी श्री कासलीवाल जी के अनुसार महानन्द कृत रचना अवश्य बारहवी शताब्दी के आसपास की है।[4] यद्यपि यह अपभ्रंश के बहुत निकट की लगती है पर शब्द प्रयोग परवर्ती लोकभाषा के यत्र-तत्र पाये जाते है। उसे देखते हुए इसका रचनाकाल भी १२वी से बाद का १३वी, १४वी का होना चाहिए।[5] इस आधार पर आणदा का समय १२वी से १४वीं शताब्दी के बीच सिद्ध होता है। डॉ० वासुदेव सिंह ने कई दोहों को उद्धृत

---

१. वीर वाणी, वर्ष ३, अंक १४, १५, पृ० १६७-१६८।

२ ,, (अंक २१, पृ० २८१-८२)।

३. कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास, पृ० ८६।

४. वीरवाणी (वर्ष ३, अंक १४, १५) पृ० १६७।

५. ,, अंक २१, पृ० २८१।

करके आणंदा का भाषा, भाव दोनों दृष्टियो से 'परमात्म प्रकाश' 'योगसार' 'दोहा पाहुड' से अद्भुत साम्य दिखाने का प्रयास किया है। यद्यपि आणंदा की भाषा मे कुछ परवर्ती रूप मिल जात है परन्तु योगीन्द्र तथा रामसिंह से ये बहुत अलग नहीं हैं। इसी आधार पर निष्कर्ष रूप मे डॉ० सिंह ने लिखा 'मेरा अनुमान है कि आनन्द तिलक इनके (योगीन्द्र मुनि) अधिक परवर्ती नही रहे होंगे। अधिक से अधिक हम उनको १२वी शताब्दी तक ले जा सकते हैं।[१] १२-१३ शताब्दी को अपभ्रंश का सीमा काल माना जाता है अतः यही समय उचित प्रतीत होता है।

मुक्तक कृति आणंदा :

कवि की एक ही कृति उपलब्ध है। इसका विषय रहस्यवादियों जैसा ही है। आनन्दतिलक परमात्मा को स्पर्शहीन, रसहीन, गन्धहीन तथा रूपहीन कहते है। वह नाम वैविध्य का खण्डन करते हुए शिव का वास शरीर मे ही मानते है जिसको उपलब्धि गुरु के प्रसाद से होती है।[२] कवि की अभिव्यक्ति मे सादगी है तथा उसे विश्वास है कि ऐसे आध्यात्मिक काव्यो को पढ़ने-पढाने वाला व्यक्ति 'सिवपुर' जाता है। रचना मे हिंदोला छन्द का प्रयोग हुआ है।

महेश्वर सूरि

'संयम मंजरी' के रचयिता महेश्वर सूरि के जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नही है। नाम मात्र के उल्लेख से दो महेश्वर सूरि की उपस्थिति का ज्ञान होता है। प्रस्तुत कवि के अलावा कालकाचार्य कथानक के रचयिता का नाम भी महेश्वर सूरि था। किन्तु दोनो की अभिन्नता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। 'संयम मंजरी' की एक हस्तलिखित प्रति हेमहंस सूरि की टीका के साथ सं० १५६१ की प्राप्त है। इससे रचयिता और रचनाकार दोनो इसके पूर्व के प्रतीत होते है। डॉ० रामसिंह तोमर 'सावयधम्म दोहा' जैसी रचनाओं के साम्य के आधार पर हेमहंस सूरि का समय १०-१२वी शताब्दी के बीच मानते है।[३] पी० डी० गुणे ने कवि का समय १२-१३ शताब्दी स्वीकार किया है।[४]

---

१. डॉ० वासुदेव सिंह . अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० ६० ।

२. आणंदा—दोहा सं० १६ ।

३. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिंदी पर प्रभाव, पृ० ६३ ।

४ पी० डी० गुणे ' भविसयत्तकहा (बड़ौदा संस्करण) पृ० ३७ ।

संयम मंजरी

यह कवि की एकमात्र उपलब्ध कृति है जो पी० डी० गुणे द्वारा उद्धृत होकर 'भविसयत्तकहा' के पृ० ३७-३६ पर प्रकाशित हुई है। कृति के दोहा नम्बर ३५ मे सिरि महेसर सूरि का नाम मिलता है जिसके आधार पर प्रस्तुत कृति की रचना का श्रेय महेश्वर सूरि को दिया जाता है।[1] महेश्वर सूरि के साथ 'सिरि' और 'गुरु' का उल्लेख होने से यह निश्चित हो जाता है कि यह दोहा कवि का न होकर प्रक्षिप्त है जिसे बाद मे किसी शिष्य ने जोड़ दिया होगा। फिर भी इससे रचनाकार पर प्रकाश अवश्य पडता है। पद्य ३२ मे गुरुजन विशेषण से युक्त जिनचन्द का नाम मिलता है[2] अतः वे महेश्वर सूरि के गुरु या कोई अन्य प्रिय श्रद्धाभाजन व्यक्ति हो सकते है।[3] 'सयम मंजरी' में कुल ३५ दोहे है। संयम को मोक्ष का द्वार कहा गया है। जिसमें संयम का भाव नही वह अपनी माँ का यौवन बिगाडने के लिए जन्म लिया है। कवि का कथन है कि निष्ठुर, निर्दयी और दुष्ट प्राणी, पाप भार से युक्त होकर नरक मे पड़ते है।[4]

उपदेशमाला वृत्ति :

यह ग्रन्थ जैन धर्म से सम्बन्धित है। इसमे गद्यात्मकता अधिक है किन्तु बीच-बीच मे अपभ्रंश के अनेक छन्द भी पाये जाते हैं। इन छन्दो का विषय धार्मिकता तक ही सीमित नही है बल्कि विविध लौकिक चित्रणों तक विस्तृत है। इसमे नगरों, दासियो, आती-जाती सुन्दरियों, शकुनो का उत्कृष्ट चित्रण किया गया है। लोक जीवन से संस्पर्शित यह ग्रन्थ निश्चित रूप से गौरवपूर्ण है। कृष्णादि से सम्बन्धित कुछ पौराणिक संदर्भो से युक्त मुक्तको के कारण इसकी महत्ता और भी संवर्धित हो जाती है।

---

१ णह भूषण गयवसणं सजममंजरि एह।
सिरि महेसर सूरि गुरु कन्ति कणंत सुणेह ॥ ३५

२. जिणचंदगुरुजन विणउ तवु संजमु उपयारू।
जं किज्जइ खणभंगुरिण देहह इत्तिउ सारु ॥ ३२

३. डॉ० रामसिंह तोमर . प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिंदी पर प्रभाव, पृ० ६३।

४. संयम मंजरी—दोहा २, ३, ५।

तरुणी के चरित्र की संश्लिष्टता तथा क्लिष्टता को उद्घाटित करता हुआ कवि कहता है कि तीनों लोक को जो आँख से देख सकता है, गगन-मार्ग को जो प्रत्यक्ष कर सकता है, जो सागर के जल के परिमाण को जान सकता है, वह भी तरुणी के चरित्र को नहीं जान सकता है :—

तिहुयणि सयलु जि पेक्खहि अक्खिहिं
लक्खहि गयणि मग्गु जे पेक्खिहि।
जल परमाणु जि सायर बुज्झहि
तरुणि चरित्ति ते वि निरु मुज्झहिं।[१]

जयदेव मुनि

जयदेव मुनि कृत एकमात्र रचना 'भावनासंधि प्रकरण' प्रकाशित हुई है। कृति के अन्तिम पद मे मुनि जी ने अपने नाम की ओर निर्देश किया है। वह शिवदेव मुनि के प्रथम शिष्य थे। इस रचना में मालव नरेन्द्र तथा मुन्ज (१०५४) का उल्लेख है। इसके आधार पर जयदेव मुनि का काल ग्यारहवी शती के पीछे माना जा सकता है।

भावनासंधि प्रकरण :

इस रचना में कवि ने संसार को मिथ्या तथा इन्द्रजाल बताया है। वह मानव जन्म की दुर्लभता तथा विषयो के दुष्परिणामो का विरागपूर्ण वर्णन करते हुए जिनवर द्वारा निर्दिष्ट धर्मपालन के द्वारा उनसे छूटने की सम्मति देता है। सम्पूर्ण कृति नैतिकता तथा उपदेशात्मकता ही से ओतप्रोत है।

लक्ष्मीचन्द्र

लक्ष्मीचन्द्र 'दोहाणुपेहा' नामक एक धार्मिक मुक्तक कृति के रचयिता माने जाते हैं। अपभ्रंश भाषा के अप्रकाशित कुछ ग्रन्थ नाम के अपने एक लेख मे श्री परमानन्द जैन 'शास्त्री' ने दोहानुप्रेक्षा (दोहाणुपेहा) के रचयिता लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख किया है।[२] लक्ष्मीचन्द्र के विषय मे कोई विस्तृत उल्लेख नही मिलता। दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्त्ताओं की सूची जो जैन हितैषी में प्रकाशित हुई थी एक लक्ष्मीचन्द्र का नाम आया है।[3] ये जाति के अग्रवाल थे और

१. उपदेशमाला वृत्ति, पृ० १६६।
२ अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ६, पृ० २६६ (फरवरी, १६५४)।
३. जैन हितैषी, अंक ५, ६ पृ० ५५ (वीर नि० स०. २४३६)।

संवत् १०३१ में विद्यमान थे। यदि इन्ही को उक्त ग्रन्थ का रचयिता माना जाय तो इनका काल ११वी शताब्दी सिद्ध हो जाता है।

दोहाणुपेहा :

इस कृति का श्रेय लक्ष्मीचन्द को दिया जाय कि अन्य किसी कवि को यह विवाद का विषय है। इसका कारण यह है कि कृति मे लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख नही मिलता है। कवि दो स्थानो पर 'णाणी बोल्लहि साहु''[१] तथा स्थान-स्थान पर 'जिणवर एम भणेइ' का प्रयोग करता है। इससे यह शंका होती है कि इसके कर्त्ता 'साहु नामक' कोई अन्य कवि तो नही है। दूसरी तरफ़ साहु का अर्थ सज्जन भी हो सकता है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने 'परमात्म प्रकाश' की भूमिका में लक्ष्मीचन्द्र को श्रावकाचार्य (सावयधम्म दोहा) का रचयिता माना है। किन्तु डॉ० हीरालाल जैन ने इस तर्क को अस्वीकृत कर दिया तथा उन्होने 'देवसेन' को सावयधम्म दोहा' का रचयिता मानकर उसका संपादन किया तथा उसे कारंजा जैन सिरीज़ से प्रकाशित करवाया। किसी विशिष्ट विरोधी प्रमाण के अभाव में लक्ष्मीचन्द्र को ही इस कृति का रचयिता माना जा सकता है।

'दोहाणुपेहा' मे कुल ४७ दोहा छन्द हैं। ग्रंथ के प्रारम्भ में सिद्धों की बन्दना है। इसके बाद आस्रव, संवर, निर्जरा आदि का वर्णन किया गया है। जो सम्यक् दर्शन को जान लेता है तथा परभाव को समझ लेता है वह अकेला ही शिव सुख को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष अथवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए मन्दिर तीर्थाटन, भ्रमण आदि की जरूरत नहीं है।[२] परमात्मा का निवास तो देह रूपी देवालय ही मे है। कवि की दृष्टि मे व्रत, तप, नियम आदि का पालन करते हुए भी जो आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ एवं मिथ्या दृष्टि वाले है उन्हे कभी निर्वाण प्राप्त नही होता।[3]

छीहल

छीहल की एक रचना 'आत्म प्रति बोध जयमाल' प्राप्त हुई है। कवि की रचनाओं से पता चलता है कि इसका समय सोहलवी शताब्दी का उत्तरार्ध रहा होगा। उदाहरण के लिए एक दोहा उद्धृत किया जा सकता है :

---

१. लक्ष्मीचन्द्र : दोहाणुपेहा—१२—

२. वही, ३५-३८।

३. वही, ४५, ४६, ४७।

सम्वत पनरह पचुहत्तरइ पूनिम फागुन मास ।
पंच सहेली बरनवः, कवि छीहल परगास ॥ ६८[1]

अन्य अन्तरंग प्रमाणो से ज्ञात होता है कि कवि छीहल का जन्म अग्रवाल वंश मे 'नलिगांव' नामक स्थान मे हुआ था। इनके पिता का नाम सिनाथु था—

नालि गांव सिनाथु सुतनु, आगरवाल कुल प्रगट रवि ।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि ॥[2]

आत्म प्रतिबोध जयमाल :

इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरह पंथियो के शास्त्र भण्डार मे प्राप्त हुई। डॉ० वासुदेव सिंह के शोध-प्रबन्ध 'अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद' के परिशिष्ट मे इसका कुछ अंश प्रकाशित हुआ है। कवि ग्रन्थ के आरंभ मे अरहंतों और सिद्धो की वन्दना करता है। इसके पश्चात् 'आत्मा के स्वरूप' को व्याख्यायित करता है।

'आत्म-प्रतिबोध जयमाल' की अपभ्रंश भाषा मे काफी सरलता आ गयी है।

सिद्ध कवि और काव्य

बौद्धो तथा जैनो की धार्मिक भाषा का अलगाव सातवी आठवी शताब्दी तक समाप्त हो गया। दोनो ने समान रूप से अपभ्रंश भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। सिद्धों की रचनायें भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही साहित्यिक दृष्टि से भी उनका कम महत्व नही है क्योंकि मध्यकालीन भक्त कवि सामान्य रूप मे तथा सन्त भक्त कवि विशेष रूप से इनसे प्रभवित हुए है। वैसे सिद्धो की संख्या चौरासी मानी जाती है किन्तु उनकी संख्या इससे भी अधिक हो सकती है परन्तु इन सिद्धो की मूल रचनाये बहुत कम उपलब्ध हैं। इनमें भी बीस पच्चीस सिद्धो के दो-चार चर्या गीत मात्र उपलब्ध है। सरहपाद, काण्हपाद, तिल्लोपाद रचित अधिक दोहे उपलब्ध हैं। श्री प्रबोध चन्द्र बागची ने 'चर्यागीत कोष' के परिशिष्ट मे उपर्युक्त सिद्धो के दोहे प्रकाशित किये है। सिद्ध कवियो के जीवन के विषय में कोई सही परिचय

---

१ छीहल पंच सहेली-दोहा ६८

२. डॉ० शिव प्रसाद सिंह : सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १६६।

नहीं मिलता। तिब्बती स्रोतों से जो कुछ सूचना मिलती है वह काल्पनिक तथा अतिरंजित जान पड़ती है।

सरहपाद :

सरहपाद को राहुल साकृत्यायन आदि सिद्ध मानते हैं। इनका प्रारंभिक नाम राहुल भद्र था। राहुल भद्र ब्राह्मण कुल में ओडिविसा में पैदा हुए थे तथा बचपन से वेदों तथा वेदान्तों मे ही सीमित थे। मध्यदेश जाकर इन्होंने बुद्ध धर्म स्वीकार किया। राहुल जी ने सरह का जन्म-स्थान राज्ञी नामक स्थान माना है।[1] अश्वघोष इनके गुरु थे। अन्त मे ये दक्षिण गये। वहाँ इन्होंने बाण बनानेवाली लड़की के रूप मे अपने कर्म क्षेत्र की योगिनी देखा जिसने इनकी आत्मशक्ति को उद्घाटित किया। राहुल भद्र ने उसे मुद्रा दी तथा बाण बनाने का कार्य स्वयं भी किया। बाद में ये सरह के रूप मे प्रसिद्ध हो गये। सरहपाद ने बौद्ध सिद्ध होते हुए भी महायानी विनय परम्परा को ठुकरा दिया। वे स्त्री विरति तथा मद्यपान निषेध को भी व्यर्थ का ढोंग मानने लगे। अपनी खुली बगावत को व्यक्त करने के लिए ही उन्होंने बाण बनानेवाले की लडकी के साथ विवाह किया था।[2]

सरह के समय के विषय में विद्वानो में बड़ा मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा की मृत्यु ७८० ई० के करीब माना है। इसका आधार मात्र इतना है कि लुइपा सिद्ध शबरपा के संपर्क में आकर राजाज्ञा से गृहत्यागी बने थे शबरपा सरह के शिष्य थे। शिष्य का महत्त्व गुरु की मृत्यु के बाद ही अधिक बढता है। इसका अर्थ यह है कि उस समय तक सरहपा की मृत्यु हो चुकी थी। साथ-साथ लुईपा को धर्मपाल के अन्तिम समय ८०० ई० के करीब मौजूद माना गया है।[3] डा० धर्मवीर भारती ने अनेक स्रोतों तथा मतो का परीक्षण करके सरहपा का समय ८००-८७५ ई० अनुमानित किया है।[4] राहुल जी का यह उल्लेख कि सरह के साथ हम एक नया धार्मिक प्रवाह जारी होते देखते है। यह धार्मिक प्रवाह जैनों तथा सिद्धो मे समान रूप से पाया जाता है। जोइन्दु, रामसिंह आदि का समय आठवी-दसवी शताब्दी के बीच

---

१ राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबंधाली, पृ० १६८।

२. सं० भूपेन्द्रदत्त मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ८।

३. राहुल सांकृत्यायन : दोहाकोश (भूमिका) पृ० १३।

४. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य—पृ० ४५।

माना जाता है। कुछ विद्वानो ने जोइन्दु आदि के ऊपर सरह का प्रभाव माना है। इस आधार पर भी सरहपाद का समय आठवीं-नवी शताब्दी के बीच माना जा सकता है।

रचनायें :

सरह द्वारा रचित ग्रंथो की एक सूची राहुल साकृत्यायन द्वारा दी गयी है। ये सारे ग्रंथ भोटिया भाषा मे अनूदित है।[1] इन ग्रंथों मे अधिकाश की भाषा तथा काव्य रूप के सबध में कुछ नही कहा जा सकता है। इन कृतियों के शीर्षक के अन्त मे गीति शब्द जुड़ा है जैसे 'उपदेश गीति', 'वज्रगीति,' 'गुह्यगीति,' 'चर्यागीति' आदि। इससे इनके मुक्तक-धर्मिता का अनुमान किया जा सकता है। उपलब्ध मुक्तक कृतियो मे 'दोहा-कोश' तथा चर्यागीति (२२, ३२, ३८, ३९) उल्लेखनीय है। इन्हे कुछ सीमा तक मूल के निकट माना जा सकता है। अन्य रचनाओ का भोट अनुवाद तथा उसका हिन्दी रूपान्तर 'दोहाकोश' मे दिया गया है। भोट भाषा की प्रकृति भिन्न होने के कारण तथा दो बार अनुवाद की प्रक्रिया से काव्यात्मकता बिलकुल समाप्त हो गयी है। अत. यहाँ अपभ्रंश रचनाओ की भाषा तथा भाव पर ही ध्यान केन्द्रित किया जायेगा।

सरह ने षड्दर्शनों का खण्डन किया है। सहज की साधना तो ऐसी साधना है जहाँ मंत्र-तंत्र अप्रभावशाली हो जाते हैं। तीर्थ तपोवन तथा जल स्थान सब व्यर्थ हो जाते है। इसलिए सरह इन झूठे बन्धनो को त्यागने का उपदेश देते हैं।[2] प्रव्रज्या से रहित गृही जो भार्या के साथ रह रहा है तथा विषयों में रमण कर रहा है। यदि वह अपनी इस भोग्य रुचि को नही त्यागता तो उसे परिज्ञान कैसे रुचिकर होगा। सरह ने करुणा, परमपद, माया, जीव, जगत् आदि के विषय मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए गुरु के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

तिलोपा :

इनका जन्म स्थान 'भगु' नगर बिहार माना जाता है। सक्य में इन्हें राजवंशी बताया गया है।[3] तारानाथ के अनुसार यह ब्राह्मण जाति के थे तथा

---

१. राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६८-१६९।

२. दोहाकोश सं० राहुल सांकृत्यायन दोहा १६, १७।

३. राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १९४।

पूर्वी भारत में पैदा हुए थे। बौद्ध-मत से प्रभावित होकर ये भिक्षु बने थे किन्तु एक तेलिन के साथ समागम करने के कारण इन्हे सघ से निकाल दिया गया। इन्हें अन्त में सहज अनुभूति हुई।[1] इनका समय १००० ई० से ११०० ई० के बीच अनुमानित किया गया है।[2]

रचना :—

इनकी एकमात्र मुक्तक रचना "दोहा कोष" उपलब्ध है। यह दोहाकोष तथा 'चर्यागीत कोष' मे प्रकाशित है। करीब चौतीस दोहो मे तिल्लोपा ने चित्त, जगत्, सहजावस्था, तीर्थों की निरर्थकता वर्णित की है।

काण्हपाद :

काण्हपा या कण्हपा के नाम के अनेक रूपान्तर मिलते है जैसे कान्ह, कान्हि, कान्हिल, कृष्णपाद, कृष्णाचार्यपाद आदि। उपलब्ध चर्यागीतो की भाषा-शैली में भेद देखते हुए अनेक काण्हपा के होने का अनुमान किया जा सकता है।[3] लामा तारानाथ ने कृष्णाचारी (काण्हपा) को तिब्बती परम्परा के अनुसार 'कर्ण' प्रदेश भारतीय परम्परा के अनुसार पाद्मनगर या विद्या-नगर मे उत्पन्न माना है। अनेक प्रमाणो से उन्होने इन्हे उडीसावासी सिद्ध किया है।[4] राहुल जी काण्हपा का जन्म कर्णाटक प्रदेश मे ब्राह्मण कुल में मानते है। ये शरीर के काले थे इसीलिए इनका नाम काण्हपा (कृष्णपा) पड़ा। महाराज देवपाल के समय मे(ई० ८०९-८४९) ये पंडित भिक्षु थे।[5] डा० धर्मवीर भारती इनका समय ९२५ ई० से १००० के बीच अनुमान करते हैं।[6]

रचनायें :

कण्हपा द्वारा रचित अनेक रचनाओं की सूचना मिलती है। तंजूर मे इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं जिनमे ६ अपभ्रंश मे थे जो भोट भाषा मे अनूदित है। अपभ्रंश में इनका एकमात्र ग्रंथ 'दोहाकोप' प्रबोध चन्द्र बागची द्वारा संपादित 'दोहाकोप' तथा 'चर्यागीति कोप' के परिशिष्ट मे मुद्रित है।

---

१. सं० भूपेन्द्र दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ पृ० ३३-३४

२. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० ४५।

३. डा० सुकुमार सेन : चर्यागीति-पदावली, पृ० २३।

४. सं० भूपेन्द्र दत्त : मिस्टिक-टेल्स, आफ लामा तारानाथ, पृ० ३२।

लुईपा

इनको चौरासी सिद्धों में आदि सिद्ध माना जाता है। डॉ० सेन के अनुसार इनका समय ११वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है।[1] डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची ने लुईपा और मत्स्येन्द्रनाथ को अभिन्न ठहराते हुए इनके १०वीं शताब्दी में उपस्थित होने का अनुमान किया है।[2] तन्जूर नामक तिब्बती संग्रह के अन्तर्गत इन्हे कहीं बंगाली कहा गया है। संभवतः इसी आधार पर स्व० शास्त्री जी इन्हें निश्चित रूप से बंगाली मानकर इनका जन्म स्थान 'र ढ देश' निश्चित करते है।[3] परन्तु राहुल जी का कथन है कि 'भोटिया ग्रंथों मे बंगल या भगल या भगल मिलता है जिस नाम से भोटिया लोग विक्रमशील वाले प्रदेश को पुकारते थे और जिसका चिह्न भागलपुर के नाम से अब भी मौजूद है[4] इनके सम्बन्ध में लामा तारानाथ का कहना है कि ये पश्चिमी ओडियान के (संभवतः) राजा सामन्त शुभ के यहाँ लिपिक थे और किसी समय महासिद्ध शबरी से भेंट की थी। लुईपा नागार्जुन के शिष्य थे।[5] लुइपाद उड़ीसा के राजा दारिकपा के गुरु भी थे।[6] लुइपाद द्वारा रचित दो चर्यायें (चर्या न० १,२९) 'चर्यागीत कोष' मे उपलब्ध है।

विरुपा :

विरुपा नाम के कई सिद्ध थे। एक सिद्ध विरुपा का जन्म महाराज देवपाल के देश तिउर में हुआ था। विरुपा के नाम से केवल एक चर्या मिलती है।

गुण्डरीपा :

स्व० शास्त्री ने गुण्डरी धामपाद का ही दूसरा नाम माना है। राहुल जी ने इनका जन्म "डिसनगर" देश मे कर्मकार के कुल मे माना है[7] इन्हें

---

१. डॉ० सुकुमार सेन : चर्यागीति पदावली, भूमिका, पृ० ७।
२. डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची . कौलज्ञान निर्णय पृ० २५-८।
३. स्व० हर प्रसाद शास्त्री बौद्धगान ओ दोहा, पृ० २१।
४. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली-पाद टिप्पणी, पृ० १४३।
५. भूपेन्द्र नाथ दत्त . मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ पृ० ११
६ स्व० हर प्रसाद शास्त्री बौद्धगान पद कर्त्तादिर परिचय, पृ० ३०।
७. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७८-१८६

चाटिलपा का शिष्य भी कहा गया है।[1] गुण्डरीपा के नाम से एक (चर्या ४) तथा धामपा के नाम से एक (च० ४७ चर्या मिलती है।

कुक्कुरीपा :

कुक्कुरीपा के विषय मे तारानाथ का कहना है कि ये किसी ऐसी वज्र-योगिनी के साथ रहते थे जो कुतिया जैसी जान पडती थी और इनका जन्म कहीं वग प्रदेश में हुआ था जहाँ मे ये नालन्दा में आये थे।[2] कहते है कि कुक्कुरीपा बहुत बडे तान्त्रिक थे। कुक्कुरिपा की तीन चर्याये (चर्या २, २०, ४८ मिलती हैं।

भुसुक या शान्तिदेव :

शान्तिदेव को लामा तारानाथ ने जाति से क्षत्रिय बतलाया है। भुसुक के विषय में यह भी कहा जाता है कि ये किसी राजा के यहाँ घुड़सवार के रूप में रहा करते थे जिसके अनन्तर ये सिद्धोवाली साधना की ओर उन्मुख हुए।[3] स्व० शास्त्री ने इन्हे बगाली माना है।[4] लामा तारानाथ के अनुसार ये कहीं महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे।[5] तिब्बती परंपरानुसार लिखी गयी एक पुस्तक में कहा गया है कि "भुसुक" पहले राजकुमार थे जो पीछे नालन्दा विश्व-विद्यालय मे आकर वहाँ के एक धर्माचार्य बन गये।

मागधी हिन्दी (अपभ्रंश) में लिखी इनकी एक पुस्तक 'सहजगीति' भोटिया भाषा में मिलती है।[6] भुसुक के नाम से चर्या नं० ६, ३०, ४१, ४३, ४६ चर्याये संग्रहीत की गयी है।

कामरिपा :

इनके संबंध मे लामा तारानाथ का कहना है कि यह राजा के पुत्र थे। इनकी जन्मभूमि उदयान अथवा किसी के अनुसार 'ओडिवीश' नामक देश था।

---

१. डॉ० सुकुमार सेन : ओल्ड बेगाली टेक्स्ट, पृ० ३६।
२. भूपेन्द्रनाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ४७।
३. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, पृ० ३५-३६।
४. स्व० हर प्रसाद शास्त्री : बौद्ध गान औ दोहा, पृ० १२।
५. भूपेन्द्रनाथ दत्त . मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ३६।
६. राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७६।

ये बड़े होने पर साधु हो गये थे। 'चर्यागीति-कोष' में इनके नाम से एक चर्या दी गयी है।

डोमिपा :

डोमिपा को मगध का राजा होना कहा गया है जिसके मन्त्रियों ने प्रजा से मिलकर उसे राज्य से बाहर कर दिया था जो फिर चमत्कारिक रूप से वहाँ से लौट आये।[१] राहुल जी ने इन्हें क्षत्रिय वंश में उत्पन्न बताया है। ये हेवज्रतन्त्र के अनुयायी थे।[२] विरुपा ने इन्हे उपदेश दिया था। चर्या नं० १४ डोम्बिपा रचित है।

शान्तिपा :

शान्तिपा मगध में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। बचपन से ही इन्होंने वेदों और वेदांगो का अध्ययन किया था। कुछ लोग इन्हें क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कहते हैं। सिंहल से लौटकर आने पर राजा महीपाल या उसके संबधी चाणक्य ने इन्हें विक्रम-शिला के पूर्वी द्वार का आचार्य नियुक्त किया। ये अपने समय के बहुत बड़े पंडित तथा कलिकाल सर्वज्ञ थे। शान्तिपाद के नाम से दो चर्यायें (१५, २६) मिलती हैं।

चाटिल्लपाद :

चाटिल्लपाद के नाम से एक चर्या मिलती है।

महीपा :

सिद्ध महीपा के अनेक नाम भेद मिलते है जैसे महिडा, महित्ता, और महिल। इनका जन्म मगध देश के शूद्र कुल मे हुआ था और गृहस्थ होते हुए इन्हें सत्संग की प्रबल चाह थी।[3] सिद्ध महीपा के नाम एक ही चर्या (१६) मिलती है।

मीनपा :

मीनपा का जन्म कामरूप में मछुवे के कुल में हुआ था। एक किम्बदन्ती है कि वे एक बार जाल मे फँसकर मछली के पेट मे चले गये थे। ब्रह्मपुत्र

१. डा० परशुराम चतुर्वेदी : बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, पृ० ४१।
२. राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८१।
३. राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली- पृ० १६१।

नदी मे बहते-बहते वे उमागिरि पर्वत पर पहुँच गये। वहाँ शिव तन्त्र सम्बन्धी एक वार्ता थी। उसे सुनकर इन्हें गम्भीर रहस्यों का ज्ञान हो गया। बाद में हाली, माली तथा तम्बूली नाम के उनके तीन शिष्य हुए।[1]

वीणापाद :

गौड देश के क्षत्रिय वंश में इनका जन्म हुआ था। ये वीणा बजा-बजाकर अपने पदों को गाया करते थे। शायद इसी से इनका नाम वीणापाद पड़ गया। इनके चर्यापद में भी वीणा का ही रूपक है। वीणापाद रचित एक चर्या (न० १७) उपलब्ध है।

आर्यदेव :

आर्यदेव को कर्णरीपा से अभिन्न माना जाता है। सस्क्य-सूची के अनुसार इन्हे नालन्दावासी बताया गया है।[2] तारानाथ ने कर्णरीपा तथा आर्यदेव को अलग-अलग माना है। इनके नाम से चर्या न० ३१ दी गयी है।

तान्तिपा :

चर्या संख्या २५ तान्तिपा द्वारा रचित है। इनके जन्म-स्थान के विषय में राहुल जी का मत है कि ये मालव देश के उज्जैन नगर में पैदा हुए थे तथा जाति के कोरी थे।

शबरपा :

राहुल जी ने शबरपा को सरह का शिष्य माना है और श्री पर्वत को इनका निवास बताया है।[3]

शबरपा की दो चर्यायें (२८, ५०) चर्यागीति-कोष में मिलती है।

भादेपा :

तिब्बती परम्परा में भादेपा का नाम भद्रचन्द्र या भद्रबोधि के रूपों में मिलता है। लामा तारानाथ ने भादेपा को जालंधरि एवं कण्हपा दोनों का ही शिष्य बतलाया है। ये श्रावस्ती (जि० गोंडा) में चित्रकार कुल में हुए थे।[4]

---

१. भूपेन्द्र नाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ५६।
२. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४९।
३ राहुल सांकृत्यायन . पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७१।
४. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १९२।

ढेण्ढणपाद :

राहुल जी ढेण्ढणपा को तान्तिपा से अभिन्न मानते हैं।[1] इनके नाम से एक चर्या मिलती है। (चर्या० ३३)

दारिकपाद :

दारिकपा प्रारम्भिक जीवन में उड़ीसा के राजा थे। जब लुईपा इनके पास गये तो ये और इनके मंत्री उनके शिष्य हो गये। अपने गुरु के आदेश से कांचीपुरी की किसी वेश्या की बहुत दिन तक सेवा करते रहे। इसी कारण इन्हें दारिकपा कहा गया।[2] चर्या नं० ३४ दारिकपा द्वारा रची गयी है।

ताडकपाद :

राहुल जी ने ताडकपा तथा नारोपा को एक ही माना है।[3] बागची ने इनका नाम ताडकपाद ही दिया है। इनके जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कङ्कणपाद

ये कोकण देश के निवासी जान पड़ते हैं। सस्क्य विहार सूची में विष्णु-नगर (मगध) का राजपुत्र बताया गया है।[4] कङ्कणपाद की एक चर्या (४४) चर्यागीति कोष में मुद्रित है।

जयनन्दनीपाद :

ये वज्रयानी सिद्धों की सूची में ५८वें स्थान पर है। मगधवासी ब्राह्मण होने का अनुमान किया जाता है। इनकी एक चर्या (४६) उपलब्ध है।

धामपा :

धामपा विक्रमशिला के ब्राह्मण थे।[5] सुकुमार सेन ने इनको चाटिलपा का शिष्य बताया है। इनके नाम से एक चर्या मिलती है।

---

१. वही, पृ० १६१।
२. भूपेन्द्र नाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० १२।
३. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६५।
४. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६३।
५. वही, पृ० १५१।

शैव मुक्तक कवि और काव्य :

लल्लेश्वरी—काश्मीरी शैव कवियों में कवियत्री लल्लेश्वरी का सर्वाधिक महत्त्व है। इनकी जीवनगत समस्यायें तथा भाव बहुत कुछ मीरा से मिलते-जुलते है। लल्लेश्वरी का जन्म एक परम पवित्र ब्राह्मण कुल मे काश्मीर के पायपुर ग्राम मे सं० १४०० वि० के लगभग हुआ था। लल्लेश्वरी के बचपन का जीवन चमत्कारपूर्ण था उन्हें प्रेम का आवेश हो आया करता था। वे रह-रहकर किसी दिव्यतम चिन्मय शक्ति के वियोग में तड़प उठती थी। उन्होंने अपने जीवन मे किसी प्रकार का आडम्बर नही आने दिया। ससुराल का जीवन उनके लिए अमित कष्टप्रद था। सास ने उनके गृह प्रवेश के बाद ही अनेक यातनाये देना आरम्भ कर दिया पर लल्लेश्वरी ने उनका तनिक भी विरोध नही किया।[1] प्रसिद्ध सूफी सन्त सैय्यद अली हमदानी से लल्लेश्वरी की भेंट थी ऐसा उल्लेख मिलता है। अतः प्रस्तुत कवियित्री नामदेव, कबीर आदि की समकालीन थी। गृहस्थी से ऊबकर लल्लेश्वरी ने घर द्वार त्याग कर एक प्रसिद्ध शैव सन्त से दीक्षा ली।

लल्लेश्वरी वाक्यानि

लल्लेश्वरी ने शिव की प्रसन्नता के लिए निष्काम भाव से अनेक गीत गाये है। शिव को बाहर खोजना व्यर्थ है। शिव तो शरीर के अन्दर ही उपलब्ध है।[2] शिव, केशव, जिन मात्र नाम भेद है। ससार के रोग से आक्रान्त अबला लल्लेश्वरी इन सब से कल्याण कामना करती है। विशुद्ध बोध के अमृत मे पान से स्वस्थ भक्तिन को, निन्दा स्तुति, पूजा, हर्ष, विषाद आदि की कोई परवाह नहीं है।[3] वह अजपा जाप की स्थिति तक पहुँच चुकी है। उसके लिए पुष्पादि द्रव्यों की पूजा अनुपयोगी हो गयी है। वह गुरु के उपदेश से शुद्ध आत्मा से शिव की अर्चना करती है। वह कहती है—

> यिह् यिह् कर सुथ् अर्चुन
> यिह् रसं्नि उच्चर्यम् तिथ् मन्थ्र् ।
> इय् यिथ लग्यस् देहस् परिचय्
> सुय् परमशिवुन तन्त्रुर ॥५८॥

---

१. रामलाल : भारत के सन्त-महात्मा, पृ० १६० ।

२. लल्लेश्वरी वाक्यानि, छं० ३, पृ० २ ।

३. वही, छं० ६, ८, २१ ।

जो काम करती हूँ वही पूजा है। जो बोलती हूँ वही मन्त्र है। जो आता है वही योग है। मेरा द्रव्य ही यहाँ तत्त्व है। शिव से सभी तरह के आनन्दो की प्राप्ति होती है। वे माता के रूप मे दूध पिलाते है। भार्या के रूप में विलास की अनुभूति कराते है। माया रूप मे जीव को मुग्ध करते हैं। मायावी शिव का ज्ञान गुरु ही करा सकते है।[1]

'लल्लेश्वरी वाक्यानि या 'लल्ला वाक्यानि' मे कुल ६० गीत एकत्रित किये गये है। इसकी भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु विभक्तियो को छोड़कर सीधे प्रयोग की प्रवृत्ति प्रधान है।

शितिकंठाचार्य

'महानय प्रकाश' के रचयिता शितकंठाचार्य का काल १५वी शताब्दी है[2] जब अपभ्रंश भाषा काश्मीरी का रूप ग्रहण कर रही थी। महानय प्रकाश के एक छन्द में शितिकण्ठ का नाम आया है जो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जोड़ा गया है—

पावेत इहु कमु पभुस पसाद
शितिकण्ठस गत जम्मु कितायु।
तेन मि महजन खलित प्रसादे
तेमारावेमहनयपरमाथु ॥१॥[3]

इस छन्द से कवि के जीवन चरित पर कोई प्रकाश नही पडता।

महानय प्रकाश

'महानय प्रकाश' मे लगभग ६४ अपभ्रंश छन्द है जो १४ उदयों मे विभक्त किये गये है। यह एक दार्शनिक कृति है जिसमे शैव दर्शन के त्रिक् सम्प्रदाय का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि रचना, गुरु, महिमा आदि का बडा गूढ़ विवेचन हे। ग्रंथ पर्याप्त नीरस है। काव्य की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस कृति से काश्मीरी अपभ्रंश

---

१. वही, पद ५४।

२. डा० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० १८७।

३. महानय प्रकाश, पृ० १३७।

के बदलते रूप तथा आगे चलकर हिन्दी में संस्कृत तत्सम शब्दों के आगमन की प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

परात्रिंशिका

अभिनव गुप्त रचित 'परात्रिंशिका' मे कुछ अपभ्रंश पद मिलते है। ये पद्य दार्शनिकता से इतने बोझिल है कि इनका अर्थ निकाल पाना भी कठिन है। नीचे एक पद दिया जा रहा है जिसमें देवी की प्रार्थना की गयी है—

पफलिउ फुरइ फुरण
अवि आरिणा होइ परावर
अवर विइहण
देवि विसरिम ऊ उ।[१]

'परात्रिंशिका' का रचनाकाल बहुत कुछ निश्चित है। अन्तः साक्ष्य के आधार पर वे काश्मीर मे दसवी शताब्दी के अन्त और ग्यारवी शताब्दी के प्रारंभ में वर्तमान थे।[२]

विशुद्ध लौकिक कवि और काव्य

अद्दहमाण

अद्दहमाण एकमात्र मुस्लिम कवि हैं जिन्होंने अपभ्रंश मुक्तक काव्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अपनी प्रबन्धात्मक मुक्तक रचना 'सन्देश-रासक' (संनेहरासयं) मे कवि ने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में अल्प निर्देश किया है। कवि का जन्म-स्थान पश्चिम मे स्थित म्लेच्छ देश है। उसके पिता का नाम मीरसेण था जो तन्तुवाय थे। कवि को प्राकृत काव्य तथा गीत काव्य का अच्छा ज्ञान था।[3] म्लेच्छ देश को मनुस्मृति में यज्ञीय देश के परे कहा गया है। किन्तु इससे म्लेच्छ देश की ठीक स्थिति का ज्ञान नही होता। 'जो हो यह अनुमान किया जा सकता है 'मिच्छ' या म्लेच्छ देश से अद्दहमाण का आशय आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान या उसी के आसपास कोई प्रदेश रहा होगा। 'संदेशरासक' में आए हुए सभी नगर उसी प्रदेश मे पड़ते है।[४]

---

१. संपा० मुकुन्दराम शास्त्री : परात्रिंशिका, पृ० ६५।

२. परात्रिंशिका, भूमिका, पृ० १४।

३. संदेशरासक, सपा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी प्रथम प्रक्रम, छन्द ३-४।

४. वही, पृ० ७७।

'संदेशरासक' की भाषा तथा उसके द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर श्री मुनि जिन विजय अद्दहमाण को मुहम्मद गोरी के आक्रमण से किंचित पूर्व ईसा की १२वीं शताब्दी का कवि मानते हैं।[1] 'संदेशरासक' में मुलतान को पश्चिमोत्तर भारत का प्रमुख तीर्थ कहा गया है। वास्तव में मुलतान की प्रसिद्धि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के पूर्व अधिक थी। एक बार नष्ट होने पर यह नगर फिर से पूर्व ख्याति नहीं प्राप्त कर सका। विजयनगर तथा खंभात की समृद्धि चित्रण से पता चलता है कि कवि चालुक्यवंशी शासक सिद्धराज और कुमारपाल के शासनकाल के आस-पास हुआ था क्योंकि ये नगर इन राजाओं के काल में अधिक वैभवशाली थे। इन तथ्यों के आधार पर जिन विजय जी ने निष्कर्ष निकाला है कि 'संदेशरासक' मुहम्मद गोरी के आक्रमण (११९२ ई०) के पूर्व अथवा कुमारपाल की मृत्यु के पूर्व कभी लिखा गया होगा।[2] राहुल सांकृत्यायन ने अद्दहमाण को ११वीं शताब्दी का कवि माना है।[3] अगरचन्द नाहटा अद्दहमाण को १५वीं शताब्दी के आसपास मानते हैं।

संदेशरासक

कवि ने 'संदेशरासक' को तीन प्रक्रमों में विभाजित किया है। प्रथम प्रक्रम में वह अपना परिचय प्रस्तुत करता है तथा काव्य-रचना की आवश्यकता तथा औचित्य पर प्रकाश डालता है। उसका तर्क है कि पंडितजन का कुकविता से संबंध नहीं रहता और अबुधजनों का अबुधत्व के कारण कविता में प्रवेश ही नहीं होता। इसलिए जो न मूर्ख हैं और न पण्डित बल्कि मध्यम कोटि के हैं उनके सामने उसकी रचना पढ़ी जाय। यह 'संदेशरासक' अनुरागियों का रतिगृह, कामियों का मन हरनेवाला मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करनेवाला, विरहिणियों के लिए मकरध्वज और रसिकों के लिए विशुद्ध रस संजीवक है।[4] दूसरे प्रक्रम में विजयनगर की कोई कृशांगी श्रेष्ठ रमणी आँसू पोंछती, अंग मोड़ती तेजी से किसी पथिक की ओर जाती हुई दिखाई देती है। विरहिणी

---

१. सं० हरिवल्लभ भायाणी, मुनि जिन विजय : संदेशरासक, प्रिफेस, पृ० १२।

२. सं० मुनि जिनविजय : संदेशरासक प्रि०, पृ० १२।

३. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, पृ० १९२।

४. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक—भूमिका, पृ० १०४।

नायिका का सौन्दर्य चित्रण, प्रियतम की निर्दयता का चित्रण, स्तभतीर्थ का वर्णन इसी प्रक्रम मे हुआ है। तृतीय प्रक्रम मे षड्ऋतुओ का प्रभावात्मक वर्णन किया गया है।

'संदेशरासक' में एक विरहिणी नायिका के अनेक भावो को एक हल्के कथा सूत्र में बांधा गया है। कृति मे वियोग शृंगार प्रमुख है। कवि ने परम्परित तथा मौलिक उपमानों से काव्य को मधुर तथा सुष्ठ बनाया है। 'संदेशरासक' को भाषा हेमचन्द्र के बाद की अपभ्रंश है जिसमे ग्राम्य तत्त्वों की अधिकता है किन्तु कही-कही सस्कृत तत्सम शब्दावली का भी अपभ्रंशीकरण हुआ है।

स्फुट तथा उद्धृत मुक्तक काव्य

अपभ्रंश के अधिकांश विशुद्ध मुक्तक व्याकरण तथा छंद के शास्त्रीय ग्रथों मे उद्धृत मिलते है तथा कुछ मुक्तक गद्यांशों के बीच मे स्फुट रूप से पाये जाते हैं।

१—प्राकृत लक्षण :

व्याकरण ग्रन्थों मे अपभ्रंश का सर्वप्रथम उल्लेख प्राकृत लक्षण में हुआ है। इसके लेखक चंड है। चंड ने दो अपभ्रंश दोहो को उद्धृत करते हुए योगी को आत्मा को जानने का उपदेश दिया है। चंड का समय ईसवी छठी शताब्दी माना जाता है।[1]

२—ध्वन्यालोक :

ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने एक अपभ्रंश दोहा उद्धृत किया है। इसमें मनुष्य को उपदेश देते हुए कहा गया है कि अपना समझने वाले मनुष्य को काल वंजित करता है लेकिन तो भी वह जनार्दन का ध्यान नही करता है।[2]

३—स्वयंभू छंद :

'स्वयंभू-छंद' के लेखक प्रसिद्ध जैन कवि "पउम चरिउ" के रचयिता स्वयभू हैं। स्वयंभू का समय ८००-६०० ई० के बीच माना जाता है।

स्वयभू छंद मे प्राकृत तथा अपभ्रंश के बहुत से पद उद्धृत है। इनमें कतिपय मुक्तक राम रावण कथा के किसी अंश को चमत्कृत करते हैं।

१ ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश : भूमिका, पृ० ६६।

२. आनन्द वर्धन : ध्वन्यालोक, पृ० ४५।

इसमे महाभारत के कथा-प्रसंगो से संबंधित मुक्तक भी पाये जाते हैं।

अपभ्रंश मुक्तक साहित्य मे कृष्ण और राधा के संदर्भ कम उपलब्ध होते है। किन्तु 'स्वयभू-छद मे उद्धृत कृष्ण और राधा सबधी मुक्तक निश्चय ही काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। कृष्ण यद्यपि सभी गोपियों को सादर मुग्ध निगाहों से देखते हैं किन्तु राधा पर जहाँ कहीं भी दृष्टि पड़ती है (पर उसमे कुछ और ही मर्म है) स्नेह मे प्रलिप्त दग्ध नेत्रों को उधर प्रवृत्त होने से कौन रोक सकता है :—

> सव्व गोविउ जइ वि जोएइ। हरि सुट्ठु वि आअरेण
> देइ दिट्ठि जहिं कहिं वि राहो (राधा)
> को सक्कइ संवरेवि। डड्ढअण णेहें पलोट्टं। ॥[1]

इसमे शृंगार से सम्बद्ध चमत्कारी उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं। किसी नायिका के स्तनों के ऊपर सरुधिर नखक्षत ऐसा लगता है मानों मदन के घोडे के वेगपूर्वक दौडने के कारण उसके पदाघात (खुरों) से घाव हो गया :—

> कह वि सरुहिरइं। दिट्ठइं णह व (र) वइं।
> थण सिहरोपरि सुपउत्ताई। वेग्गे वलगाहो।
> मअण तुरंग हो। णं पइ छुडुछुडु दुक्खलाइं ॥[2]

पुरातन प्रबंध संग्रह :

इसमे अनेक प्रबधो (लघुरूप) का सग्रह है। इन प्रबन्धों के बीच कुछ अपभ्रंश पद्य उद्धृत मिलते है। नगर वर्णन, यशवर्णन, पुत्र होने का आशीर्वाद, युद्ध वर्णन आदि इन मुक्तकों के कथ्य है। जयचन्द्र जब दुःसह प्रस्थान करता है तो पृथ्वी धँस जाती है। रास्ते मे पडने वाले राजा भाग जाते हैं। शेष नाग शंका से अपनी मणि छोड़ देता है। घोड़ों के खुर से वह हत हो जाता है। धूल-चारो ओर फैल कर यश के साथ कवियो तक पहुँचती है :—

> जइतचन्दु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ।
> धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भंगणओ।
> सेसु मणिहिं संकियउ मुक्कु हयखरि सिरि खंडिओ।

---

१. स्वयंभू-छन्द, १०. २, पृ० ५६।

२ स्वयंभू छंद १२ ३ पृ० ५८

तहुओ सो हर धवलु धूलि जमु चिय तणि मंडिओ।
उच्छलीउ रेणु जसग्गि गय सुकवि ॥[1]

प्रबन्ध-चिन्तामणि :

'प्रबन्ध-चिंतामणि' की रचना मेरुतुङ्गाचार्य ने सवत् १३६१ मे की थी।[2] इन्होने मूलराज, विक्रम, मुंज आदि राजाओ से संबंधित अनेक मुक्तक उद्धृत किये है। इन मुक्तको मे मुज सम्बन्धी मुक्तक अत्यधिक हृदयद्रावक हैं। कहा जाता है कि मुज तैलग देश के राजा की बहन मृणालवती से प्रेम करते थे। मृणालवती ने मुज को धोखा दे दिया। तैलंगाधिपति ने मुंज को बन्दी बनाकर अनेक तरह से ताड़ना दी। मुंज स्त्री जाति पर कभी भी विश्वास न करने की सलाह देते है :—

सउ चित्तइ सट्ठी भमहं (?) बत्तीसडाहियाइ।
अम्मी तेनर डड्ढसी जे वीससइं तियाह॥

(वे नर मूर्ख हैं जो स्त्री पर विश्वास रखते है[3] क्योंकि स्त्रियों के चित्त मे सौ मन में साठ और हृदय मे बत्तीस आदमी बसते हैं।) रस्सी से बाँधकर घुमाये जाते हुए मुंज को अत्यधिक आत्मग्लानि होती है। वह अपने मन मे सोचता है कि बंदर के समान डोरी मे बाँधकर घुमाये जाने से अच्छा था कि मुंज बचपन मे डोली के टूट जाने से मर क्यो नही गया या आग मे जलकर राख क्यों न हो गया :—

झोली तुट्टवि कि न मुउ किं हुउ छारह पुंजु।
हिंडइ दोरी दोरियउ जिम मंकहु तिम मुंजु॥

अन्य दोहो में भाग्य का परिवर्तन, लक्ष्मी की चपलता आदि पर प्रकाश डाला गया है।

प्रबन्ध-कोश

राजशेखर सूरि रचित 'प्रबन्ध कोश' (विक्रम संवत् १४०५) मे सुभाषित, उपदेशात्मक तथा शृंगारिक अनेक तरह के अपभ्रंश पद्य मिलते है।

---

१. पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ० १२०।

२. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० १९६।

३ प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० २३।

कुमार पाल को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि मन मे किसी तरह की चिन्ता मत करो जो तुम्हारी (भव) रज्जु समाप्त कर दे उसी की चिन्ता करो :—

कुमारपाल मन चित चितिह किपि न होइ।
जिणि तुह रज्जु सम्पाप्पिउ चित करिसइ सोइ ॥[1]

कही-कही ऊहात्मक वियोग का भी वर्णन मिलता है। मुग्धा के आँसुओं को रोकने के लिए दोनो हाथो को पीछे किए हुए पथिक पुलिंद पशु की तरह जल पी रहा है :—

पसु जेम पुलिंदउ पउ पियइ पंथिउ कवणिण कारणिण।
करवेवि करंपिअ कज्जलिण मुद्धह अंसु निवारणिण ॥[2]

'प्रबन्ध-कोश' में अधिकतर दोहा छन्द प्रयुक्त है किन्तु सोरठा के भी प्रयोग मिलते हैं।

प्राकृतानुशासन :

ऐहिक मुक्तक काव्य के अध्ययन में हेमचन्द्र रचित 'प्राकृतानुशासन' का विशेष महत्त्व है। इसमे श्रृंगारिक, नीतिपूर्ण, सुभाषित, भक्तिपरक, वीर-रसात्मक करीब १७६ पद्य उद्धृत हैं। श्रृंगाररस के जितने पक्ष हो सकते है वे सभी इसमे मौजूद है। नायिकाओ का सौन्दर्य चित्रण, परकीया का विलास, नायक और नायिका के बीच सखी और दूती की भूमिका, संकेतस्थल, प्रिय-दर्शन से उत्पन्न सुख की अनुपम अनुभूति, मान प्रसंग, संभोग, प्रवास आदि का उत्कृष्ट वर्णन है।

नायक और नायिका युद्ध मे भी सहयोगी है अत कुछ मुक्तको मे वीररस का भी अच्छा परिपाक है।

छन्दोऽनुशासन :

'छन्दोऽनुशासन' मे लगभग ढाई सौ उद्धृत (स्वरचित) मुक्तक हैं। जैसी वचन विदग्धता उनके व्याकरण मे संग्रहीत अपभ्रंश पद्यों में मिलती है वैसी 'छंदोऽनुशासन' के अपभ्रंश पद्यो में नही। मुक्तको के विषय अधिकतर श्रृङ्गारिक हैं। कुछ मुक्तक प्रकृति का मादक तथा प्रभावकारी चित्रण प्रस्तुत

---

१. प्रबन्ध कोश, पृ० ५१।
२ वही- पृ० ५२।

करते है । प्रकृति में गर्जनशील घन ही मर्दल के समान बजते है । नभतल मे चंचल बिजली नृत्य करती है । मयूर गाते हैं । इस मनोहर संगीत नृत्य से पावस लक्ष्मी युवकों के मन को आकुल कर देती है ।[1] बादल की गरज पर प्रवासित नायक को आश्चर्य होता है ।

हेमचन्द्र का समय :

लौकिक मुक्तकों के उद्धरणकर्त्ता तथा रचयिता हेमचन्द्र का जन्म सं० ११४५ वि० मे गुजरात के धन्धूका ग्राम में हुआ था । उनका बचपन का नाम चंगदेव था । दीक्षा के बाद उनका नाम सोमचन्द्र पड़ा । सं० ११९६ मे गुरु की गद्दी पर बैठने के पश्चात् सूरि आचार्य की उपाधि धारण की और जैन साधको की प्रथा के अनुसार उनका नाम हेमचन्द्र रखा गया । उनके पहले आश्रयदाता चौलुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज (११५०-११९९) थे । वह शैवमत के अनुयायी थे । जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् कुमारपाल गुजरात के राजा हुए । हेमचंद्र का देहावसान सं० १२२९ वि० मे हुआ ।

सरस्वती-कंठाभरण :

'सरस्वती-कठाभरण' के रचयिता भोज ने अपनी इस पुस्तक मे करीब १८ अपभ्रंश छन्दों को उद्धृत किया है । ये छन्द शृङ्गार तथा ऋतु-वर्णन से संबंधित हैं । भाषा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसमें प्राकृत की तुलना मे अधिक अन्तर नहीं है ।

शृंगार-प्रकाश :

'शृंगार-प्रकाश' मे भी कुछ अपभ्रंश उदाहरण दिये गये है जो शृगारिक है । कुछ छन्द ऐसे हैं जो सरस्वती कंठाभरण तथा शृङ्गार-प्रकाश दोनों मे पाये जाते हैं :—

अण्णोण्णेहिं सुचरिअ सअंहि अणुदिण
अप्पणांवि णहु महुपि वड्ढिअ माणु ।
× ⊠ ×
अहं अप्पाणेण समाणु ॥[2]

---

१. छन्दोऽनुशासन ४३. १, पृ० २२२ ।

२. जी० आर० जोसिर : शृङ्गार-प्रकाश, पृ० ३७५ ।

कुमार पाल को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि मन में किसी तरह की चिन्ता मत करो जो तुम्हारी (भव) रज्जु समाप्त कर दे उसी की चिन्ता करो :—

कुमारपाल मन चिंत चिंतिहु किंपि न होइ ।
जिणि तुह रज्जु समप्पिउ चित करेसइ सोइ ॥[१]

कहीं-कहीं ऊहात्मक वियोग का भी वर्णन मिलता है। मुग्धा के आसुओं को रोकने के लिए दोनों हाथों को पीछे किए हुए पथिक पुलिंद पशु की तरह जल पी रहा है :—

पसु जेम पुलिंदउ पउ पियइ पंथिउ कवणिण कारणिण ।
करवेवि करंपिअ कज्जलिण मुद्धहु अंसु निवारणिण ॥[२]

'प्रबन्ध-कोश' में अधिकतर दोहा छन्द प्रयुक्त है किन्तु सोरठा के भी प्रयोग मिलते हैं।

प्राकृतानुशासन :

ऐहिक मुक्तक काव्य के अध्ययन में हेमचन्द्र रचित 'प्राकृतानुशासन' का विशेष महत्त्व है। इसमें शृंगारिक, नीतिपूर्ण, सुभाषित, भक्तिपरक, वीर-रसात्मक करीब १७६ पद्य उद्धृत हैं। शृंगाररस के जितने पक्ष हो सकते हैं वे सभी इसमें मौजूद हैं। नायिकाओं का सौन्दर्य चित्रण, परकीया का विलास, नायक और नायिका के बीच सखी और दूती की भूमिका, संकेतस्थल, प्रिय-दर्शन से उत्पन्न सुख की अनुपम अनुभूति, मान प्रसंग, संभोग, प्रवास आदि का उत्कृष्ट वर्णन है।

नायक और नायिका युद्ध में भी सहयोगी है अतः कुछ मुक्तकों में वीररस का भी अच्छा परिपाक है।

छन्दोऽनुशासन :

'छन्दोऽनुशासन' में लगभग ढाई सौ उद्धृत (स्वरचित) मुक्तक हैं। जैसी वचन विदग्धता उनके व्याकरण में संग्रहीत अपभ्रंश पद्यों में मिलती है वैसी 'छंदोऽनुशासन' के अपभ्रंश पद्यों में नहीं। मुक्तकों के विषय अधिकतर शृङ्गारिक हैं। कुछ मुक्तक प्रकृति का मादक तथा प्रभावकारी चित्रण प्रस्तुत

१. प्रबन्ध कोश, पृ० ५१।
२. वही, पृ० ५२।

भोज का समय :

डा० भाडारकर का विचार है कि भोज दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुए थे। पी० वी० काणे ने भी इस समय का समर्थन किया है।[1]

प्राकृत-पैंगलम् :

परवर्ती अपभ्रंश के मुक्तक 'प्राकृत-पैंगलम्' मे उपलब्ध होते हे। 'प्राकृत-पैंगलम्' के संग्रहकर्त्ता के विषय मे निश्चित नही है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लक्ष्मीधर को इसका संग्राहक मानते है।[2] डॉ० भोलाशंकर व्यास किसी मागध (चारण या भाट) को इसका संग्राहक मानते है।[3] 'प्राकृत-पैंगलम्' में हम्मीर, सुलतान खोरासान और उल्ला साही तथा तुल्क आदि राजाओ तथा शब्दों का उल्लेख है। प्रस्तुत कृति पर अनेक सस्कृत टीकाएँ मिलती है जो सोलहवी शती के पीछे की हैं। अनेक विवरणो पर विचार करते हुए डॉ० व्यास ने 'प्राकृत-पैंगलम्' की उपरितम सीमा हम्मीर (१३०१) ई० तथा निम्नतम सीमा दामोदर (१४००) ई० मानी है। इस समय सीमा को और कम करने पर हम कह सकते है कि 'प्राकृत--पैलगम्' का सग्रहकाल हरि सिह-देव तथा ब्रह्मदेव के समय से कुछ ही पुराना है तथा यह चौदहवीं शती का प्रथम चरण मजे से माना जा सकता है।[4] 'प्राकृत-पैंगलम्' मे उदाहरण-स्वरूप प्रयुक्त मुक्तको मे ऋतु-चित्रण, यश-वर्णन तथा कही-कही सामान्य जन की आकांक्षाओ को व्यक्त किया गया है। शिव तथा कृष्ण से संबंधित स्तुति-परक पद्य भी है।

---

१. वी० वी० काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ३२५-३२६।

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ६।

३ डॉ० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत-पैंगलम् (भाग २), पृ० २५।

४ वही पृ० २०

अपभ्रंश मुक्तक-काव्य की प्रवृत्तियाँ और उनका हिन्दी पर प्रभाव

धार्मिक प्रवृत्ति :

पिछले अध्याय में अपभ्रंश मुक्तक काव्य के स्वरूपात्मक विकास के अन्तर्गत अपभ्रंश मुक्तकों की धर्मपरकता की ओर निर्देश किया जा चुका है। जैनधर्म, शैवधर्म, बौद्धधर्म (सिद्धादि) को व्यक्त करने के लिए जिन मुक्तकों को माध्यम बनाया गया है उनमें नीति, धर्म, आचार, रहस्यवाद आदि सभी कुछ समाहित हो गये हैं। किसी एक रचना को पूर्णतया धार्मिक नहीं कहा जा सकता है यद्यपि धर्म विशेष से संबंधित अनेक मुक्तक कृतियाँ उपलब्ध है। धार्मिक मुक्तकों के अन्तर्गत उन समस्त आचारपरक, नैतिकता तथा विशिष्ट धार्मिक मान्यताओं से युक्त मुक्तको को सम्मिलित किया जा सकता है जो अधिक गूढ और रहस्यपूर्ण नहीं है। सर्वमान्य तथा प्रचलित रूप से जैनधर्म, शैवधर्म और बौद्धधर्म तीनों में पारस्परिक अन्तर पाया जाता है। इस दृष्टि से मुक्तको की भी त्रिविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

जैन मुक्तककारों ने द्रव्य व्यवस्था, द्रव्य-भेद, जीव, अजीव (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल, आत्मा की अवस्था, आत्मा और परमात्मा का संबंध आत्मा तथा कर्म, आस्रव-संवर-निर्जरा, मोक्ष, ब्रह्म की अनुभूति, पंचेन्द्रिय नियन्त्रण, वाह्य अनुष्ठान, पुण्य-पाप आदि का वर्णन किया है। इनमें कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए है जो इन मुक्तकों को जैनधर्म से संलग्न करते है। यद्यपि ये सभी मुक्तक धार्मिक है किन्तु इनमें कुछ गूढ रहस्यवादी तत्त्व भी समाहित है इसलिए इन्हे जैन रहस्यवाद के अन्तर्गत माना जाता है। धार्मिक आचारपरक मुक्तकों के प्रमुख संग्रह हैं 'सावयधम्म दोहा 'चर्चरी', 'उपदेश रसायन रास', 'कालस्वरूप कुलक', 'संयम मंजरी।' वैसे अन्य कृतियो मे भी इस तरह के दोहे प्राप्त है। 'सावयधम्म दोहा' मे श्रावकों को उपदेश दिया गया है। मनुष्य को धार्मिकता तथा नैतिकता से विचलित करनेवाले तत्त्वो का विश्लेषण किया गया है। कवि कहता है कि मनुष्य जीवन दुर्लभ है। मनुष्यत्त्व का सार सुख है। सुख धर्म पर आधारित है किन्तु सामान्य लोगो के द्वारा बताये गये धर्म में मंगल या अमंगल की शंका उत्पन्न हो सकती है इसलिए उसी धर्म का पालन करना चाहिए जो त्रिकाल ज्ञाता, सर्वदोषो से

रहित केवल ज्ञानी अरहंत के द्वारा कहा गया है।[१] दर्शन व्रत त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभ, त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग आदि ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म के पालन की सलाह दी गयी है। किन्तु ये ग्यारह स्थान सम्यकत्व रहित जीव के लिए अप्राप्त है। सम्यकत्व के लिए तो शंकादि आठ दोष, आठ मद और तीन मूढ़ता का परित्याग करना चाहिए। मद्य, मांस तथा मधु का परिहार करना चाहिए। कवि, मद्यपान वेश्यावृत्ति तथा परस्त्री गमन की निन्दा करता है। धार्मिक जीवन मे दान का महत्त्व पात्र, अपात्र के विवेक पर निर्भर है अपात्र को दिया हुआ दान ऊसर जमीन की खेती की तरह निष्फल होता है।[२] स्पर्शेन्द्रिय का लालन न करना, जिह्वेन्द्रिय का सवरण करना, घ्राणेन्द्रिय को वश में करना, नेत्रेन्द्रिय को रूप से विरक्त करना, कर्णेन्द्रिय को मनमोहक गीत से निरभिलषित करना आदि सच्चे साधक के कर्त्तव्य है।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन दोनो मे गुरु का विशेष महत्त्व माना गया है। सुगुरु, कुगुरु की सही पहचान भी आवश्यक है। सुगुरु, कुगुरु यद्यपि बाहर से समान दिखाई देते है किन्तु कुगुरु के अन्तर में व्याधि भरी रहती है। जैन कवि जिन वल्लभ का वर्णन बड़े ही पक्षपातपूर्ण ढग से करते हैं। उन्हे व्याकरण, शुभ लक्षण, शब्द-अशब्द, यति, छन्द, गुरु, लघु आदि का ज्ञान तो है ही साथ ही अपूर्व नवरसयुक्त काव्य रचना की शक्ति भी है। जिन वल्लभ के आगे लोक कवि कालिदास, माघ, वाक्पति आदि कवि कीर्ति नही पाते। कवियो का चैत्यगृह वर्णन जैनधर्म के आचारानुकूल है। चैत्य-गृह मे रात्रि में रथभ्रमण निषिद्ध है। वहाँ श्रावक जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा नही करते। श्रावक ताम्बूल भक्षण नहीं करते न जूता पहनते है। हास, क्रीडा, होडा, रोष कीर्ति निमित्त धनदान निषिद्ध है। 'संयम-मंजरी' में संयम के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि सयम मोक्ष का द्वार है, जो व्यक्ति संयम का पालन नहीं करता उसके लिए संसार दुस्तर है।[३]

हिन्दी मुक्तकों पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य का भक्ति काव्य कुछ हद तक धार्मिक काव्य भी कहा जा सकता है किन्तु उसमें मात्र आचारपरक धार्मिकता नहीं है। आचारपरक नैतिक

१. देवसेन : सावयधम्म दोहा, दोहा नं० ४, ५ पृ० १।

२. वही, पृ० ४, ५, दोहा ४५, ५०, ५१, ८३।

३ महेसरसूरि : संयम मंजरी, दोहा नं० २।

भाव ईश्वर और भक्त के संबधो को प्रगाढ़ बनाने के निमित्त मात्र होते है। भक्त कवियो की आचारपरकता लोक मान्यता पर आधारित है किन्तु हिन्दी मुक्तक-काव्य-परम्परा मे कुछ जैन कवियो का एक ऐसा वर्ग है जो इस परम्परा से विशेष रूप से प्रभावित है। बनारसीदास, भगवतीदास, रूपचन्द्र, ब्रह्मदीप, आनन्दघन, यशोविजय आदि इसी वर्ग के कवि है। तुलसी और सूर मे आचारपरकता का पूरा-पूरा समर्थन मिलता है। तुलसीदास अपने मुक्तकों मे मानवीय विकारों पाखण्ड काम, मोह, भ्रम, निन्दा आदि के निराकरण पर विशेष जोर देते हैं। उन्होने गुरु-सेवा, बड़ो का आदर, भ्रातृ-स्नेह आदि से लोकधर्म की प्रतिष्ठा की है। तुलसी यद्यपि समन्वयवादी थे किन्तु ब्राह्मण धर्म के प्रति उनकी अधिक निष्ठा थी। तुलसी ने बार-बार नारियो से बचने का उपदेश दिया है जो जैन-परम्परा का प्रभाव जान पडता है। जैन-मुक्तक-काव्य में आगमो से लेकर क्रान्तिकारी कवि जोइन्दु, रामसिंह तक स्त्री-निन्दा के जितने विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन मिलते है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। यह परम्परा भक्ति काल के सभी भक्त कवियों मे परिलक्षित होती है। सूरदास ने गुरु के साथ सत्संग तथा सदाचार की आवश्यकता बताई है। परीक्षित को भक्ति का उपदेश देते हुए शुकदेव, साधु संगति करने, पुराणादि सुनने, इन्द्रियो का निग्रह करने, काम, क्रोध, लोभ, मोह, त्यागने तथा नारी से बचने का उपदेश देते हैं।[1] मनुष्य के लिए कटुवचन, परनिन्दा, कुसंग, धन का संचय, गुरु ब्राह्मण, सन्त-सुजन का संग न करना, भगवद्भजन न करना, पर-पीडन करना, कुटुम्ब के साथ डूबने के कारण है।[2]

सिद्धो की साधना अधिक अनुभूतिपरक, गूढ़ तथा अद्वैतवादी है। उनकी प्रत्येक रचना कुछ न कुछ रहस्यमय है। इसलिए उनके द्वारा रचित समस्त मुक्तको को रहस्यवाद के अन्तर्गत सम्मिलित करके विवेचित किया गया है। धार्मिक मुक्तको की सीमा का निर्धारण करते समय पहले ही इनमें आचारपरकता तथा नैतिकता का जिक्र किया जा चुका है। फिर इन सिद्धो की साम्प्रदायिक स्थिति बहुत स्पष्ट है जो कि उन्हे बौद्ध धर्म से सहज ही जोड देती है। जिस तरह जैनी अरहत, कैवली या जिन को अधिक महत्त्व देते है और वैष्णव राम तथा कृष्ण को उसी तरह सिद्ध भी जहाँ परमात्मा का नामकरण

---

१ ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास, पृ० १६७।

२. सूरसागर-पद ३८८।

करते है वहाँ वे बुद्ध का नाम लेते हैं।[1] सिद्धों के काव्य में विवेचित शून्य, करुणा, आदि बौद्ध धर्म से प्रभावित है। सिद्धों ने 'शून्यता' के भौतिक प्रतीक के रूप मे वज्र को ग्रहण किया। वज्रयान का अर्थ है सब बुद्धों का ज्ञान। बौद्ध धर्म आगे चलकर महायान तथा हीनयान शाखाओ मे विभक्त हो गया।' वज्रयानियों ने मंत्र, मुद्रा, मंडल, देवताओं को सिद्धि या निर्वाण में सहायक मानना आदि अनेक बाते महायान से ग्रहण की।[2]

सिद्धों ने बाह्याडम्बरो से मुक्त आन्तरिक शुचिता प्रधान सहज धर्म चलाया। इस सहज का भी सिद्धों ने विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। आगे चलकर सन्त-कवियों मे इस धर्म को मान्यता मिली जिसमे बाह्य क्रिया विधानों, पूजा-पाठ आदि का निषेध था।

काश्मीरी अपभ्रंश मे लिखित शैव-धर्म संबधी तीन रचनायें प्राप्त हुई है जिनमे से महानयप्रकाश पराह्निगिका दोनों बिलकुल दार्शनिक है। तीसरी रचना 'लल्लेश्वरी वाक्यानि' अधिक काव्यात्मक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसमे व्यक्त भावधारा बहुत कुछ सन्त कवियों के समान ही है जैसे शिव को शरीर के अन्दर मानना, निन्दा, स्तुति, पूजा, हर्ष आदि की कोई परवाह न करना, अजपा जाप आदि। शिव के साथ सभी सम्बन्धों की परिकल्पना सन्त कवियों मे विशेष रूप से विकसित हुई। 'महानय प्रकाश मे सृष्टि की रचना के संदर्भ मे नाद-बिन्दु आदि का उल्लेख मिलता है। सन्त कवियों मे जो नाद-बिंदु आदि का उल्लेख मिलता है वह सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय से ग्रहीत जान पडता है किन्तु शैव धर्म का ही यह प्रमुख तत्त्व है।

रहस्यवादी प्रवृत्ति :

रहस्य का अर्थ है गुह्य या अज्ञेय। स्थूल रूप से अज्ञात या छिपे हुए गूढ़ तत्त्व को जानने की अभिलाषा, उपाय आदि रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं। सृष्टि के आदिमकाल से मानव के समक्ष प्रकृति के विविध रूप पहेली या रहस्य रूप में उपस्थित होते रहे। वह उन्हे जानने के लिए बौद्धिक, हार्दिक प्रयत्न करता रहा। सभ्यता तथा संस्कृति के सतत् विकास के साथ अनेक अज्ञात चीजें ज्ञात होती गयी। किन्तु वह परम शक्ति तथा उसकी विचित्र रचना अन्तिम रूप से अब भी नहीं जानी जा सकी। उसी परमात्म शक्ति का

१. पढिअ सअल सत्थ वखार्णाहि, देहहिं बुद्ध बसन्त ण जाणहिं।
२. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, पृ० १७२।

साक्षात्कार किया। उसके साथ अभेद स्थापना का प्रयास ही रहस्यवाद का जन्मदाता है। संसार के सभी देशों तथा धर्मों में रहस्यवाद के तत्त्व किसी न किसी रूप मे पाये जाते है। विद्वानों ने इसे धर्म की ही प्रगाढ़ अनुभूति मानी है। 'रहस्य-वाद आत्मा और परमात्मा की एकता की सच्ची अनुभूति है इसके अलावा यह कुछ भी नहीं केवल धर्म की आधारभूत भावना है,[1] प्रिंगिल पेटीशन ने रहस्य-वाद की प्रतीति मानव मस्तिष्क द्वारा सत्य के ग्रहण करने के प्रयास मे मानी है।[2] डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक-शक्ति मे अपना शान्त और निश्छल संबंध जोडना चाहती है और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।[3]

कायर्ड के अनुसार रहस्यवाद मस्तिष्क या मन की वह अवस्था है जिसमे आत्मा और ईश्वर के संबंध के अलावा सब कुछ विलीन हो जाता है।[4] प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्राड रसेल ने रहस्यवाद के चार आधार निश्चित किये—

(१) ज्ञान की उस शाखा में विश्वास करना जो ऐन्द्रिय ज्ञान तर्क से भिन्न स्वयंसंवेद्य है।

(२) पाप-पुण्य दोनों का निषेध करके आत्मा और परमात्मा की एकता मे विश्वास।

(३) समय तथा काल की सीमा की अस्वीकृति।

(४) संसार को माया, भ्रम तथा दिखावा मात्र मानना।[5]

एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि रहस्यवाद न अनुभव है, न प्रवचन, न मन की कोई क्रिया, न कोई कर्मकाण्ड। हमारी कोई भी इन्द्रिय कोई भी शक्ति इस रहस्यवाद की प्राप्ति में हमारी सहायता नहीं कर सकती। जब मन एकान्ततः निष्क्रिय हो जाता है तो उसे एक परम ज्योति का साक्षात्कार होता है।[6]

---

१. डीन इन्ग : मिस्टिसिज्म इन रिलिजन, पृ० २५।

२. वही, पृ० २५।

३. डॉ० रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६।

४. डीन इन्ग : मिस्टिसिज्म इन रिलिजन पृ० २५।,

५. बर्ट्रान्ड रसेल : मिस्टिसिज्म एन्ड लाजिक, पृ० १६-१७

६. रामरतन भटनागर : रहस्यवाद, पृ० ६।

आलोच्यकाल के रहस्यवादी साधकों का संबंध किसी न किसी रूप से समाज तथा धार्मिक सम्प्रदायों से जुड़ा था। यदि किसी धर्म के वे विरोधी थे तो किसी के समर्थक। अतः उनमे खंडन-मंडन की भी प्रवृत्ति आ गयी। उन्होंने अनुभूति से अलग बाह्याचारों का विरोध किया क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार कोई अन्य शक्ति हमें इस एकात्मक अनुभूति मे सहायता नहीं देती। इसलिए प्रस्तुत अध्याय में रहस्यवादी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा, माया, सृष्टि, गुरु-महिमा आदि के साथ पुण्य-पाप, पुस्तकीय ज्ञान, मन, इन्द्रिय वशीकरण आदि के ऊपर व्यक्त विचारों को भी उद्घाटित किया गया है। रहस्यवाद का संबंध काव्य से जुड़ा हुआ है। दर्शन मे जहाँ बुद्धि तथा तर्क की शुष्क प्रणाली के माध्यम से आत्मा-परमात्मा की एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है वहाँ काव्य मे भावना का प्रमुख स्थान रहता है। रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि दर्शन का जो अद्वैतवाद है काव्य में वही रहस्यवाद है। जयशंकर प्रसाद ने भी काव्य मे आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा को रहस्यवाद माना।[1]

रहस्यवाद पर योगधारा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। उपनिषद् के आत्मज्ञों में हम आर्य काल से चली आती हुई योगधारा का भी प्रभाव पाते है।[2] सिद्ध नाथ तथा संत साहित्य साधनात्मक स्तर पर योग से इतना अधिक प्रभावित है कि योगपरक प्रवृत्तियों को अलग से विवेचित करने की आवश्यकता महसूस की गई।

आत्मा :

संसार के समस्त दर्शनों और संप्रदायों के साधकों द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तना की गयी है। अनेक निष्कर्ष भी निकाले गये अतः उनके विविध मत तथा सिद्धान्त बन गये। वेदान्त, न्याय और मीमांसा मे आत्मा को सर्वव्यापी स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन जीव को जड़ मानता है। बौद्ध विचारकों ने आत्मा को शून्य माना है।[3] उपनिषदों में उसकी व्याख्या अणु से अणुतर तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप मे की गयी। जैन कवि जोइन्दु के अनुसार आत्मा नित्य ज्ञानमय तथा निरामय है। किन्तु

१. जयशंकर प्रसाद : काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० २०।

२. रामरतन भटनागर : रहस्यवाद, पृ० ७।

३ वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद, पृ० १४७।

भ्रम के कारण उसने अपने स्वरूप को भुला दिया है। देह के सुख-दुख को आत्मा का सुख-दुख कल्पित कर लिया जाता है। शरीर के जन्म, जरा, मरण को आत्मा का जन्म, जरा, मरण, मान लिया जाता है। आत्मा न तो ब्राह्मण है, न वैश्य, न क्षत्रिय है न और कुछ। आत्मा न तो पुरुष है, न नपुंसक, ज्ञानी इसे अच्छी तरह से जानता है। आत्मा का कोई चिह्न नहीं है। आत्मा न तो पंडित है, न मूर्ख, न ईश्वर है। तरुण, बाल, कुछ भी नहीं।[1]

मुनि रामसिंह कहते हैं कि आत्मा वर्णहीन, आकारहीन, अवस्थाहीन, नित्य, ज्ञानमय तथा भावों से सम्भाव्य है। वह सन्त, निरंजन एवं शिव है इसलिए उसमें अनुराग करो—

वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
सन्तु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणराउ।[2]

यद्यपि आत्मा का निवास शरीर के अन्दर ही है किन्तु वह शरीर से पूर्णतया भिन्न है। इसलिए शरीरजन्य सुख-दुख को आत्मा पर आरोपित नहीं करना चाहिए। ज्ञान के विस्फुरित होने पर साधक के मन में देह की तुच्छता तथा व्यर्थता का भाव दृढ़ तथा स्पष्ट हो जाता है। शरीर की सजावट, उबटन, तेल, सुमिष्ट आहार आदि उसे दुर्जन के प्रति किये गये उपकार की तरह निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं :—

उब्बलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिम दुज्जण उवयार।।[3]

महयंदिण मुनि ने आत्मा को कल मल रहित तथा अशरीरी माना है, गोरा, काला, दुर्बल आदि तो इस शरीर के गुण हैं :—

गोरउ कालउ दुब्बलउ बलियउ एउ सरीरु।
अप्पा पुणु कलि मल रहिउ, गुणवंतउ, असरीरु।[4]

आणंदा ने आत्मा और परमात्मा को अद्वैत माना। उनकी दृष्टि में आत्मा

---

१. स० ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश, द्वितीय महाधिकार, दोहा० ८७, ८८, ८९, ९२।

२. पाहुड दोहा, दोहा ३८।

३. वही, दोहा १८।

४. महयंदिण मुनि : दोहापाहुड, दोहा ४०।

संयम, शील सब कुछ है।[1] जैन दर्शन मे आत्मा की निजी कल्पना है क्योंकि उसमें आत्मा से अलग कोई भिन्न नियामक सत्ता नहीं मानी गयी है। आत्मा में ही निज स्वरूप ज्ञान के बाद ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह परमात्मा बन जाती है। यद्यपि आत्म-द्रव्य एकरूप रहता है तिस पर भी पर्याय दृष्टि से उसमें भेद होता रहता है। जैन-कवियों ने आत्मा की तीन अवस्थाये निरूपित की है :—

(१) बहिरात्मा—आत्मा की वह अवस्था है जिसमे आत्मा अपने सच्चे रूप को नही पहचानता। वह देह तथा इन्द्रियो को ही आत्मवत् मानने लगता है। यह अवस्था अज्ञान या मूढ़ावस्था है।[2]

(२) अन्तरात्मा—यह आत्मा की द्वितीय अवस्था है। इस अवस्था मे आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान हो जाता है किन्तु अभी वह पूर्णज्ञानी नहीं होता। वह परम समाधि में स्थित रहता है तथा ज्ञानयुक्त विवेकी कहलाता है।[3]

(३) परमात्मा—यह आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था है। इस अवस्था मे पूर्ण ज्ञानी होता है। यह परम ब्रह्म की अवस्था है। लेकिन जैनियो का परब्रह्म वेदान्तियों के 'ब्रह्म' से सर्वथा भिन्न है। जैन आचार्यों के मत से प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र एवं पृथक् व्यक्तित्व रखता है। वह किसी एक ही सर्वथा अद्वैत, अखण्ड परमात्मा का अंश नही है।[4] जोइन्दु मुनि कहते हैं कि सभी पर द्रव्यों से मुक्त, कर्म विमुक्त, ज्ञानमय आत्मा को परमात्मा समझना चाहिए :—

---

१. अप्पु णिरञ्जणु परम सिउ अप्पा परमाणन्दु।
मूढ कुदेवण पूजियइ, आणन्दा रे गुरु विणु भूलउ अन्ध।

२. ति पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर सायहि अंतर सहिउ बहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥ योगसार
मूढ वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ हवेइ ॥१३॥ परमात्म प्रकाश

३. देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमाणु ठिएइ।
परम समाहि परिट्ठयउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥ परमा० प्रकाश

४ डा० वासुदेव सिंह अपभ्रंश और हिंदी में जैन पृ० १२४

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म विमुक्के जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।

सिद्ध-साहित्य सिद्धयान संबंधी विचारों का व्यक्त कोश है। सिद्धयान या सहजयान बौद्ध-दर्शन का ही विकसित तथा परिवर्तित रूप है। बौद्ध दर्शन को प्राय अनात्मवादी दर्शन कहा जाता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'चित्त जिसे वहाँ शुद्ध विज्ञान माना गया है बिलकुल आत्मा के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] सिद्धो ने भी आत्मा के स्थान पर चित्त शब्द का ही अधिक प्रयोग किया है। इनका चित्त सम्बन्धी विचार शंकर के अद्वैतवाद या उपनिषदिक विचारो से अधिक प्रभावित न होकर विज्ञानवाद से प्रभावित है। चित्त की आध्यात्मिक प्रकृति पर जोर देते हुए इन सिद्धो ने आन्तरिक चित्त और जगत (संसार) की अभिन्नता स्थापित की। उनका विचार है कि एक तत्त्व है जो चौदह भुवनो मे निरन्तर स्थित है और वह तत्त्व-चित्त निरालम्ब स्थित है उसे अन्य किसी रूप मे देखना भ्रान्ति है।[2] चित्त से ही भवनिर्माण विस्फुरित होता है। यह चिन्तामणि के तुल्य है। इसे प्रणाम करने से वाछित फल की उपलब्धि हो जाती है। चित्त का मूल परिलक्षित नही होता। जो व्यक्ति मूल रहित (चित्त) तत्त्व का चिन्तन करता है तथा गुरु के उपदेश मे इसके अभि-व्यक्त रूप को देखता है वह निपुणता से इसे जानकर परम सुख का अधिकारी बन जाता है।[3] चित्त ऐसे देव के समान है जो सर्वत्र विराजित है किन्तु अपने सहज रूप मे किसी को दिखाई नही देता।[4] सरह ने परम पद मे उसी तरह विलीन होने के लिए कहा जिस तरह नमक पानी में घुल जाता है—

जिम्ि लोण विलिज्जइ पाणिएहिं, तिम जइ चित्तवि ट्ठाइ।
आपा दीसइ परहि, तत्थ् समाहिए काइ ॥[5]

सन्त कवि दादू ने आत्मा और परमात्मा के विलय को नमक और पानी के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। दोनों कवियो में अद्भुत समानता है .—

---

१. निर्गुण साहित्य : सास्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० मोतीसिंह, पृ० १६८।
२ जिम बाहिर तिम अबभन्तरु।
 चउदह भुवणे ठिअउ णिरन्तरु॥ चर्यागीति कोष, पृ० १६४।
३ संपा० राहुल साकृत्यायन : दोहा कोश, २३, २७, २८, पृ० ६-८।
४. वही, दोहा, ११६।
५ सं० राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० १२।

जहँ आतम तहँ परमात्मा, दादू सहजि समाइ

\+ + +

परआतम सो आतमा, ज्यो जल उदक समान ।
तन मन पानी लोण ज्यो, पावै पद निर्वाण ॥

सन्तो के अनुसार जीव ब्रह्म तो है पर पूर्ण नहीं । 'कहु कबीर यहु राम को अंश' जो अन्तर बूँद और समुद्र मे है वही अन्तर आत्मा और परमात्मा मे । जिस प्रकार चिनगारी से अग्नि निकलकर पुन: उसी मे लीन हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से निकलकर उसी में लीन हो जाता है । जीवात्मा नियंता तथा परमात्मा उसका नियामक है । एक पद में तुलसी ने कहा कि जीवात्मा परमात्मा से अलग नही है । वह हरि से अलग होकर इस सूक्ष्म शरीर को अपना घर मान लेता है ।[1] मायावस सच्चे स्वरूप को भूलकर दारुण दुख सहता है । जोइन्दु द्वारा वर्णित बहिरात्मा की भी यही दशा है । जब देह तथा इन्द्रियाँ ही आत्मवत् दिखाई देती है अर्थात् आत्मा और देह का सम्बन्ध इतना दृढ़ हो जाता है कि परमात्मा सम्बन्ध निरर्थक रूप लगने लगता है । यह अवस्था मूढ़ावस्था ही है तथा दु खदायी है ।

हिन्दी के भक्तिपरक मुक्तको मे आत्मा का स्वरूप जैनियों तथा सिद्धो के समान ही है । आत्मा की शुद्धता, शाश्वतता, अजरता, अमरता, वर्ण तथा जातिहीनता सब भक्तो को मान्य है किन्तु इसके बावजूद भी इनकी मान्यताओ मे पर्याप्त अन्तर भी दृष्टिगत होता है । निर्गुण भक्त तथा सगुण भक्त कवियों ने परमात्मा और आत्मा मे अंशी और अंश का संबंध मानते हुए दोनो को अद्वैत माना है । माया तथा अविद्या के कारण आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है जिससे दोनो मे भेद प्रतीत होने लगता है । जोइन्दु आदि जैन मुनियों ने परमात्मा और आत्मा के इस तरह के संबंध को नही स्वीकारा । इतना तो वह भी मानते हैं कि माया या अविद्या (अज्ञान) के कारण विशुद्ध आत्मा के सच्चे रूप को लोग विस्मृत कर देते है । जैनों ने आत्मा तथा परमात्मा को एक ही माना ।[2] वास्तव मे यह अद्वैत शांकर या उपनिषदिक

---

१. जिय जब ते हरि ते बिगान्यो ।
   तब ते गेह निज जान्यो ।
   माया बस सरूप बिसरायो ।
   तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो । विनयपत्रिका, पृ० १३६ ।

२ बागंदा (अपभ्रंश और हिंदी में जैन रहस्यवाद परिशिष्ट

अद्वैत से भिन्न है क्योंकि यहाँ आत्मा का संबध ब्रह्म की सापेक्षता मे नही आंका गया है। लेकिन ये समस्त कवि जब एक तत्त्व के ही विस्तार की बात करते है तो वे सभी एक ही भूमि पर उतर आते है। जब एक ही तत्त्व है तो उसे चाहे शुद्ध आत्मा कहिए या शुद्ध परमात्मा। दोनो में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जोइन्दु के द्वारा व्यक्त परमात्मा, सिद्धों का चित्त जिसे शुद्ध विज्ञान कह सकते है तथा भक्त कवियो का ईश्वर या ब्रह्म (परमात्मा) सब एक तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप है। हिन्दी के निर्गुण सन्तों ने ब्रह्म और जीव की एकता को असदिग्ध शैली में प्रतिपादित किया है। उनका यह प्रतिपादन शंकराचार्य के अद्वैतवाद, उपनिषदों के आत्मा-परमात्मा संबंधी सिद्धान्तो से अधिक मेल खाता है परन्तु यह वही नहीं है।

परमात्मा :

पहले ही संकेत किया गया है कि जैन मुक्तककार आत्मा और परमात्मा को एक ही मानते है।[१] परमात्मा या ब्रह्म कही बाहर नही है उसका निवास शरीर के ही अन्दर है। जोइन्दु मुनि के विचार से जो निर्मल ज्ञानमय देव सिद्धि में निवास करता है वही परमब्रह्म शरीर मे भी बसता है दोनो मे भेद नही करना चाहिए।[२] मुनि रामसिंह का कथन है कि साढे तीन हाथ के शरीर में अज्ञानी का प्रवेश नही होता। निर्मल, सत निरंजन तो वही निवास करता है।[३] लक्ष्मीचन्द्र ने भी इसी बात का समर्थन किया है। जो व्यक्ति यह नही जानता कि शिव का निवास शरीर रूपी देवालय मे है वह इधर-उधर भ्रमित होकर उसे खोजता फिरता है।[४]

१. एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म विसेसे जायउ जप्पा,
जायइ जाणइ अप्पे अप्पा तामइ सो जि देउ परमप्पा ॥ १७४ ॥
परमा० द्वि० महा०, पृ० १३७।

२. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥
—परमात्म प्रकाश पृ० ३३।

३. हत्थ अहुट्ठहं देवली बालह णाहि पवेसु।
संतु णिरजणु तहि बसइ, णिम्मलु होइ गवेसु ॥ ९४ ॥
—पाहुड दोहा पृ० २८।

४ हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहिं सिव संतु मुणेइ।
मूढ़ा देवलि देउ णवि, भुल्लउ काहं भमेइ ॥ ३८ ॥—दोहाणुपेहा

जैन साधको ने ब्रह्म के अनेक नामो के संबंध मे कोई विवाद नही खडा किया बल्कि अनेक प्रचलित नाम रूपो को एक ही ब्रह्म से अभिन्न ठहराया। जोइन्द मुनि निरंजन के स्वरूप को समझाते हुए कहते है कि जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द तथा स्पर्श से रहित है जिसका जन्म मरण नहीं होता वही निरंजन है। जिसे क्रोध, मोह, मद नही होता। उसको न माया ग्रसित करती है और न मान की परवाह है, जो पाप-पुण्य, हर्ष-विलास से अछूता है जो निर्दोष है उसे निरंजन समझो।[1] यद्यपि उपर्युक्त वर्णनो मे निरजन शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया गया है परन्तु इससे नाम भेद की संकीर्णता का आरोपण नही किया जाना चाहिए। अपनी दृष्टि की उदारता का परिचय देते हुए कवि ने स्वयं लिखा है—

> अरहन्तु वि सो सिद्ध फुडु सो आयरिउ वियाणि।
> सो उव झायउ सो जि मुणि णिच्छंइ अप्पा जाणि॥ १०४॥
> सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्ध।
> सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्ध॥[2]

आत्मा ही अर्हन, सिद्ध, उपाध्याय, मुनि, शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिण, ईश्वर, ब्रह्म, सिद्ध सब कुछ है।

सिद्ध कवियों ने परमात्मा शब्द का बहुत कम प्रयोग किया है। उन्होंने परमात्मा तत्त्व की व्याख्या परमपद, महासुख, सहज तथा सबसे अधिक शून्य रूप मे की है। परमपद सामान्य चक्षु की दृष्टि से परे है। वहाँ आत्मभाव नष्ट हो जाता है तथा इन्द्रियो की गति विलीन हो जाती है। मन मर जाता है पवन भी गायब हो जाता है। ऐसी अवस्था मे लय होना ही परमसुख है।[3] वह परमपद मायामय है। जिस प्रकार पानी में नमक घुलकर पानी हो जाता है उसका कोई अलग अस्तित्व प्रतीत नहीं होता उसी तरह चित्त की अनुभूति होने पर आत्मा ही परमात्मा की तरह दिखाई देने लगता है फिर ध्यान लगाने की क्या आवश्यकता।[4] एक ही तत्त्व है जिससे सारा संसार रजित है। लेकिन उसे एक (अद्वैत) दो (अलग, अलग) न तो उसे द्वैत के रूप मे जाना जा सकता

---

१. परमात्म प्रकाश (प्रथम महाधिकार) पृ० २८, दोहा १९-२१।

२. योगसार, पृ० ३९४।

३. जहि मण मरइ, पवण हो तहि खअ जाइ।
एहु सो परम महासुह सरह कहिहउ जाइ दोहाकोश गीति प० ६

४ वही दोहा ४६ प० १२

है ।[1] सिद्धों ने 'शून्य' शब्द का काफी विस्तार किया किन्तु सिद्धों ने अपने शून्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है सभी विज्ञानवाद मे तथता के लिए कहा गया है और अन्त मे वे तथता को ही शून्य कहने लगे थे । यह तथता शून्य तत्त्व रूप में धर्म और पुद्गल के नैरात्मा रूप मे विद्यमान थी और इसी को परमार्थ कहते थे । भावाभाव, ग्राह्य-ग्राहक आदि की द्वयता से विवर्जित परिनिष्पन्न ज्ञान के रूप मे यह तथता थी । अत. इसे परिनिष्पन्न ज्ञान अव्यय या सम कहते थे ।[2] तिलोपा के अनुसार यह आदि, अन्त रहित अव्यय और उत्पाद-विहीन है ।[3] सरह के कथनानुसार यह जिस समय भवरूप मे होता है सभी आकारो में व्यक्त होता है और जब समरूप धारण करता है तो ख, सम हो जाता है ।[4] इस गूढ़ तत्व को किसी से कहा नही जा सकता । इसी तत्त्व को कण्हपा ने निरंजन अर्थात् अंजन (कलुष) हीन कहा है ।[5]

हिन्दी मुक्तक काव्य में परमात्मा सम्बन्धी चिन्तन पर प्रभाव :

निर्गुण सन्तो ने परमात्मा का वास शरीर के अन्दर ही माना है । वे सदैव चेतावनी देते रहते हैं कि तुम्हारा साईं तुम्हारे अन्दर ही है । उसे बाहर ढूँढने की क्या आवश्यकता है । कबीर ने इसे कस्तूरी और मृग के माध्यम से व्यक्त किया है । जोइन्दु, रामसिंह, सरहपाद तथा अन्य सिद्धो ने परमात्मा को देह के अन्दर ही माना है । हिन्दी के सगुण भक्त यद्यपि आत्मा परमात्मा के अद्वैत रूप को स्वीकार करते है किन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर उनकी द्वैतता की प्रतीति अधिक प्रगाढ़ हो जाती है । क्योंकि माया-मोह से सही सम्बन्ध विस्मृत हो जाता

---

१. एक्क करु मा वेण्णि करु, मा करु विण्ण विसेस ।
एक्कें रगें रञ्जिअा, तिहुअण सअलासेस ।। वही, दोहा ५०

२ डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १.३ ।

६. आइरहिअ एहु अन्तरहिअ । वरगुरुपाअ आ (इअ, कहिअ ।।६ ।।
चर्यागीत कोष । द्वितीय परिशिष्ट, तिल्लोपादानाम पृ० १८४ ।

४. जत्त वि चित्तहि विफ्फुरइ तत्त विणाह सरुअ ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरुअ ।। ७२
चर्यागीतिकोष वही, पृ० १६३ ।

५. लोअह गव्व समुव्वहइ हउं परमत्थे पवीण ।
कोडिह मज्झें एक्कु जइ होइ णिरञ्जण लीण ।। १ ।।
वही, पृ० १६७ ।

जैन साधको ने ब्रह्म के अनेक नामो के संबध मे कोई विवाद नही खड़ा किया बल्कि अनेक प्रचलित नाम रूपो को एक ही ब्रह्म मे अभिन्न ठहराया। जोइन्द मुनि निरंजन के स्वरूप को समझाते हुए कहते है कि जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द तथा स्पर्श से रहित है जिसका जन्म मरण नहीं होता वही निरंजन है। जिसे क्रोध, मोह, मद नही होता। उसको न माया क्षुभित करती है और न मान की परवाह है, जो पाप-पुण्य, हर्ष-विषाद मे अक्षुण्ण है जो निर्दोष है उसे निरंजन समझो।[1] यद्यपि उपर्युक्त वर्णनो मे निरंजन शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया गया है परन्तु इससे नाम भेद की संकीर्णता का आरोपण नहीं किया जाना चाहिए। अपनी दृष्टि की उदारता का परिचय देते हुए कवि ने स्वय लिखा है—

> अरहन्तु वि सो सिद्ध फुडु सो आयरिउ वियाणि।
> सो उव झायउ सो जि मुणि णिच्छइं अप्पा जाणि ॥ १०४॥
> सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्ध।
> सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणतु सो सिद्ध ॥[2]

आत्मा ही अर्हंत, सिद्ध, उपाध्याय, मुनि, शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिण, ईश्वर, ब्रह्म, सिद्ध सब कुछ है।

सिद्ध कवियो ने परमात्मा शब्द का बहुत कम प्रयोग किया है। उन्होने परमात्मा तत्त्व की व्याख्या परमपद, महासुख, सहज तथा सबसे अधिक शून्य रूप मे की है। परमपद सामान्य चक्षु की दृष्टि से परे है। वहा आत्मभाव नष्ट हो जाता है तथा इन्द्रियो की गति विलीन हो जाती है। मन मर जाता है पवन भी गायब हो जाता है। ऐसी अवस्था मे मग्न होना ही परमसुख है।[3] वह परमपद मायामय है। जिस प्रकार पानी मे नमक घुलकर पानी हो जाता है उसका कोई अलग अस्तित्व प्रतीत नही होता उसी तरह चित्त की अनुभूति होने पर आत्मा ही परमात्मा की तरह दिखाई देने लगता है फिर ध्यान लगाने की क्या आवश्यकता।[4] एक ही तत्त्व है जिससे सारा संसार रंजित है। लेकिन उसे एक (अद्वैत) दो (अलग, अलग) न तो रूप द्वैत के रूप मे जाना जा सकता

---

१. परमात्म प्रकाश (प्रथम महाधिकार) पृ० २८, दोहा १९-२१।

२. योगसार, पृ० ३९४।

३. जहि मण मरइ, पवण हो तहि खअ जाइ।
एहु सो परम महासुह, सरह कहिहउ जाइ॥ (दोहाकोश गीति पृ० ६)

४ वही दोहा ४६ पृ० १२

है ।[1] सिद्धो ने 'शून्य' शब्द का काफी विस्तार किया किन्तु सिद्धों ने अपने शून्य के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है सभी विज्ञानवाद मे तथता के लिए कहा गया है और अन्त मे वे तथता को ही शून्य कहने लगे थे । यह तथता शून्य तत्त्व रूप मे धर्म और पुद्गल के नैरात्मा रूप मे विद्यमान थी और इसी को परमार्थ कहते थे । भावाभाव, ग्राह्य-ग्राहक आदि की द्वयता से विवर्जित परिनिष्पन्न ज्ञान के रूप मे यह तथता थी । अतः इसे परिनिष्पन्न ज्ञान अव्यय या सम कहते थे ।[2] तिलोपा के अनुसार यह आदि, अन्त रहित अव्यय और उत्पाद-विहीन है ।[3] सरह के कथनानुसार यह जिस समय भवरूप मे होता है सभी आकारो मे व्यक्त होता है और जब समरूप धारण करता है तो ख, सम हो जाता है ।[4] इस गूढ़ तत्व को किसी से कहा नही जा सकता । इसी तत्त्व को कण्हपा ने निरंजन अर्थात् अंजन (कलुप) हीन कहा है ।[5]

हिन्दी मुक्तक काव्य में परमात्मा सम्बन्धी चिन्तन पर प्रभाव :

निर्गुण सन्तों ने परमात्मा का वास शरीर के अन्दर ही माना है । वे सदैव चेतावनी देते रहते है कि तुम्हारा साईं तुम्हारे अन्दर ही है । उसे बाहर ढूँढने की क्या आवश्यकता है । कबीर ने इसे कस्तूरी और मृग के माध्यम से व्यक्त किया है । जोइन्दु, रामसिंह, सरहपाद तथा अन्य सिद्धो ने परमात्मा को देह के अन्दर ही माना है । हिन्दी के सगुण भक्त यद्यपि आत्मा परमात्मा के अद्वैत रूप को स्वीकार करते है किन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर उनकी द्वैतता की प्रतीति अधिक प्रगाढ़ हो जाती है । क्योंकि माया-मोह से सही सम्बन्ध विस्मृत हो जाता

१. एक्क करु मा वेण्णि करु, मा करु विण्ण विसेस ।
एक्के रगे रञ्जिआ, तिहुअण सअलासेस ।। वही, दोहा ५०
२ डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १ ३ ।
३. आइरहिअ एहु अन्तरहिअ । वरगुरुपाअ आ (हअ, कहिअ ।।६ ।।
चर्यागीत कोष । द्वितीय परिशिष्ट, तिल्लोपादानाम पृ० १८४ ।
४. जत्त वि चित्तहि विफ्फुरइ तत्त विणाह सरुअ ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरुअ ।। ७२
चर्यागीतिकोष वही, पृ० १६३ ।
५. लोअह गब्ब समुब्वहइ हउं परमत्थे पवीण ।
कोडिह मज्झें एक्कु जइ होइ णिरञ्जण लीण ।। १ ।।
वही, पृ० १६७ ।

है। भक्त के लिए कुछ हद तक इस तरह की अनुभूति जरूरी भी है। कबीरादि निर्गुण सन्त नाम रूप या अवतार आदि को मान्यता न देते हुए भी ईश्वर या आराध्य को अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। इन नामों के स्मरण में कहीं-कहीं अवतारवाद की मान्यता का भी आभास मिलता है।[1] परन्तु सत्य तो यह है कि जैन रहस्यवाद में ही इस तरह के अनेक वर्णन मिलते हैं जिसमें आत्मा (परमात्मा) को जिन, निरंजन, अर्हंत, सिद्ध, उपाध्याय, मुनि, शिव शंकर, बुद्ध, ब्रह्म सब कुछ माना गया है। निर्गुण भक्तों ने इस परम्परा को बहुत कुछ उसी रूप में ग्रहण किया। सन्त कवियों ने समकालीन धर्मों में प्रचलित नामों को भी ईश्वर के विविध नामों के अन्तर्गत सम्मिलत कर दिया। सन्त साहित्य में रहीम, खुदा, करतार, कृष्ण, जगन्नाथ आदि अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं। सूरसागर में भगवान ब्रह्मा को चतुःश्लोक ज्ञान देते हुए कहते हैं पहिले केवल एक ही मैं था—अमल, अकल और अभेद। वही एक मैं नाना वेषों में अनेक भाँति से शोभित हूँ।[2] नयनों से श्याम का रूप देखो, वही अनूप ज्योति रूप होकर घट-घट में व्याप्त है।[3] जिस तरह सिद्धों का एक तत्त्व चौदहों भुवनों तथा दशों दिशाओं में व्याप्त है उसी तरह कबीर को भी सारी सृष्टि में एक ही तत्त्व व्याप्त दिखाई देता है।[4]

सिद्धों का 'शून्य' नाम सम्प्रदाय से होता हुआ हिन्दी के भक्त मुक्तककारों के पास तक पहुँचा। सिद्ध साहित्य तक आते-आते शून्य को विस्तार तो अवश्य मिला किन्तु दार्शनिक पेचीदापन कुछ न कुछ अवशिष्ट रहा। सन्तों में शून्य सम्बन्धी यह तार्किकता तथा दार्शनिकता समाप्तप्राय हो गयी। डॉ० धर्मवीर भारती की यह मान्यता स्वीकार्य है कि बौद्ध शून्य की भाँति परवर्ती शून्य प्रतीत्य समुत्पाद की तर्क प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्त्व ज्ञान न रहकर परम तत्त्व के अन्य नामों की भाँति यह भी एक नाम मात्र था।[5] सन्तों में यह शून्य कपाल में स्थित गगन या शून्य के लिए भी प्रयुक्त मिलता है। नाथ तथा हठयोग से भी इन सन्तों ने प्रभाव ग्रहण किया।

१. खभा से प्रकट्यो गिलारि—कबीर।

२. सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पद ३७१।

३. वही, पद ३८८।

४ कबीर मैं जाण्यां हरि दूरि है, हरि रह्या सकल भर पूरि॥ ६॥
सं० माताप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रंथावली, पृ० १३२।

५. धर्मवीर भारती . सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६।

जिस तरह शून्य में ब्रह्म का निषेध है उसी तरह न थी और सत्तो भी है। परम तत्व के रूप में शून्य के साथ शब्द को भी जोड़ने की चेष्टा की गयी है। शून्य और शब्द को एकरूप मानते हुए नानक ने उसी से सम्पूर्ण सृष्टि, भूतों और देवताओं की उत्पत्ति मानी है।[१] जहाँ शून्य को परमज्ञान के रूप मे ग्रहण किया गया वहाँ उसे अद्वैतज्ञान से भिन्न नही माना गया। सन्त शून्य ज्ञान के सम्बन्ध में प्रतीत्य समुत्पाद से परिचित नही थे। और शून्यता ज्ञान उन्हे अद्वैत ज्ञान के रूप में प्राप्त हुआ था क्योंकि सन्तो तक आने से पूर्व वह शैव सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। इसीलिए वह यहाँ अद्वयज्ञान की अपेक्षा अभेद ज्ञान के रूप मे विवित किया गया है।[२]

मध्यकालीन भक्तों मे हमे ईश्वर के संबध मे अनेक मान्यताओ का आभास मिलता है। इसका प्रमुख कारण है कि परम्परागत सारी मान्यताओ को उन्होने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आत्मसात् करने का प्रयास किया। वास्तव मे ब्रह्म या तत्व के चिंतन मे हमे उपनिषद् काल से लेकर बौद्धधर्म महायान, बज्रयान, सिद्धयान, नाथ और संत सम्प्रदाय तक प्रायः एक ही प्रकार की दृष्टि दिखाई पड़ती है परिवेश और शब्दावली मे यत्र-तत्र थोड़ा भेद भले ही प्रतीत हो किन्तु दिशा और दृष्टि में बहुत अन्तर नही प्रतीत होता।[३]

माया :

माया का यदि शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो 'मा' का अर्थ नही या का अर्थ जो। जो नहीं है अर्थात् असत्। 'साहित्य मे माया शब्द का प्रयोग वैदिक-काल से होता आया है। कालानुक्रम से माया के अर्थ तथा उसके संबंध में विद्वानो की धारणाओं में अन्तर होता गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे प्रकृति को माया तथा परमेश्वर को महान् मायावी कहा गया है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥[४]

श्वे० ४।१०

---

१. सुन्न शब्द से उठे झकार। सुन्न शब्द ते ओ अंकार।
सुन्न ते सम्भू होवे आदि। सुन्न ते नीलु अनीलु अनादि।
प्राणसंगली, पृ० २०२।

सुन्न ते कीना धरती आसमानु। पृ० १३७, १६६।

२. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० ३४२।

३. डॉ० मोतीसिंह : निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० १६७।

४. डॉ० रामनारायण पाण्डेय : भक्तिकाव्य मे रहस्यवाद, पृ० ६०-६१।

गीता में कहा गया है, माया के अपहृत ज्ञान के कारण दुष्कृती तथा अधम व्यक्ति मुझे (परमात्मा) को नही भजता ।[1] वास्तव में माया के अनेक अर्थ हैं । अपभ्रंश मुक्तककारो ने माया के दो रूपों को अपनाया है एक तो असत या भ्रम रूप, दूसरा भगवान् की शक्ति-रूप । जहाँ पर सरहपाद परमपद को मायामय बताते है वहाँ प्रथम रूप ही प्रतिभासित होता है क्योंकि परमपद को भ्रम या असत् से नही जोड़ा जा सकता । परमपद की अलौकिकता तथा वैचित्र्य बोधक रूप में 'मायामय' शब्द का प्रयोग प्रतीत होता है । यहाँ बुद्धि विनष्ट हो जाती है मन मर जाता है, अभिमान टूट जाता है, यह परमपद स्थान मायामय है । यहाँ ध्यान लगाने की क्या आवश्यकता है :—

बुद्धि विणासइ मण मरइ, तुट्टइ जहँ अहिमाण ।
सो माआमअ परमपउ, तहिं किं बज्जइ झाण ॥६१॥[2]

दोहा कोश मे ही माया का दूसरा रूप भी देखा जा सकता है । जैसे जल मे चन्द्रमा की छाया पडती है और वह प्रतिबिंबित चन्द्रमा सही चन्द्रमा नही है उसी तरह विश्व भी प्रतिभासित होता है वैसे यह सब माया ही है :—

जिम जलेंहि ससि दिसइ छाआ ।
तिम भव पडिहासइ सअलवि माआ ।

दोहा-कोश, पृ० २८

वास्तव मे जगत का आभास माया के द्वारा ही होता है । शंकराचार्य के अनुसार 'ज्यों ही हम माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ते जाते है ब्रह्म ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है किन्तु ईश्वर के अपने ऊपर माया से किसी प्रकार का असर नहीं होता । यदि माया का अस्तित्व है तो यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप मे रहती है और यदि माया का अस्तित्व नहीं है तो जगत् के आभास की भी कोई व्याख्या नही बनती ।'[3] सरहपाद ने भी प्रायः यही संकेत किया है कि अंततः विश्व कुछ भी न होने के बावजूद माया के कारण प्रतिभासित होता है अर्थात् माया के ही कारण जगत् का अस्तित्व है । द्वैतपरक जगत् केवल माया है यथार्थ सत्ता अद्वैत है ।

१. गीता, ७।१५ ।
२. सं० राहुल साकृत्यायन . दोहा-कोश, सरह, पृ० १४ ।
३. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, पृ० ५६९ ।

जैन अपभ्रंश कवियो ने अधिकतर पुद्गल वर्णन के अन्तर्गत माया की सभी विशेषताओं को सम्मिलित कर लिया है। वैसे सैद्धान्तिक रूप से माया को एक कषाय माना गया है। कही-कही कुछ कवियो ने माया को अज्ञान, भ्रम तथा मोह के अर्थ मे भी लिया जैसे देवसेन कहते है कि थोड़ी सी माया विशुद्ध-चरित्र को दूषित कर देती है जिस प्रकार काजी के विन्दु मात्र से शुद्ध गुडीला दूध भी फट जाता है।

हिन्दी भक्त कवियो ने माया के उपर्युक्त रूपो की बड़ी विस्तृत चर्चा करते हुए माया सम्बन्धी समस्त अवधारणाओं को समाहित कर लिया। माया को कबीरादि सन्तो ने भावरूप भ्रान्ति माना है जो वेदान्त की भाँति है। 'पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार' मे पाहन का पुतला ठोस तथा प्रत्यक्ष वस्तु है किन्तु उसमे ब्रह्म की कल्पना करना भ्रम है वैसे ही जैसे रस्सी को साँप समझना। सदसद्वाद की तरह माया को अनिर्वचनीय माना गया है। माया बेली के समान सद् है किन्तु शशक के सींग, बाँझ के पुत्र की क्रीड़ा तथा बिना ब्याई हुई गाय के दूध के समान काल्पनिक। शंकर के मायावाद मे शुद्ध ब्रह्म माया से मुक्त होकर जब सृष्टि करता है तब उसे ईश्वर की संज्ञा प्रदान की गयी है। माया और मायी ईश्वर का सम्बन्ध शाश्वत है। पलटूदास ने जल और तरंग की तरह दोनो को एक ही माना—

जल से उठत तरग है जल माँहि समाय।
जल हो माँहि समाय सोई हरि सोई माया॥[1]

माया की प्रकृति त्रिगुणात्मक कही गयी है जिसे कबीर त्रिगुण फाँस कहते है।

वेदान्त में जिसे माया कहा गया है सांख्य मतवाले उसी को प्रकृति कहते है। कबीर की माया धर्म और स्वभाव मे सांख्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है।

पुराणो मे यही माया ईश्वर की पत्नी के रूप मे प्रकट होती है। तथा सृष्टि-रचना मे यह मुख्य साधन का काम देती है। सगुण तथा निर्गुण दोनों भक्ति-पद्धतियो मे माया की परिकल्पना स्त्री-रूप की गयी है तथा उसकी बडी निन्दा भी की गयी है। सूरदास ने उसे मन मे अभिलाषा उत्पन्न करनेवाली, मिथ्या विषयो की जन्मदात्री, महामोहनी तथा आत्मा को भटकानेवाली कहा है। शैव मत मे माया-शक्ति जीव को पाशों मे बाँधती है। यह माया जड़ है,

---

१. सुधाकर : पलटू संत बानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १६१।

भेद-रूपा है। जडता का अर्थ है परिछिन्न प्रकाशत्व।[1] शंकर ने भी माया तथा अविद्या को करीब-करीब एक ही माना है किन्तु उनकी इस मान्यता मे एक दार्शनिक पेचीदापन है पर भक्त कवियो ने माया के अविद्या रूप को अधिक अपनाया। यद्यपि उनमे माया के विविध रूपो की कल्पना मिलती है। अपभ्रंश मुक्तककारो ने माया के इसी रूप को अधिक विवेचित किया है। संभव है संतों तथा भक्तो पर इसी का सीधा प्रभाव पडा हो। पलटूदास कहते है कि माया की चक्की जल रही है जिसमे संसार पीसा जा रहा है। लाख प्रयत्न करने पर भी वह बचता नही है। दोनो पट (पृथ्वी और आकाश) के बीच कोई साबित नही बचता। काम, क्रोध, मद, लोभ ये चक्की के पीसनेवाले है। तिरगुण डालकर ये सब निकाल लेते है।[2] यहाँ पर पलटूदास की माया संबंधी परिकल्पना काम क्रोधादि के साथ सश्लिष्ट रूप में व्यक्त हुई है। माया, काम, क्रोध मद, लोभ आदि के द्वारा गतिमान होती है तथा अपने विराट विस्तार मे सब को खीचकर भ्रमित करती है। किन्तु यह माया भगवान् से भिन्न नही है जैसे जल से उठनेवाली तरंग जल में ही समा जाती है वैसे माया भी भगवान् मे ही तरंगायित है।[3] मलूकदास माया को 'मिसरी' की छूरी मानते हैऔर इस

---

१ विनती सुनौ दीन की चित्त दै, कैसे तुव गुन गावै।
माया नटी लकुटी कर लीन्हे, कोटिक नाच नचावै॥
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति नाना स्वाग बनावै।
तुम सौ कपट करावति प्रभु जू मेरी बुद्धि भरमावै॥
मन अभिलाष तरंगति करि करि मिथ्या विसा जगावै॥
सोवत सपने मैं ज्यो सपति, त्यौं दिखाइ बौरावै॥
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहि लगावै।
ज्यौं दूती पर वधू भोरि कै, लै पर पुरुष दिखावै॥३०॥
धीरेन्द्र वर्मा, सूरसागरसार : पृ० २२।

२. माया की चक्की चले पीसि गया संसार।
पीसि गया संसार बचै न लाख बचावै॥
दोऊ पट के बीच कोउ ना साबित जावै।
काम क्रोध मद लोभ चक्की के पीसन हारे॥
तिरगुन डारै झीक पकरि के सबै निकारे।

३ जल से उठत तरंग है जल माहि समाय॥
जल ही माहि समाय सोई हरि सोई माया॥
स० सुधाकर पलटूदास संतबानी संग्रह भाग १ पृ० १५५ १६१

पर कभी भी विश्वास न करने के लिए कहते हैं। ब्रह्म से ब्रह्म को लडाकर यह रसवाद से मारती है।[1] ईश्वर को गुणगान मे बाधक माया नटी का रूप धारण करके करोडो नाच नचाती है। स्थान, स्थान पर लोभ लगाकर तरह-तरह के स्वांग कराती है। सूरदास कहते है कि हे भगवान् वह तुमसे भी कपट करवाती है। वह मन मे अभिलाषा उत्पन्न करती है मिथ्या विषयो को जन्म देती है। संपत्ति को स्वप्नवत् दिखाकर पागल बना देती है। यह महामोहनी है आत्मा को मोहकर उपमार्ग पर लगती है जैसे दूती दूसरे की पत्नी को मोहकर उसे पर-पुरुष के साथ ले जाती है।[2]

जगत् :

जैन मुक्तककारो ने द्रव्यो को ससार का कारण माना। संसार के परिज्ञान के लिए द्रव्य-व्यवस्था का ज्ञान आवश्यक है। ये द्रव्य नित्य है और परिवर्तन से रहित है। मात्र इनके अनेक पर्याय हुआ करते है। द्रव्य के दो भेद है—

(१) जीव।

(२) अजीव।

आत्मा जीव द्रव्य के अन्तर्गत आती है। यह चेतन है और रूप, रस, गन्ध हीन है।

अजीव द्रव्यो की सख्या पाँच है—

(१) **पुद्गल**—जो कुछ भी दृश्यमान है तथा रूप, रस, गन्ध, युक्त है, पुद्गल है। पुद्गल जीवो के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

---

१. माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतिपाय।
 इन सारे रसवाद के ब्रह्महि ब्रह्म लडाय ॥११॥
 बाबा मलूकदास-संत का० संग्रह, भाग १, पृ० १०३।

२. बिनती सुनौ दीन की चित्त दै, कैसे तुव गुन गावै।
 माया नटी लकुटी कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै ॥
 दर दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै।
 तुम सौ कपट करावति प्रभू जूँ मेरी बुधि भरमावै ॥
 मन अभिलाष तरंगति करि करि, मिथ्या विसा जगावै।
 सोवत सपने मे ज्यौं संपति, त्यौं सिखाइ बौरावै ॥
 महा मोहिनी मोहि आत्मा, अपमारगहिं लगावै।
 ज्यो दूती पर वधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै ॥२०॥
 सं० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार, पृ० २२।

(२-३) **धर्म-अधर्म द्रव्य**—जीव और पुद्गल दोनो गतिवान् है। इन द्रव्यों को गति देने मे जो सहायक तत्त्व हैं वे धर्म द्रव्य है जो स्थिर बनाने मे सहायक हैं वे अधर्म द्रव्य हैं।

(४) **आकाश द्रव्य**—सभी द्रव्यों को अवकाश देनेवाले द्रव्य का नाम आकाश द्रव्य है।[1]

(५) **काल-द्रव्य**—सभी द्रव्यों की उत्पत्ति आदि मे जो सहायक हैं वही काल द्रव्य है।

इन्हीं द्रव्यों से सारे ब्रह्मांड की रचना हुई है। जैन कवि संसार तथा सासारिक सम्बन्धों को अस्थायी तथा अवास्तविक कहते है। जोइन्दु मुनि कहते है कि इसे तुम अपना निवास न समझो। यह तो दुख का निवास है। अज्ञानी जीवों के बन्धन के लिए यम ने पापों से युक्त बन्दी घर बनाया है।[2] सिद्धो ने चित्त और जगत् को एक ही माना। सिद्ध तिलोपा इस संसार को स्कन्ध भूत आयतन और इन्द्रियों द्वारा निर्मित मानते है।[3] यह भव एक नदी प्रवाह की तरह है।[4] इन्द्रियमय यह संसार मृगतृष्णा है, आकाश जल मात्र है जिसमे तत्त्व नही है।[5] सरहपा कहते है आत्मा और जगत् को एक ही करके मानो। दो नही उसमें भेद न करो क्योकि जो आभ्यन्तर है वही बाहर है। चित्त मे ही भव और निर्वाण विस्फुरित होता है। कण्हपा पच महाभूतो को बीज मानते है जिससे समग्र भूतो की उत्पत्ति होती है। आदि मे अनुत्पन्नभाव मे यह जगत् परमार्थज्ञ के द्वारा अन्यथा अभाव वाला हो जाता है। भ्राति अविद्या रूपी तिमिर से आच्छादित लोचन से अनल की तरह पीले आदि रगो मे प्रतिभासित होता है। यह उसी तरह है जैसे रस्सी को देखकर यदि किसी को साप की

---

१. परमात्म प्रकाश · द्वि० महाधिकार, दो २०।

२ वही, ,, दो १४४।

३. कन्ध (भूअ) आअत्तण इन्दी। सहज सहावे सअल बिबन्दी ॥१॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १८५।

४. भवणइ गहण गम्भीर वेगे वाही।
दु आन्ते चिखिल मज्झे न थाही ॥ १ ॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १६.

५. जिम बाहिर तिम अब्भन्तरु।
चउदह भुवणं ठिअउ णिरन्तरु ॥ २४८ ॥ वही, पृ० १६४।

भ्राति हुई तो क्या उसे सांप खा लेगा। यह जगत् मरु मारीचिका, गन्धर्व नगरी के समान प्रतिभास्यमान है।

आइए अणुअना ए जगरे भान्तिए सो पड़िहाइ।
राज साप देखि जो चमकिइ साचे कि तं बोडी खाइ॥ १॥
मरुमरीचि गन्ध (ब) नअरी दापन पडबिम्बु जइसा।
वातावत्ते सो दिढ़ भइया अपे पाथर जइसा॥ २॥[1]

सन्तों का कथन है कि संसार मिथ्या, नश्वर और स्वप्नवत् है जल की बूंद की तरह इसे उपजते तथा विनशते देर नही लगती है।[2] यह संसार रात के स्वप्न के समान है।[3] दयाबाई जग को झूठा जजाल समझती है। सूरसागर मे कई स्थानो पर संसार तथा सासारिक सम्बन्धों का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है। यह सृष्टि ईश्वर की माया से निर्मित है किन्तु सच्ची नही है। सूरदास भी संसार की नश्वरता, क्षणिकता तथा असत्यता स्वप्न से सिद्ध करते हैं।[4] कृष्ण स्वयं उद्घोषित करते है 'मैं एक नाना भेदो मे अनेक भाँति से शोभित हूँ, इसके बाद भी इन गुणों के नष्ट होने पर मैं ही अवशेष रहूँगा। मेरी माया झूठी है पर सच्ची सी लगती है'।[5]

इस तरह हम देखते है कि अपभ्रंश और हिन्दी काव्य में जगत् सम्बन्धी धारणा मे पर्याप्त समानता है। सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेपण करके हिन्दी के कुछ आलोचको ने सन्तों मे पाये जाने वाले जगत् वर्णन को शाकर वेदान्त से अधिक प्रभावित माना है। गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर की जगत् सम्बन्धी धारणा को पूर्ण रूप से शंकर वेदान्त के अनुकूल सिद्ध किया है।[6] किन्तु कबीर सिद्धो से बहुत भिन्न नही दिखाई देते—यदि कबीर सब कुछ ब्रह्ममय मानते हैं तो सिद्ध भी तो सर्वत्र एक ही तत्त्व को व्याप्त मानते है। कबीर ने चित्तगत जगत् का भी चित्रण देखा जा सकता है जहाँ वे यह मानते है कि जो पिंड मे

---

१. चर्यागीति कोप, पृ० १३४।
२. कबीर ग्रंथावली (ज्यो जलबूँद तैसा संसार उपजत विनशत लगै न वार)
३. या संसार रैन दा सुपना, कहि दीखा कहिं नाहि दिखाया॥ ७०॥
हिन्दी काव्य प्रवाह।
४. सूरसागर, पद ७०१।
५. वही, ३७४।
६ डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० २५३।

है वही ब्रह्मांड में है। इससे सिद्ध होता है कि कबीर आदि सन्त इन सिद्धो से किसी न रूप में प्रभावित अवश्य थे।

गुरु का महत्त्व :

धार्मिक तथा आध्यात्मिक साधना दोनो मे गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु के बिना प्रारम्भिक ज्ञान भले ही हो जाय किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। जैन साधको ने गुरु की महत्ता अनेक दोहो मे प्रतिपादित की है। निर्गुण निराकार ब्रह्म के दर्शन का उपाय सद्गुरु की कृपा ही है।[1] गुरु के अभाव मे व्यक्ति को सद् असद् का ज्ञान नही होता। वह तब तक तीर्थो मे भ्रमण करता रहता है और धूर्तता करता रहता है जब तक गुरु के प्रसाद से आत्मदेव को नहीं जान लेता है।[2] वह लोभ, मोह दोनो से ग्रस्त रहकर और विषयो को तब तक सुख मानता है जब तक गुरु के प्रसाद से अविचल बोध को नही पा लेता।[3] मोह निद्रा मे सोया हुआ व्यक्ति जागता नही। गुरु के द्वारा उठाये जाने पर भी शिवमार्ग मे प्रवृत्त नही होता क्योकि उसे गुरु के वचन अच्छे नही लगते। जो उठकर गुरु के वचनो मे लग जाते हैं वे परमार्थत सोते हुए भी मोह निद्रा के अभाव के कारण जागते रहते हे।[4] जैनो ने सद्गुरु और कुगुरु के भेद को लक्षणो सहित विस्तार से विवेचित किया है। सत्यभाषी, सभी जीवो की अपनी तरह रक्षा करने वाला, उन्मार्ग पर जाते हुए लोगो का निवारण करनेवाला सुगुरु कहलाने का अधिकारी हे।[5] सद्गुरु के वचन प्रसाद से ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।[6] कुगुरु की पूजा करने से तो पीछे सिर ही धुनना पडता है।

---

१. फरस रस गंध बाहिरउ, रूप विहूणउ सोइ।

२. ताम कुतित्थइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाए जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ ॥ योगसार, पृ० ३८०।

३. लोह मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्खु मुणेहि।
गुरुहं पसाए जाम णवि अविचल बोहि लहेहि ॥ पाहुड दोहा, पृ० २४।

४. कालस्वरूप कुलक-छन्द ५-६, पृ० ६६।

५. जिनदत्त सूरि : उपदेश रसायन रास, छन्द ५-६।

६ केवलणाणवि उपज्जई सद्गुरु वचन पसाउ ॥ ३३ ॥ आणंदा
कुगुरुहु पूजि म सिर धुणहु, दोहा नं० ३७। वही।

सिद्धो की साधना बहुत गूढ है इसलिए सिद्धो की साधना पद्धति मे समस्त तान्त्रिक पद्धतियो की ही भाँति, गुरु का अद्भुत महत्त्व है। गुरु के प्रति अपनी अटल भक्ति का प्रमाण सिद्धो ने कई प्रकार से दिया है।[१] कृष्णाचार्य पाद का कथन है कि गुरु के उपदेश से मोह-जाल छिन्न हो जाता है, विषयेन्द्रियाँ प्रभास्वर मे प्रविष्ट हो जाती है।[२] शबरपाद गुरु के वाक्य को धनुप बनाकर और अपने बोधि चित्त को बाण, दोनों को एक करके एक स्वर से निर्घोष करते हैं।[३] सरहपाद काया रूपी नौका मे मन को पतवार और सद्गुरु वचन को नौका चालक कहते है।[४] गुरु का उपदेश अमृत के समान है जो उसे दौड़कर नही पीता वह बहुत से शास्त्रों के मरुस्थल में भ्रमण करता हुआ अन्त तक तृषित रहता है।[५]

हिन्दी भक्ति काव्य मे गुरु का उतना ही महत्त्व स्वीकार किया गया जितना जैनियों और सिद्धों ने स्वीकार किया। जब भक्तो ने परम्परित सभी साधना पद्धतियो को कुछ न कुछ हद तक समन्वित कर लिया तब गुरुओ की जिम्मेदारी भी गुरुतर हो गयी। क्योंकि अब उसे शिष्य मे ज्ञान, योग, भाव सभी कुछ भरने थे। जहाँ तक गुरु के लक्षण शिष्य के लक्षण आदि आदि अगों का प्रश्न है वे तान्त्रिक गुरु ग्रंथों की अनुसरण परम्परा का आभास देते हैं। यद्यपि इन सन्तो का गुरु न तान्त्रिक गुरु है और न वज्रयानी। वह निस्संदेह ऐसा गुरु है जिसने शब्द सुरत योग और भक्ति योग इन दोनो की समन्वित साधना की है।[६] गुरु वचन को धनुप, कुठार आदि रूपो में सिद्ध साहित्य मे

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य, पृ० १६५।

२. मोहमंत्र छिन्नं गुरुपदेशेन।
   विषयेन्द्रियं गगनपैमूलं॥ बागची, चर्यागीत कोष, पृ० ८१।

३ गुरुवाक पुञ्छिआ विन्ध निअमण बाणे।
   एके शर सन्धाने बिन्धह बिन्धह परमणिवाणे॥ वही, पृ० ६२।

४. काअ णावड़ि खण्टि मण केडआल।
   सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥ वही, पृ० १२४।

५ गुरु उवएसें अमिअ-रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
   बहु सत्थत्थ मरुत्थर्गिहिँ तिसिए मरिअउ तेहि॥
   ५६, बागची, चर्यागीति कोश, पृ० १६१।

६. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० ३८७।

जो परिकल्पना है उसे उसी रूप में सन्तों ने भी अपनाया है। पाखण्डी तथा अज्ञानी गुरु के लिए बिलकुल समान उक्तियाँ मिलती है—

> जाव ण अप्पा जाणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ
> अंधे अंध कढ़ावइ तिम वेणण वि कूप पडेइ ॥ (सरह)
> जाका गुरु भी अधला चेला है जाचध।
> अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडत ॥ (कबीर)
> अंधे अंधा मिलि चले दादू बाँधि कतार।
> कूप पड़े तम देखता अंधे अंधा लार ॥ (दादू)

मन :

भारतीय चिन्तन परम्परा में मन को साधना का मजबूत आधार माना गया है। मन की शाब्दिक व्युत्पत्ति ही इस बात को घोपित करती है कि मन के माध्यम से ही मनन किया जाता है (मन्यते अनेन इति मनः) गीता मे मन को अत्यधिक चपल, शक्तियुक्त और मन्थन करनेवाला कहा गया है और उसको वश में लाना वायु की भाँति असम्भव तथा कठिन माना गया है।[१] कठोपनिषद् मे मन को अश्व रूपी इन्द्रियों के नियन्त्रण के लिए वल्गा कहा गया है।[२]

जैन कवियो के अनुसार मन पाँचो इन्द्रियो का स्वामी तथा नायक है। समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो मे मन की ही प्रेरणा से प्रवृत्त होती है। यदि मन को बस मे कर लिया जाय तो ये समस्त इन्द्रियाँ स्वतः ही बस में हो जाती हैं। जैसे वृक्ष की जड काट देने से वृक्ष के पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं।[3] जैन मुनियो ने मन को करहा की उपमा दी। मुनि रामसिंह मन-करह को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय सुखों में तू रति मत करो क्योकि इससे शाश्वत सुख की प्राप्ति नही होती।[४] मन अत्यधिक शक्तिशाली है। उसे

---

१. चंचल हि मन. कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्। गीता ६।३४।

२. कठोपनिषद् १।३।३।

३. पंचहं णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ अवसइ सुक्कहिं पण्ण ॥१४०॥ परमा० द्वि० पृ० २८५।

४. अरे मणकरह म रइ करहि इंदिय विसय सुहेण।
सुक्खु णिरंतरु जेहिं णवि मुच्चहि ते वि खणेण। पाहुडदोहा, ८२।

बस मे करना आसान नहीं है फिर भी मनरूपी हाथी को विन्ध्य की ओर जाने से वर्जित करना चाहिए क्योकि वहाँ जाकर शील रूपी वन को भग करके पुन. ससार मे पड जाने की सम्भावना रहती है।[1] मन को नियंत्रित करने से गमनागमन का बन्धन टूट जाता है। नियंत्रण मे रहने से मन-करभ वाहन का काम करता है और उस पर सवार होकर परम मुनि आवागमन से मुक्त हो जाते है।[2] महयदिण मुनि कहते है कि आलवाल (घेरा) डालकर मन रूपी मर्कट को पकडो।[3] सिद्ध काव्य में जो चित्त का वन्ध रूप है वही मन के साहश्य है। वैसे मन का अलग से भी चित्रण मिलता है। चर्यापदो की रूपक प्रधान शैली मे चित्त (मन) की गयंद, मूपक, हरिण, पवन, आदि रूपो मे कल्पित किया गया है। भुसुकपा अपनी एक चर्या मे चित्त को हरिण की सज्ञा प्रदान करते है किन्तु यह चित्त-हरिण सच्चे हरिण से कई रूपो मे भिन्न है। चित्त हरिण, तृण नही चुनता, पानी नही पीता और यह हरिणी के निलय को भी नहीं जानता। इस हरिण का खुर भी नही दिखाई देता तथा न तो यह मूर्ख के हृदय मे प्रविष्ट होना अर्थात् उन्हें इसके सच्चे रूप का ज्ञान नही होता।[4] लुइपा चचल चित्त को काया मे प्रविष्ट काल मानते है।[5] सरहपाद जैनियो की तरह ही मन को करहा कहते है और उसकी विचित्र गति को चित्रित करते है। मन-करह बद्ध रहने पर दसो दिशाओं मे दौडता है और मुक्त होने पर निश्चल तथा स्थिर हो जाता है। इसकी गति निश्चय ही विपरीत है। यही मन पवन मे मिलकर तुरंग की तरह चचल होता है और सहज स्वभाव

१. अम्मिय इहु मणु हत्थिया विझहं जतउ वारि।
   तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ ससारि॥ वही १५५।
२. अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ लइ पइं देविणु लक्खु।
   जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय मोक्खु॥ १११ पाहुडदोहा।
३ धरि मणु मक्कहु अप्पणउ, वंल्लंतउ आलाउ।
   तउ तरुडालहि जइखसिउ, फलहण कडुवउ साउ॥ ११६ पाहुडदोहा।
४. बागची · चर्यागीति कोप, पृ० १६।
   तिण न छुपइ हरिणा पिवइ न पाणी।
   हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी॥ २॥
   तरसंते हरिणा खुर न दीसइ।
   भुमुक भणइ मूढ़ हिअहि न पइसइ॥ ४॥
५. काआ तरुअर पन्च वि डाल।
   चंचल चीए पइठा काल॥ वही पृ० १।

मे बसते हुए निश्चल हो जाता है।[1] सिद्धो मे मन की चचलता (एहु णिअ मण सबल चातर सचत आदि) का वर्णन उपनिषदों तथा गीता मे वर्णित चचलता के तुल्य ही है किन्तु मन के लिए इतने अधिक रूपको की कल्पना अन्यत्र नही मिलती। भुसुकपा चंचल चित्त रूपी मूषक को मारने का आदेश देते है ताकि 'अवणागवण' से मुक्ति पायी जा सके।[2] कण्हपा का कथन है जिसने मन को निश्चल कर लिया धर्माक्षर उसके निकट है वह मन पवन से बँध जाता है और विषयो का निरास हो जाता है।[3] मन को पवन मे स्थिन करके चित्त से ही चित्त को देखा जा सकता है। चित्त जब निर्मन भाव मे स्थिर हो जाता है तब उसमे भाव और अभाव दोनो का ही प्रवेश नही होता।

चित्तहि चित्त कइ लक्खण जाइ। चन्चल मण पवण थिर होइ ।।
चित्त थिर जो णिम्मल भाव। तहि ण पइसइ भावाभाव ।।

संसार की सापेक्षता मे सिद्धो ने चित्त के दो रूपो को स्वीकारा है। १—बद्धचित्त-स्वेच्छानुसार इस ससार की विषय वासनाओ मे लिप्त होकर बध जाता है। चित्त के सामने विषय तथा सासारिकता रूपी कांच और महासुख रूपी बहुमूल्य मणि उपस्थित होते हैं यदि वह कॉच से ही सन्तुष्ट हो जाता है तो महासुख मे प्रवेश करने का कोई प्रश्न ही नही उठता है।[4] आबद्ध मन करह की भॉति इधर-उधर दौडता रहता है। २—मुक्त-मन कर्मों द्वारा बधता है किन्तु प्रज्ञा द्वारा कर्म करने से वह इनसे मुक्त हो जाता है। संवृत्ति मे सासारिक ज्ञान होता है किन्तु पारमार्थिक सत्य में चित्त को शून्यता ज्ञान होता है। इसी शून्य मे प्रवेश करते ही इन्द्रिय विषय मात्र अदृश्य हो जाते है।[5]

जइ मण सहज णिरन्तरे धावइ।
इन्दी विसअहि खणवि ण धावइ ।।[6]

---

५ बद्धो धावइ दहदिहहिं मुक्को णिच्चल ठाइ।
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ महु पडिहाइ। वही, पृ० १६१।

१. मार रे जोइआ मुसा पवणा। जेण (ण) तुटअ अवणा-गवणा ।।
ध्रुवपद ।। वही, पृ० ७१

२. दोहा कोष-काण्हपाद (चर्यागीति कोष, पृ० १६८ दोहा-२३)

३ हिअहिं काच मणि लइ तुरणे। बोहिमण्डल महासुह ण पइट्ठो ।।
राहुल साकृत्यायन' दोहा-कोश, पृ० २८।

४. धर्मवीर भारती सिद्ध-साहित्य पृ० १६६।

५ राहुल ' दोहा-कोश पृ० २४

कबीरदास कहते है कि मन चंचल चोर है तथा विषयो के स्वाद मे पडकर कोटि-कोटि कर्म करता है।[1] भुसुकपा के समान ही मन को मृग मानकर वे उसे मारने का उपदेश देते है। मुनि रामसिंह की भाँति शक्तिशाली मन रूपी हाथी को नियन्त्रित करने की सलाह देते हैं। कबीर ने सिद्धों की तरह ही मारने का प्रयोग रासायनिक अर्थ में ही किया है। नियंत्रित मन सिद्धो की तरह ही मुक्त चित्त का रूप धारण करके साधक को स्वयं कर्त्ता बना देता है। मन ही गोरख है, मन ही गोविन्द मन ही औघड़ है, यदि कोई मन को यत्न करके रख ले तो वह स्वयं कर्त्ता हो जाए।[2] जब मन का भ्रम मन ही से भाग जाता है तब सहज रूप हरि खेलने लगता है। तब 'मै-तै', 'तै-मै,' का द्वैत नही रहता, तब आत्मा ही आत्मा समस्त घट मे हो जाता है।[3] सिक्ख-गुरु भी मन के दो रूप मानते हैं—

(१) माया आच्छादित अहकारी मन।

(२) शुद्ध स्वरूप ज्योतिर्मय मन।[4]

दादू दयाल मन रूपी मतवाले हाथी को शरीर के अन्दर ही घेर कर अंकुश द्वारा बस में लाने का यत्न करते है। क्योकि वशीभूत मन जब राम से लग जाता है तो उसकी अन्य गतियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। वह राम मे ऐसा समा जाता है जैसे पानी मे नमक।[5] सुन्दरदास कहते है कि जब मन भ्रमित रहता है तो जगत् भ्रम के रूप मे दिखाई देता है। मन स्थिर होता है तो सब कुछ स्थिर दिखाई देता है। मन ही जीव रूप है, मन ही ब्रह्म तथा आकाशवत्, ज्यादा क्या कहा जाय मन ही की सर्वत्र दौर है।[6] सगुण भक्तो की दृष्टि मे विषयासक्त तथा कामलोलुप मन सहज सुख को छोडकर दिन रात भ्रमण करता रहता है। उसे कभी विश्राम नही मिलता।[7] सूरदास का कथन है कि हे मन तुम्हे मैं कितनी बार समझाया कि तू नद नंदन के चरण

---

१. सं० माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, साखी, ४,३०, पृ०४६,५३।

२. वही, साखी १०, पृ० ५०।

३. वही, पृ० २६६।

४ केसनी प्रसाद चौरसिया : मध्ययुगीन सन्त : विचार और साधना-पृ० २५४।

५. सं० परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य, ३८२।

६. सन्त सुधा सार, पृ० ६२२।

७. तुलसीदास : विनय पत्रिका, पद ८८, पृ० १५८।

कमलो को भजो और पाखण्ड, चतुराई छोड़ो।[1] निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि मन की समस्त प्रवृत्तियो का चित्रण दोनों मे समान रूप से परिलक्षित होता है।

पंचेन्द्रिय नियंत्रण तथा विषय सुख त्याग :

सिद्धि प्राप्त करने के लिए पाँचो इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है। चंचल इन्द्रियाँ विषयो की ओर बरबस उन्मुख होती है जिससे शुद्धात्मा की अनुभूति नही होती है। विषयों मे आसक्त इन्द्रियों के मोह मे जब जीव आ जाता है तो वह आत्म-स्वरूप को पूर्णतया विस्मृत कर देता है।[2] जबकि विषय सुख अस्थायी तथा क्षणिक है अधिक से अधिक दो दिन ठहरनेवाला है। फिर तो दुःख की ही परिपाटी है। कवि कहता है कि आत्मा को कुल्हाडी मारकर हे जीव तुम उसमे मत भूलो।[3] सिद्धो ने इन्द्रियो और उनके विषयों का वर्णन पंच महाभूतो के संदर्भ मे ही किया है। सिद्ध सरह इन्द्रिय विषयों से युक्त मन को ध्यानी बुद्धो या पंच जिन मे आबद्ध करने का उपदेश देते है। इन्हीं विषय-परक इन्द्रियो को उन्होने जन्म तथा मरण रूपी संसार का कारण माना है तथा उसमें प्रवेश का निषेध किया है। उनके विचार से जगत् का प्रवाह अज्ञ पुरुषो को बहा ले जाता है। इसी को भवमुद्रा भी कहा जाता है जो कल्मष युक्त होने के कारण परमार्थ से वंचित है। उसी के कारण काम, लोभ आदि की उत्पत्ति होती है तथा मन्त्र और तन्त्र भी उसी के कारण मलिन हो जाते हैं। अतः इन्द्रियो का विलयन आवश्यक है क्योंकि वे ही संसार की विधायिका है। इन्द्रियमय यह ससार मृगतृष्णा है। आकाश जल मात्र है जिसमें तत्त्व नही है।[4]

हिन्दी के भक्त कवियों ने जगह-जगह मन को विषय वासनाओ से बचने की चेतावनी दी है क्योंकि इन्द्रिय विषयों मे लिप्त रहने के कारण आदि से

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार पृ० २८।

२. पंचहि बहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासुण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥ ४५ ॥ पाहुड दोहा।

३. विसय सुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहु अप्पा खंधि कुहाडि ॥ १७ ॥ पाहुड दोहा।

४. बागची : चर्या-गीति-कोष, दो० १८, १८६, दोहा २२, पृ० १८६, चर्या ४१।

अन्त तक मनुष्य सुकृत नहीं करता। वह माया, मोह, मात्सर्य में चित्त को तल्लीन रखता है। दादू कहते है कि मन और इन्द्रियों के प्रसार को रोककर, अन्तर में एक सहज सुख को रखना चाहिए। तुलसीदास इन्द्रियो के स्थान पर मन को ही अधिक संबोधित करते हैं क्योंकि मन ही इन्द्रियों में प्रमुख है। वह सहज सुख को छोड़कर इधर-उधर भ्रमता रहता है। सूरदास तो विषय वासनाओं के पीछे भागने वाले व्यक्ति को कूकर, सूकर से भी तुच्छ मानते हैं।

नाथों तथा भक्तो की साधना में सिद्धो और जैनियो जैसी मन की परिकल्पनायें मिलती है। योग साधना से लेकर भक्ति भावना तक चंचल मन को वश मे करने के लिए अनेक उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं।

बाह्याडम्बर :

भारतीय चिन्तन मे वैदिक काल से ही दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है—एक कर्मकाण्ड बहुल प्रवृत्ति, दूसरी कर्मकाण्ड विरोधी प्रवृत्ति। जैन तथा बौद्ध दर्शन कर्मकाण्ड विरोधी दर्शन थे यद्यपि बाद म इनमें भी अनेक तरह की कर्मकांडी क्रियायें प्रविष्ट हो गयी। सातवीं-आठवी शताब्दी मे जैन रहस्यवादी सन्तो ने इस बाह्यानुष्ठान तथा कर्मकाण्ड का डटकर विरोध किया। उनकी दृढ मान्यता थी कि तीर्थ-तीर्थ भ्रमण करने से मोक्ष नही होता। तीर्थों मे घूमनेवाला ज्ञान रहित व्यक्ति मुनिवर नही होता।[1] जब शरीर में ही आत्मा का निवास है तो अन्यत्र खोजने की आवश्यकता ही क्या है? देवालय की निर्जीव पाषाण मूर्ति, तीर्थों का जल, पुस्तको (धर्म ग्रन्थो) का काव्य, सभी उस सजीव पुष्पित पल्लवित होने वाले (वृक्ष) जिसे तोड़कर नष्ट किया जाता है के समक्ष तुच्छ हैं। अत उचित तो यह होगा कि उसी शिव को यहाँ चढ़ा दिया जाय।[2] तीर्थों में जाकर अधिक से अधिक बाहरी चर्म को धोया जा सकता है। आत्मा को निर्मल करने मे तीर्थ के जल काम नही आते। पाप से

---

१. तित्थइ तित्थु भमंताह मूढहं मोक्ख ण होइ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइण सोइ ॥८५॥

परमा० द्वि० महा०, पृ० २२७।

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोडेहि तुहुं सोसिउ एत्थु चडाहि ॥१६०॥ पाहुड दोहा।

२. देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधण होसइ सव्वु ॥ १६१ ॥ पाहुड दोहा।

मलिन इस मन को धोना अधिक आवश्यक है।[1] क्योंकि जब तक मन मलिन रहता है, जप, तप, संयम, शील, सभी अकारथ हो जाते हैं।[2] रागादि मलों से रहित शुद्ध चित्त मे परमात्मा का निवास रहता है। वह न देवालय में है, न पाषाणमूर्ति में, न लेप मे और न चित्त मे।[3] जैन मुक्तक कवियों ने अद्वैत भाव पर इतना अधिक जोर दिया कि पूज्य और पूजक का भाव स्वतः ही विलीन हो गया है। फिर कौन किसी पूजा करे। मुनियों ने इसे समरसी अवस्था कहा है। इस अवस्था मे जीव परमआनन्द मे विचरण करने लगता है और स्पर्श-अस्पर्श, मित्र-अमित्र आदि द्वैतपरक अनुभूतियाँ नष्ट हो जाती है।[4] इस स्थिति मे समाधि और अर्चन पूजन करने की सुध किसको रहती है। सर्वत्र आत्मा ही दिखाई देता है।[5]

वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध मे उठनेवाला जैन धर्म कालान्तर मे स्वयं अत्यधिक कर्मकाण्डी तथा आचारपरक हो गया। यहाँ तक कि इसमे अप्राकृतिक अतिरंजनायें बढ़ती गयी। जैन मुनि केशलुंचन, मयूरपख, लिंग ग्रहण आदि पर अत्यधिक जोर देने लगे थे। आणंदा इसी पर व्यंग्य करते हुए कहते है—

> केइ केस लुचावहिं, केइ सिर जट भारु।
> अप्प विंदु ण जाणहिं, आणंदा किम जावहिं भवपारू ॥६॥

योगसार मे जोइन्दु का मत है कि पढ़ना धर्म नहीं है पुस्तक और पिच्छिका

---

१. तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
   एहु मणु किम धोएसि तुहं मइलउ पावमलेण ॥ १६३ ॥ वही।

२. वउ तव सजमु सीलु जिय ए सव्वइं अकयत्थु।
   जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥३१॥ योगसार।

३. देउ ण देउले णवि सिलए णविलिप्पइ णविचित्ति।
   अखउ णिरजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥ १२३ ॥

४. मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
   बाहि वि समरसि हूवहं पुज्ज चड़ाविउं कस्स ॥
   परमात्म प्रकाश, प्र० महा० पृ० १२५।

५. को ? सुसमाहि करउँ को अचंउ छोपु, अछोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
   हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥४०॥
   योगसार

धारण करना, मठ मे प्रविष्ट होना मस्तक पर के बालो का लुचन आदि धर्म के अन्तर्गत नही आते ।[1] आत्मा ही संयम, शील, सब कुछ है । इसके अलावा व्रत, तप, संयमशील तथा समस्त गुण भार स्वरूप है । भीतर भरा हुआ मल बाह्य स्नान से परिष्कृत नही होता—

भितरि भरिउ पाउमलु मूढ़ा करहि सण्हाणु ।
जो मल लाग चित्त महि, आणंदा किम जाई सण्हाणि ॥[2]

महयदिण मुनि के अनुसार मस्तक मुडाना धर्म नही है और अंग मे राख लगाने से कोई लाभ नहीं । इन परिपाटियो को छोडकर मन बचन तथा कर्म की स्फुटता वास्तविक धर्म है—

धम्मु ण मत्थइ मुडियइं, अग्गि लग्गइ छारि ।
मण वय कायहि होइ फुडु, परि हरियइ परिवारि ।१८८॥[3]
(दोहा पाहुड)

सिद्ध साहित्य मे सहज की साधना पर बल दिया गया है इसलिए वहाँ तन्त्र-मन्त्र अप्रभावशाली हो जाते हैं । तीर्थ, तपोवन, तथा जल स्नान सभी व्यर्थ हो जाते है । इसलिए सरह इन झूठे बधनों को त्यागने का उपदेश देते हैं । काण्हपा गा गाकर कहते है कि तन्त्र-मन्त्र कुछ नहीं करना चाहिए ।[4] उन्होंने सभी सम्प्रदायों मे प्रचलित कर्मकाण्डो का बडे तीखे स्वर में विरोध किया । उनका कहना है कि मिट्टी, पानी तथा कुश लेकर अग्नि से होम करने से दुनियाँ का रहस्य नही जाना जा सकता । होम का धुआ केवल आँख को दुखित करता है । वैदिक धर्म का धुरंधर पंडित जिसे समाज ब्राह्मण के रूप मे पूजा करता है उसे भी यह भेद ज्ञात नही है ।[5] शैव साधु भी दुनियाँ के झमेले मे पडे हैं । ये शरीर मे भस्म लगाकर मस्तक पर जटा का भार ढोते रहते है । आँख-बंद करके आसन लगाते है और रंडी-मुडी तरह तरह का रूप धारण करके घूमते रहते है । जैनियों की दशा तो और विचित्र हो गयी है । यहाँ बड़ा बड़ा

---

१ धम्मु ण पढियइं होइ, धम्मु ण पोत्था पिच्छियइं ।
धम्मु ण मढ़िय पएसि, धम्मु ण मत्था लुंञ्चियइं ॥४७॥ योगसार ।

२. आणदा (आनन्द तिलक) दोहा न० ४ ।

३. दोहा-पाहुड—महयदिण मुनि (अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद) दोहा १८८ ।

४. एक्कु ण किज्जइ तन्त ण मन्त । बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६६ ।

५. वही पृ० १८८ ।

नाखून रखनेवाला शरीर के रोओं को उखाड़कर फेंकनेवाला तथा सदैव नग्न घूमनेवाला व्यक्ति जैन साधना का सर्वश्रेष्ठ मुनि माना जाता है। सरह ने इन पर अत्यधिक चुभनेवाला व्यंग्य किया। उन्होंने तर्क दिया कि यदि नग्न रहने से मोक्ष मिलता है तो शृंगाल तथा कुत्तों को भी मोक्ष मिलना चाहिए। लोम उखाड़ने से तथा पुच्छिका धारण करने से मोक्ष सम्भव है तो युवति के नितंब तथा मोर को भी यह सुगति मिलनी चाहिए।[१] क्योंकि सृष्टिकर्ता की दृष्टि में सभी समान ही हैं। क्षपणों के द्वारा कल्पित यह मोक्ष यदि सम्भव भी हो तो यह सरह को मान्य नहीं है।[२] बौद्धों की भी समान दुर्दशा है। कोई परिव्राजक का वेष धारण करके घूमता है कोई स्थविर भिक्षु को उपदेशित करता है। कोई बेचारा सम्यक् दृष्टि तथा निर्वाण के लिए परेशान है। लेकिन सहज को छोड़कर निर्वाण के लिए दौड़ना व्यर्थ है। इनमें कोई भी परमार्थ नहीं प्राप्त करता।[३] तिलोपाद तीर्थ सेवा तथा देव पूजा का खण्डन करते हैं। उनके विचार से तीर्थ तथा तपोवन की सेवा नहीं करनी चाहिए क्योंकि देह की शुचिता से शान्ति नहीं मिलती। और न देव पूजा से मोक्ष मिलता है।[४] काण्हपाद कहते हैं मंत्र-तंत्र एक भी न करो अपनी धरिणी (प्रज्ञा) को लेकर केलि करो।[५] सिद्ध संप्रदाय में ही कुछ लोग ऐसे थे जो सिद्धों की पद्धति का मज़ाक उड़ाते थे। तन्त्रों में एक स्थान पर कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान से मुक्ति मिल सकती है तो सभी मद्यपी मुक्त हो जाते। यदि केवल स्त्री संग से मुक्ति मिल सकती है तो संसार में कौन है जो मुक्ति से बच जाता।[६] वे

१. यदि णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमु (उ) पाडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बअ ।।७।।
बागची, चर्यागीति कोष, पृ० १८८।

२. सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किम्पि ण भावइ।
तत्त रहिअ काआ ण ताव पर केवल साहइ ।।८।। वही

३. सहज छड्डि जो णिव्वाण भाविउ। णउ परमत्थ एक्क तें साहिउ ।।१३।।
वही पृ० १८८।

४. तित्थ तपोवण म करहु सेवा। देह सुचिहिण सान्ति पावा ।।१८।।
देव म पूजहु ति (त्थि) ण जावा। देवपूजाहि ण मोक्ख पावा ।।२१।।
वही पृ० १८५।

५. एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त। णिअ घरिणि लइ केलि करन्त ।।
वही, १

६. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २०२।

बाह्य पद्धतियों के बौद्ध रूप को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हुए भी चित्त साधना पर विशेष बल देते थे।

सन्त कवियों में बिल्कुल उसी शैली तथा उसी शब्दावली में बाह्य अनुष्ठानों का विरोध दिखाई देता है। मलूकदास क्रिया, कर्म, आचार्य को भ्रम तथा जगत् का 'फन्दा' बताते हैं। मलूकदास रामसिंह की बात को इस तरह व्यक्त करते हैं हरी डाल को मत तोड़िये उन्हें भी अपने ही समान समझिये।[1] कबीर ने सरहपाद के समान ही योगी, यती, जटाधर, उदासी, पंडित, शाक्त, शैव, तथा मुनि आदि के बाह्य वेशों तथा पाखण्डो की निरर्थकता बतलायी है।[2] अब काजी, मुल्ला जो मुस्लिम धर्म के ठेकेदार थे वे भी पाखंडियों की जमात में सम्मिलित कर लिये गये किन्तु सन्त साहित्य में पंडितों के ऊपर सबसे अधिक आक्रमण किया गया है। इसका प्रमुख कारण है कि १४-१५वीं शताब्दी तक अन्य धर्मों की धारा क्षीण हो गयी थी किन्तु ब्राह्मण धर्म अब भी अधिक लोकप्रिय था। कबीर आदि वेद विरोधी धारा के साधक माने भी जाते हैं। वास्तव में कर्मकाण्डों तथा बाह्याचारों के विरोधी स्वर हमें उपनिषदों में ही ध्वनित होते दिखायी देते हैं। क्रांतिदर्शी जैनियों तथा सिद्धों ने इस स्वर को और प्रखर कर दिया। सन्तों में तो यह जोरदार फटकार तथा चुभनेवाले व्यंग्य के रूप में बदल गया। कर्मकाण्ड विरोधी चिन्तन परम्परा के अन्तर्गत आनेवाले सन्तों तथा भक्तों की बात ही और थी तुलसी तथा सूर में भी विरोध की स्पष्ट अनुगूँज सुनाई देती है।'

हिन्दी के भक्तों में सिद्धों की तरह आचार तथा अनुष्ठान संबंधी दोहरा दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। भक्ति भाव को अधिक गंभीर और अटल बनाने में सहायक अनुष्ठानों को यहाँ भी मान्यता दी गयी है।

पुस्तकीय ज्ञान :

जिस प्रकार बाह्य अनुष्ठानों से परमार्थ का ज्ञान नहीं होता उसी तरह पुस्तकीय ज्ञान से भी। जोइन्दु का कहना है कि शास्त्र को जानकर तथा उसके

---

१. हरी डाल न तोड़िये लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहै अपना सा जिय जान॥
मलूकदास की बानी, पृ० २०, ३७।

२ स० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० ३८०, ३८७।

अनुकूल आचरण करके व्यक्ति परमार्थ को नहीं जानता। शास्त्र को पढ़ते हुए भी जो विकल्प नही त्यागता वह देह में बसनेवाले निर्मल परमात्मा को नही प सकता।[१] मुनि रामसिंह के मत से श्रेष्ठ पंडित कन (दाने) को छोड़कर तुस को कूटते है वे ग्रन्थ के अर्थ से ही सन्तुष्ट रहते है किन्तु वे मूढ़ है उन्हे परमार्थ का ज्ञान नही होता।[२] पाहुड दोहा मे अन्यत्र वे लिखते हैं 'मूर्ख' अधिक पढने से क्या लाभ, ज्ञान तिलिंग को सीखो जिसके प्रज्वलित होने पर पुण्य और पाप क्षण भर मे नष्ट हो जाता है।[३]

सरहपाद कहते हैं गुरु के उपदेश-अमृत को छोड़कर शास्त्रो के मरुस्थल मे तृषित होकर अज्ञानी मरता है।[४]

काण्हपाद आगम, वेद, पुराण को ढोनेवाले पंडितों को ऐसे भ्रमर के समान मानते है जो श्रीफल के चारो ओर चक्कर काटते रहते हैं और रस पान से वंचित रहते है[५]—

हिन्दी के सन्त कवि इस पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता को उतने ही कठोर शब्दों मे प्रस्तुत करते है जितने कठोर शब्दों मे जैन कवियो तथा सिद्धो ने व्यक्त किया था। कबीर कहते है पोथी पढते-पढ़ते संसार मर गया किन्तु कोई वास्तविक पंडित नही हुआ। जो प्रिय के नाम का एक ही अक्षर पढ़ लेता है वही पडित हो जाता है। शास्त्र के अध्ययन से अच्छा तो योग है। इसलिए पुस्तक फेंककर राम मे चित्त लगाना चाहिए।[६]

---

१. बुज्झइ सत्थइ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
नाव ण मुचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥८२॥
सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥८३॥
(परमा० द्वि० पृ० २२३-२२४)

२. पंडिय पंडिय पंडिया कणु छडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढोसि ॥ पाहुड दोहा, २८५

३. णाणतिडिक्की सिक्खि बढ़ किं पढियंइ बहुएण।
जा सुधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण ॥८७॥ वही

४. बागची सरहपादानाम् चर्यागीति कोष, पृ० १९१।

५. काण्हपादानाम्, वही, पृ० १९७।

६. कबीर पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पडित भया न कोइ।
एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ॥

पुण्य और पाप दोनों त्याज्य :

सामान्य धार्मिक पुरुष अपने व्यवहारों तथा कार्यों मे कृत्य अकृत्य पर इसलिए अधिक ध्यान देता है कि उसे पुण्य-पाप की विशेष परवाह रहती है। उसकी यह प्रक्रिया स्वर्ग-नरक की धारणा से परिचालित रहती है। रहस्यवादी की चिन्तना इससे भिन्न होती है। वह तो अपने ही सच्चे रूप को पहचानने के लिए बेचैन रहता है। वह कर्मों के बंधन से मुक्त होकर आवागमन से छुटकारा पाना चाहता है और उस परम ज्योति के साथ तद्रूपता स्थापित करने के लिए लालायित रहता है। इसलिए वह पाप-पुण्य दोनों को त्याज्य मानता है। जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान नहीं समझता वह चिरकाल तक दुख सहता हुआ लोक के अन्तर्गत मोहग्रस्त होकर घूमता रहता है।[१] जोइन्दु मुनि उसे सच्चा पंडित मानते हैं जो पुण्य को भी पाप कहता है। उनका कहना है पुण्य से विभव होता है, विभव से मद होता है, मद से बुद्धि मोहित होती है मद मोह से पाप होता है।[२]

मुक्ति-मोक्ष या निर्वाण :

मोक्ष शब्द मुच् धातु से बना है जिसका अर्थ है छूटना। किन्तु दार्शनिक स्तर पर मोक्ष का अर्थ विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न मिलता है। बौद्ध मतावलम्बियों ने निर्वाण को दो प्रकार का माना—सोपाधिशेष जो शरीर रहते होता है।[3] निर्वाण निरुपाधि शेष जो शरीर पात के बाद होता है। विज्ञानवादियों तथा योगाचारियों के अनुसार जीव या प्राणी पर चढे हुए आवरणों की निवृत्ति से मोक्ष लाभ होता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव निसर्गतः मुक्त है

कबीर मैं जान्यू पढिबौ भलौ पढिबा थैं भलौ जोग।
राम नाम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ॥१॥

—मा० प्र० गुप्त : कबीर ग्रथावली, पृ० ६५।

१. जो णवि मण्णइ जीव समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहन्तु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥५५॥

—परमात्म प्रकाश, पृ० १६५।

२. जो पाउवि सो पाउ मुणि सव्वुइ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुहः को वि हवेइ ॥७१॥

—योगसार, पृ० ३८६।

३. डॉ० रामनारायण पाण्डेय : भक्ति काव्य मे रहस्यवाद, पृ० ३२४।

पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। समस्त कर्मों के क्षय को मोक्ष के नाम से पुकारा जाता है। जोइन्दु द्वारा वर्णित आत्मा की तीसरी अवस्था जिसे परमात्मा कहते है मोक्ष की अवस्था है। परमात्म पद तथा मोक्ष में कोई अन्तर नही है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मो से मुक्ति पाना आवश्यक है। योगसार मे जोइन्दु मुनि कहते है कि यदि कोई बाह्य चतुर्गति मे छुटकारा पाना चाहता है तो उसे परभाव को छोडकर निर्मल आत्मा का ध्यान करना चाहिये जिससे शिव सुख का लाभ हो सके।[1] मोक्ष प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नों तथा क्रिया विधानो की जरूरत नहीं होती। आत्मा के शुद्ध, सचेतन रूप का ज्ञान ही मोक्ष के लिए पर्याप्त है।[2] आनन्द तिलक कहते है कि ध्यान सरोवर के अमृत जल मे मुनिवर स्नान करें। आठ कर्म मल को धोकर निर्वाण प्राप्त करे।[3] उन्होने भी जोइन्दु की तरह ही आत्मा को सब कुछ माना। जो आत्मा को उसके सच्चे रूप मे पहचान लेता है वह निर्वाण का अधिकारी बन जाता है।[4] सिद्धो के अनुसार भव का ज्ञान ही निर्वाण है।[5] समस्त जग जब काया, वाणी तथा मन आदि से मिलकर विस्फुरित होता है तब महासुख तथा निर्वाण का एक साथ ग्रहण होता है।[6] हिन्दी के सन्त कवि आत्मा और परमात्मा की अद्वैत अनुभूति या

१. जइ बहिउ चउ-गइ-गमणा तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव सुक्ख लहेहि ॥५॥
योगसार, पृ० ३७२।

२. सुद्ध सचेयणु बुद्ध, जिणु केवल णाण सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव लाहु ॥२६॥ वही, पृ० ३७६।

३ झाण सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अट्ठकम्ममल धोवहि आणन्दा रे। णियडा पाहु णिव्वाणु ॥५॥ आणंदा।

४. अप्पा सजमु सील गुण अप्पा दंसणु णाणु।
वउ तउ संजम देउ गुरु आणन्दा ते पावहि णिव्वाणु ॥२३॥ आणदा।

५ जो भव सो णिव्वाणु खलु स उण मण्णहु अण्ण।
एक्क सहावें विरहिअ मइँ पड़िवण्ण ॥१०२॥
चर्यागीति कोष, पृ० १९५।

६ सब जगु काअ-वाअ मण मिलि विफुरइ तहिसो दुरे।
सो एहु भङ्गे महासुह णिव्वाण एक्कु रे ॥२७॥
वही, पृ० १९९।

साक्षात्कार को मोक्ष मानते है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए माया का निरास होना आवश्यक है। इन पर जैन सिद्ध एव नाथ की अपेक्षा वेदान्त का अधिक प्रभाव है। वेदान्त में कहीं-कहीं आत्मा और परमात्मा में अंश और अंशी का सम्बन्ध माना गया है। जीव माया के अधीन होकर अपने सच्चे रूप को विस्मृत कर देता है। माया का आवरण हटते ही वह अंशी परमात्मा मे लीन हो जाता है। कबीरादि सन्तो ने इसे पानी, नमक, नदी, समुद्र, कुम्भ के जल और समुद्र के जल के माध्यम से समझाया है। अन्य सगुण भक्त भगवान् के निकट उनका किंकर या सेवक बनकर सामीप्य मुक्ति चाहते है।

सहज साधना :

सहज शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत वेदो मे वर्णित निव्युत्तीय, अथर्ववेद मे वर्णित व्रात्य को सहज का अनुयायी मानते है। जैनो ने सहज को समाधि के साथ सयुक्त करके प्रयुक्त किया। आणदा ने कहा कि आत्मज्ञान के लिए अहंकार का परित्याग आवश्यक है। आत्मा को सहज समाधि से जाना जा सकता है।

सहज सरोवर मे रमण करने से सभी पाप शान्त हो जाते है :—

सहज सवरइ जइ रमहिं तो पावहिं सब सन्तु।[1]

जैन-काव्य मे परम समाधि, परम सुख सहज स्वरूप करीब-करीब एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। सिद्धो ने सहज शब्द का प्रयोग प्राय उसी अर्थ मे किया है जिस अर्थ मे शून्य का। सिद्ध साधना मे सब कुछ सहज से जुड गया है शब्द, सहज शब्द हो गया, ज्ञान सहज ज्ञान हो गया, तत्त्व सहज तत्त्व हो गया। यही नही समाधि, काया, साधना पथ, नैरात्म्य ज्ञान रूपी सुन्दरी सभी सहज हो गये। यह सहज परम तत्त्व के रूप मे है। काण्हपा इस तत्त्व को अच्छी तरह से जानते हैं। अन्य लोग शास्त्रागम आदि पढ़, सुनकर इसे जानना चाहते है इसलिए यह उनके लिए दु साध्य है।[2] सहज में जो निश्चल हो जाता है उसका आवागमन टूट जाता है। उसका मन समरस मे विराजने लगता है।

---

१ योगसार, पृ० ३६०।

२. सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड काण्हु परिजाणइ।
सत्थागम बहु पढइ सुणइ बढ किम्पि ण जाणइ॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६८

समस्त गूढ़ साधना सम्बन्धी समस्याओं का समाधान गुरु के द्वारा हो सकता है। किन्तु सहज रूपी परमतत्त्व तो ऐसा है जो अनिर्वचनीय है। उसमें तो ऐसे अमृत रस की उपलब्धि होती है जिसका आस्वादन करके साधक अपने आपको विस्मृत कर देता है। शिष्य मे कुछ समझने की चेतना ही नही रहती।[1] सहज साधना मे चित्त विशुद्ध हो जाता है। सहज तत्त्व पवन के वहने से हिलता नही। आग के जलने से जलता नही। घन के बरसने से भीगता नही। न उत्पन्न होता है और न मरता है।[2] हिन्दी सन्त साहित्य मे सहज का यही विस्तार तथा यही अर्थ मिलता है। सन्तो ने कही-कहीं इसे भक्ति भावना के अनुरूप परिवर्तित भी करने का प्रयास किया है। कबीरदास ने सहज को शून्य के पर्याय मे ग्रहण किया है और कही-कही शून्य की विशेषता के रूप मे सहज शून्य कहा है। सहज शून्य में समरता या समदृष्टि का चित्रण भी मिलता है।[3] कबीरदास की सहज सम्बन्धी व्याख्या निम्न पंक्तियो में मिलती है—

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्हे कोय।
जिन सहजै विषयातजी, सहज कहीजै सोय॥

+ + +
+ + +

सहजै सहजै सब गए सुत वित कामणि काम।

+ + +

जिन सहजै हरिजी मिले, सहज कहीजै सोय॥

डॉ० त्रिगुणायत ने इन साखियो के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कबीर ने परम्परागत सहजवाद की उपेक्षा की है और दूसरी ओर उसके स्वरूप का अपने ढंग पर निरूपण किया है।[4] किन्तु प्रस्तुत साखियो से

---

१. णउ तम्वाअहि गुरु कहइ णउ तम्बुज्झइ सीस।
सहज अमिअरसु सअल जगु कामु कहिज्जइ कीस॥ वही, पृ० १८७।

२. पवण वहन्ते न सो हल्लइ, जलण जलन्ते न सो डज्झइ।
घण बरिसन्ते णउ सो तिम्मइ, ण उवज्जइ (वड्ढइ)
णउखअहि पइस्सेइ॥
वही, पृ० १८७।

३. सहज सुनि इकु बिरवा उपजि। धरती जल हरु सोखिया।
—कबीर ग्रंथावली

४. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा पृ० ४०५।

उन अधकचरे ज्ञानवाले सन्तों तथा सिद्धों की ओर निर्देश है जो सहज तत्त्व को पहचानते तो नहीं पर सहज सहज चिल्लाया करते है। सहानुभूति होने पर विषय, वासना, मोह, माया स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। कबीर भक्ति भाव के अनुरूप सहज ही हरि से मिलने वाले व्यक्ति को सहज कहते हैं। उपर्युक्त साखियों में सहज के दो अर्थ प्रतीत होते हैं।

१—आयासहीन साधना—जो हठयोग के विपरीत है।

२—स्वाभाविक तथा शुद्ध साधना जो बाह्यानुष्ठान आदि से विरहित है। सिद्धों तथा जैनो ने जिसे महासुख कहा है वही कबीर का राम-रस है जो सहजावस्था में उपलब्ध होता है। दादू, सुन्दरदास, गुलाल आदि कवियो ने सहज मार्ग में विश्वास प्रकट किया है। सन्तों में सिद्धों तथा जैनों द्वारा मान्य सभी प्रमुख रूप मिल जाते है . जैसे—

(१) सहज समाधि। (२) सहज मार्ग। (३) सहज जीवन पद्धति। (४) सहज तत्त्व (परमतत्त्व)। (५) महासुख। (६) सहज शून्य-सिद्धावस्था।

सहज शब्द का प्रयोग तुलसी जैसे सगुण भक्तों में भी मिलता है किन्तु वहाँ इसका कोई सैद्धान्तिक या परम्परित अर्थ नहीं प्रतीत होता है—

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसरि सहज सुख, जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो।[१]

योगपरक प्रवृत्तियाँ :

आत्मा को परमात्मा में विलीन करने के लिए या आत्मा को ही परमात्मा के रूप में पहचानने के लिए बाह्य क्रिया विधानो को बहिष्कृत करके मध्य-कालीन जैन, सिद्ध, नाथ तथा सन्तो ने जो आन्तरिक साधना या काया साधना चलायी वह योग परम्परा से अत्यधिक प्रभावित है। जैनों में यह साधना अधिक जटिल और गुह्य नहीं है न तो उसका विस्तृत वर्णन ही मिलता है। जैन मुक्तककारो ने योग के रूप को समाधि तक ही सीमित रखा है। तथापि इनमें योग की अनेक शब्दावली उसी रूप में प्रयुक्त हुई है जैसे शिव-शक्ति, अजपा, सामरस्य, निरंजन आदि। मुनि रामसिंह ने वाम और दक्षिण (इड़ा और पिंगला) के मध्य स्थित सुषुम्ना की सहायता से अपर ग्राम बसाने का वर्णन किया है। योग साधना के अन्तर्गत गगन मण्डल मे निर्वाण पद की स्थिति मानी गयी है। रामसिंह भी इसी गगन मण्डल में होनेवाले अनाहद

१. तुलसीदास : विनय पत्रिका, पृ० १५८, पद सं० ८८।

नाद को श्रवण करने का आदेश देते है। यह नाद इन्द्रिय-वशीभूत मूढ को सुनाई नही देता।[1] योगीन्दु मुनि नासाग्र पर ध्यान टिकाकर परमात्मा को जाननेवाले व्यक्ति को जन्म से मुक्त मानते है।[2] कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके सुषुम्ना नाड़ी के पथ से जीवात्मा को सहस्रार चक्र मे ले जाकर जीवात्मा को गगन मण्डल स्थिति शिव से मिला देना समरस या सामरस्य है। शिव और शक्ति का वर्णन करते हुए मुनि रामसिंह कहते है कि शिव और शक्ति की एकता के बिना न तो मोह विलीन होता है और न ससार का ज्ञान ही होता है।[3]

सम्पूर्ण सिद्ध काव्य मे यह मान्यता प्रतिपादित की गयी है कि जो बाह्य सृष्टि तत्त्व है उसे शरीर के अन्दर ही साक्षात्कृत किया जा सकता है। सिद्ध काण्हपा का विचार है कि पृथ्वी, आप, तेज, समीर तथा गगन इन पच तत्त्वो से देह का निर्माण हुआ है। ये पंच तत्त्व बीज रूप है इन्ही से सुरासुर पैदा होते हैं।[4] यह बोधिचित मे अक्षोभ वैरोच रूप मे स्थित है। इस बोधिचित को साधारणतया नही जाना जा सकता। योग साधना से जब गगननीर (महासुख रूपी) अमिताभ रूपी पंक का सृजन करता है तब यह वज्र रूपी सुख स्वभाव अवधूती रूपी मूल नाल पर चतुशू̐न्य कमल के रूप में खिलता है।[5]

सिद्धो ने योगाचार की ध्यान (झाण) साधना तथा हठयोग की प्रचलित साधना को मिश्रित तथा परिष्कृत करके उसे 'बोल कक्कोल', साधना के रूप

---

१. मुनि रामसिंह : पाहुड दोहा-१८२, दोहा १६८।

२. णासग्गि अभिन्तरहं जो जोवहिं असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण सम्भवहिं पिवहिँ ण जणणी खीरु ॥ ६० ॥
योगसार, पृ० ३८४।

३. मुनि रामसिंह : पाहुड दोहा, दो० ५५।

४. गअण-समीरण-सुहवासे पञ्चेहिँ परिपुण्ण ए।
सअल सुरासुर एहु उअत्ति बढ़िए एहु सो सुण्ण ए ॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६७।

५. बोहि चिअ रअमूसिअ अक्कोहेहिँ सिट्ठओ।
पोक्खरविअ सहाव सह णिअ-देहहि दिटठओ ॥ ३ ॥
गअण णीर अमिआह पाँक मूल वज्ज भाविअइ।
अवधूइ किअ मूलणाल हकारो वि जाअइ ॥ ४ ॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६७।

मे ग्रहण किया। उन्होने अपनी साधना को प्रज्ञोपायात्मक रूप प्रदान किया। सिद्धों ने 'अर्हन' के स्थान पर एव बीज को ग्रहण किया तथा उपाय और प्रज्ञा को युगनद्ध करना साधना का प्रमुख उद्देश्य माना। योगाचार मे पृथ्वी को अन्तिम धातु माना गया था। सिद्धो ने उसे प्रथम धातु बना दिया और गगन जो पहला था अब अन्तिम हो गया। 'बोल कक्कोल' साधना को रासायनिक अर्थ प्रदान करके सिद्धो ने अपनी मौलिक सूझ का परिचय दिया।

प्रज्ञोपायात्मक घर्षण के द्वारा पंच महाभूतो को अन्तस्थ करना, बोल कक्कोल साधना में जरूरी माना गया। प्रज्ञा का स्थान कपाल या मस्तक के अन्दर माना गया है जो हिन्दू योगदर्शन के अनुकूल है। हिन्दू योग परम्परा में चक्रों की संख्या छः मानी गयी है किन्तु इसमे चार ही चक्र है। इन चक्रों को कमल दल के रूप में परिकल्पित किया गया है निर्माण चक्र मे चौंसठ, धर्मचक्र मे बत्तीस सम्भोग चक्र सोलह और उष्णीस चक्र मे छ. पाखुडी मानी गयी हैं। उष्णीस कमल नें चार शून्यो के प्रतीक चार दल माने गये है। काण्हपा कहते हैं कि ललना, रसना रूपी, सूर्य, चन्द्र नाड़ियो को तोडकर (भेदकर) चार दलो और चार मृणालो वाले कमल को स्पर्श करो जहाँ महासुख का वास है।[1] काण्हपा ने महासुख चक्र को नलिनी वन कहा है। इसमे पहुँचने पर चित्त की द्विविधा नष्ट हो जाती है।[2]

इन चक्रों का वेधन नाड़ियो से होकर किया जाता है। विभिन्न योग सम्प्रदायो मे नाडियों की सख्या भिन्न-भिन्न मानी गयी है। किन्तु मुख्य नाडियाँ तीन ही है। सिद्धों ने इन नाडियों का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। ये नाडियाँ है ललना, रसना तथा अवधूती। ललना नाडी बाये नासापुट के पास गयी हैं और रसना दक्षिण नासापुट के पास है। ललना, रसना को इडा पिंगला भी कहते हैं। इन दोनो के मध्य अवधूती नाडी है। ललना मे शुक्र प्रवहमान है तथा रसना में रज, अवधूती अद्वैत रूपी बोधिचित्त का वहन करती है। इसे सहज पथ या सहज सुन्दरी भी कहा जाता है। सिद्धो ने इसे जोगिनी के रूप में सम्बोधित किया है। सिद्ध काव्य मे अवधूती के दो रूप मिलते हैं :—

---

१. ललणा रसणा रवि ससि तुडिअ वेण्ण वि पासे।
पत्तो चउट्ठ चउमृणाल ठिअ महासुह वासे ॥ ५ ॥
वही, पृ० १६७।

२. काह्न विलसअ आसवमाता।
सहज नलिनीवन पइसि निविता ॥ बागची, चर्यागीतिकोष, पृ० ३०।

१ – परिशुद्धा अवधूती।
२—अपरिशुद्धा अवधूती।

वायु निरोध

अपान वायु से प्रज्ज्वलित होनेवाली कालाग्नि जब निम्नगामी होती है तो उसके तेज से शुक्र जलकर सूख जाता है। इससे मनुष्य की शक्तियो का ह्रास होता है। इसलिए वायु का निरोध अत्यधिक आवश्यक है। सरहपाद का कथन है कि जब वायु निरुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है तो योगी का काल कुछ भी नही बिगाड़ पाता।[1] नियन्त्रित वायु मे तल्लीन होकर चचल चित्त मृत हो जाता है अर्थात् उसकी गतिमयता समाप्त हो जाती है और वह विशुद्ध हो जाता है। लुईपा कालाग्नि को केवल काल नाम से पुकारते हैं और उसे चंचल चित्त मे प्रविष्ट मानते है।[2]

चाण्डाली योग :

लिंग और गुदा के समीप की मासपेशियो का सकुचन करके एक प्रकार का मूलबन्ध भी किया जाता है। इस मणि मूलबन्ध के कारण चन्द्र और दिवाकर रूपी ललना और रसना का निरोध हो जाने से अंधकार हो जाता है। कालाग्नि का भी क्षय हो जाता है। तब उस समय अवधूती का उद्घाटन होता है और चन्द्राग्नि का भी आलोक ऊपर की ओर उठता है और उससे बोधि चित्त मणि की भाँति जगमगा उठता है।[3] धामपा चान्डाली योग के साथ समता योग की भी चर्चा करते है। इस योग में साधक कमल कुलिश के मध्य में लीन हो जाता है। डोम्बी नाड़ी मे राग दाह से आग प्रज्ज्वलित हो जाती है फिर साधक शशहर (विशुद्ध) चित्त के द्वारा उस आग को बुझाने लगता है। यह ज्वाला भौतिक ज्वाला से भिन्न है। इसमें ज्वलन शक्ति नही है। न तो इसमें से धुँआ निकलता है जो नयनो को पीड़ित करे। यह अग्नि प्रसरित होकर सुमेरु शिखर मे जाकर गगन में प्रविष्ट हो जाती है। इसके

---

१. पवण वहइ सो णिच्चलु जव्वें। जोइ कालु करइ कि रे तव्वे ॥६६॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६२।

२. काआ तरुवर पन्च वि डाल।
चंचल चीए पइठा काल ॥ बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १।

३. डॉ० धर्मवीर भारती · सिद्ध साहित्य पृ० २१७।

द्वारा हरिहर, ब्रह्मा, वासना, क्लेश आदि जल जाते हैं। फिर पंच इन्द्रियो से पानी पहुँचता है।[1] चण्डाली प्रज्वलित होने के बाद साधक काय, वाक् और चित्त को वज्र बनाकर अवधूती को वधू के रूप मे ग्रहण करता है।

सिद्धो की योग साधना मे विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण चार क्षण, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द, सहजानन्द चार आनन्द माने गये है। इन आनन्दो को प्राप्त करने के लिए कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा चार मुद्राये मानी गयी है। मुद्रा का शाब्दिक अर्थ है मुद् + ददाति अर्थात् आनन्द देनेवाली। सिद्धो ने मुद्रा को नारी रूप माना। प्रारम्भ मे इसका नैरात्मा या प्रज्ञा के रूप मे आध्यात्मिक अर्थ था किन्तु बाद में भौतिक अर्थ की प्रधानता हो गयी।[1] महामुद्रा की यह साधना सब से कठिन साधना मानी जाती थी और इसी साधना मे निष्णात होने के उपरान्त ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों मे होती है।[2]

देह का महत्त्व :

रहस्यवादी मुक्तको मे योगपरक मान्यताओं के कारण देह को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योकि चित्त या आत्मा का देह के अन्दर ही साक्षात्कार हो सकता है। आनन्द तिलक का कथन है कि अरसठ तीर्थों मे मूर्ख भ्रमण करता हुआ मर जाता है किन्तु आत्म विन्दु को नही जानता। इस घट (शरीर) मे अनन्त देवताओ का निवास रहता है।[3] साधना के लिए शरीर को साधन तो बनाया जा सकता है किन्तु स्थूल शरीर को ही सब कुछ मान लेना ठीक नही है। क्योंकि शरीर की सजावट, उबटन, तेल, सुमिष्ट आहार आदि दुर्जन के प्रति किये गये उपकार की तरह निरर्थक हो जाते हैं अन्ततः

---

१. कमलकुलिश माझे भवइ लेनी। समताजोएँ जलिल चण्डाली ॥
डाह डोम्बी घरे लागेलि आगि (णी)। ससहर लइ सिन्चहु पाणी ॥
नउ खर जाला धूम न दिसइ। मेरु शिखर लइ गअण पइसइ ॥
दाढ़इ हरिहर बाह्म भडारा। दाढ़इ णव गुण शासनपाडा ॥
भणइ धाम फुड लेहु रे जाणी। पन्च नाले उठे गेल पाणी ॥
बागची चर्यागीतिकोष, पृ० १५४।

२. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २२१।

३. अट्ठसट्ठि तीरथ परिभमई मूढ़ा, मरइ भमन्तु।
अप्प विन्दु ण जाणहि, आणदा रे। घट महि देव अणतु। आणदा ॥२॥

शरीर से कुछ उपलब्ध नहीं हो सकता।[1] सिद्धों ने भी यह माना कि देह में ही बुद्ध का वास है। पर मूर्ख उसे जान नहीं पाता। सरहपा कहते हैं कि इस देह में ही सुरसरि, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी, चन्द्र, दिवाकर, पीठ, उपपीठ सब कुछ है।[2]

कबीर आदि सन्तों ने इडा पिंगला नाड़ियों को गंगा यमुना के रूप में परिकल्पित करके शरीर के अन्दर ही लोक जीवन के विश्वास को मोड़ना चाहा। जहाँ पर इडा पिंगला तथा सुषुम्ना मिलती हैं वही त्रिवेनी है। सच्चा साधक वहीं स्नान करता है। अपभ्रंश मुक्तक काव्य की योगपरक प्रवृत्तियों का हिन्दी मुक्तकों पर दोहरा प्रभाव पड़ा। एक तो स्वीकारात्मक था और दूसरा निषेधात्मक। हिन्दी के सन्त कवियों ने समाधि, पवन निरोध आदि बातों को अपभ्रंश कवियों की तरह महत्त्वपूर्ण माना। सन्तों के काव्य में सबसे अधिक शून्य महल, शून्य सरोवर, शून्य मण्डल आदि का प्रयोग पाया जाता है। हठयोग साधना में शरीर के अन्दर ही शून्य की स्थिति मानी जा चुकी थी। आकाश (शून्य) में जहाँ शब्द होता है वही आज्ञा चक्र है।[3] वहाँ आत्मा में शिव का ध्यान करके योगी मुक्त हो जाता है। इडा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्य भी शून्य माना गया था।[4] सिद्ध तथा नाथ साहित्य में प्राप्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि शून्य के विविध स्थान माने गये हैं। आगे आनेवाले सन्तों ने इन शब्दों का इतना अधिक प्रयोग किया कि शून्य गुफा, त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र की वास्तविक स्थिति का पता पाना मुश्किल हो गया। डॉ० धर्मवीर भारती

---

१. उब्बलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिण दुज्जण उवयार ॥१८॥ पाहुड दोहा।

२. एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थु से गंगासाअरु।
एत्थु पआग बणारसि एत्थु से चन्द्र दिवाअरु ॥४७॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६१।

क्खेत्तु पीठ उपपीठ एत्थु मइं भमइ परिट्ठओ।
देहा सरिसअ तित्थ मइँ सुह अण्ण ण दीट्ठओ ॥४८॥ वही

३. आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते।
तत्रात्मानम् शिवम् ध्यात्वा योगी मुक्तिमाप्नुयात: ॥
गोरक्ष पद्धति, पृ० ८६।

४. इडा पिंगलयोर्मध्ये शून्यम् चैवानिलम् ग्रसेत्—
हठयोग प्रदीपिका पृ० १६८

का विचार है कि वे इनकी वास्तविक स्थितियों को भूल गये है और केवल परम्परा निर्वाह के लिए शून्य मण्डल, शून्य गुफा आदि का उल्लेख मात्र कर देते है। यह स्थिति न सिद्धों में है, न नाथो मे।[१] सन्तों में इस तरह की सैद्धान्तिकता का अभाव स्वाभाविक ही है क्योंकि उनमे से अधिकतर अनपढ थे। उन्होंने परम्परा तथा साधुओ की संगति से इन योगिक साधनाओ के संबध में जाना समझा होगा।

सन्तों ने शून्य का प्रयोग परमतत्त्व के रूप में किया है जो सिद्धो से बिलकुल मिलता जुलता है। किन्तु अब तक त्रिकुटी का महत्त्व अधिक हो गया। मीरा त्रिकुटी महल में बने झरोखे मे झाँकी लगाती है। शून्य महल में सुरत जमाकर सुख की सेज बिछाती है।[२] गुलाल शून्य को नगर का रूपक देते है।[३] सन्तो मे शून्य के साथ मण्डल का प्रयोग गुह्य साधना के मण्डल चक्र के अनुष्ठानो से प्रभावित जान पड़ता है। सन्तों ने शून्य को अभावग्रस्त नही माना। सिद्धों ने शून्य मे वज्र की स्थिति कल्पित की थी। सन्तों ने उसे राम या शिव का निवास स्थान माना है। रन्ध्र जो सिद्धों के यहाँ वैरोचन द्वार था वह अब ऐसी गुफा बन गया जहाँ से अमृत झरता रहता है।[४]

वज्रयोग में चंडाग्नि का वर्णन किया जा चुका है। शैवों ने इस चण्डाग्नि को ब्रह्माग्नि नाम से अभिहित किया। नाथों तथा सन्तों मे इसके समान चित्रण तो मिलते है पर इस नाम का प्रयोग नहीं मिलता। कबीरदास कहते है कि जब दरिया (मन) अग्नि से प्रज्वलित होता है तब जल, स्थल, झील, वृक्षादि दग्ध हो जाते हैं एवं सभी अमूल्य रत्न विनष्ट हो जाते है।[५] कबीर द्वारा वर्णित वह अग्नि सिद्धों की चण्डाग्नि की तरह ही मन की सारी वासनाओ

१. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० ३४६।

२. त्रिकुटी महल बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन महल मे सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री॥
मीरा—बृहद्-पद संग्रह, पृ० ३२४।

३. सुन्न नगर में आसन पाई जगमग जोति जगावै।
गुलाल साहब की बानी, पृ० ३२।

४. गगन गुफा के बीच पियाला प्रेम का चाखे।

५. कबीर दरिया प्रजल्या, दाझै जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सूं, जिनसे रतन अमोल॥१॥
स० माताप्रसाद गुप्त कबीर : ग्रंथावली, पृ० १२६।

को भस्म कर देती है। सन्तों में यह अग्नि परमात्मा से वियुक्त आत्मा की वियोगाग्नि बन गयी है।

सिद्धों में एवं तथा बीज रूप वज्र जाप का विधान था। नाथ सम्प्रदाय ने योग प्रधान साधना पद्धति अपनायी थी अतः उसमें जप का वह रूप स्वीकृत हुआ जो श्वास निरोध के साथ सम्पन्न होता था। इसे नाथ योग में अजपा जाप कहा जाता था। सन्तों ने भी इस 'जाप' परम्परा को अपनाया लेकिन उसका नाम सहज जप रखा। सन्तों के इस सहज जप का प्ररूप नाथों तथा सिद्धों के अजपाजप तथा वज्र जप और वैष्णव सहजिया तत्त्व से मिल जुलकर निर्मित हुआ।

सन्तों में देह के अन्दर चक्र और नाडियों की परिकल्पना सिद्धों से पर्याप्त भिन्न है। सिद्धों के चार चक्र के स्थान पर सन्तों ने हिन्दू योग पद्धति के अनुकूल छः चक्रों का वर्णन किया है। सिद्धों ने प्रमुख तीन नाड़ियों का वर्णन किया है ललना, रसना तथा अवधूती। सन्तों ने शरीर के अन्दर इनकी स्थिति सिद्धों के समान ही मानी है केवल नाम में अन्तर है। सन्तों ने इनका नाम— इडा, पिंगला तथा सुषम्ना रखा। डॉ० त्रिगुणायत यह मानते हैं कि कबीर की प्रारम्भिक योग साधना इन्हीं तान्त्रिकों और हठयोगियों की जटिलतम योग साधनाओं का ही रूपान्तर है।[१] इन सन्त कवियों में योग द्वारा प्राप्त सम-भाव, अनहदनाद ही परम सत्य नहीं है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन तथा उस अनहद नाद को बजानेवाला।[२]

निषेधात्मक रूप में योग का प्रभाव सूरदास, नन्ददास तथा तुलसीदास पर पड़ा। उद्धव-गोपी संवाद में सूरदास ने योग की निन्दा करते हुए उसे कष्ट साध्य बताया है। भंवरगीत में नन्ददास कहते है कि जिसका कर्म बुरा हो वह पद्मासन को धारण करके इन्द्रियों का हनन करे और योगासन सिद्ध करे।[३]

महासुख या समरसी अवस्था :

योगपरक प्रवृत्तियों में 'समरसी अवस्था' की साधना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शाक्त, शैव, जैन और सिद्ध काव्य में इसकी अलग-अलग परिकल्पनाएँ मिलती हैं। वज्रयानी साधना में प्रज्ञा रूपी स्त्री तथा उपाय रूपी पुरुष का

---

१. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० २०७।

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ६३।

३. नन्ददास : भंवरगीत, पृ० ८।

सम्मिलन ही समरस या महासुख है। प्रज्ञा और उपाय की साधना आगे चलकर वामाचार मे परिवर्तित हो गयी और स्त्री-सुख को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। तान्त्रिक बौद्ध साधना में यह वामाचार अधिक प्रचारित हुआ। शैवो तथा शाक्तो ने शिव और शक्ति के संयोग को ही सामरस्य कहा है।[1] नाथ योगियो के विचार से जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषम्ना मार्ग से षट् चक्रो को वेधती हुई सहस्रार चक्र में स्थित शिव से जा मिलती है, तब समरसता की स्थिति आती है।

जैन कवियो ने मन और परमेश्वर, शिव और शक्ति के मिलन को समरसता माना है।[2] मुनि रामसिंह कहते है कि समरसता की अवस्था मे समाधि की जरूरत नही होती क्योंकि जिस तरह नमक पानी मे विलीन हो जाता है उसी तरह चित्त परमेश्वर में। दैहिक सुख-दुःख तभी तक संतापित करते हैं जब तक चित्त निरंजन मे समरस नहीं हो जाता है। रामसिंह शिव और शक्ति के मिलन की भी चर्चा करते है।[3]

सिद्धों का सामरस्य भाव बिलकुल तान्त्रिकों जैसा ही है। सरहपाद ने कहा है कि जैसे जल-जल मे प्रवेश करता है तो समरस हो जाता है उसी तरह उपाय (चित्त) प्रज्ञा से सबद्ध होकर समरस हो जाता है। दोष तथा गुणों के चक्कर मे रहनेवाला मूर्ख इसे नही जानता।[4] जब मन अस्त हो जाता है तो तन का बन्धन टूट जाता है। तब समरसी अवस्था में शूद्र और ब्राह्मण का भेद मिट जाता है।[5] इसी शरीर रूपी घर में प्रज्ञा रूपी महिला है लेकिन वह उपाय रूपी मनुष्य से मिलती नहीं यही विडम्बना है।[6] भुसुकपा ने भी

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६।

२. मणु मिलियउ परमेसरहु परमेसरउ वि मणस्सु।
बेहि वि समरस हूवाहं, पुज्ज चडावउ कस्स॥
परमात्म प्रकाश, पृ० १२५।

३. पाहुड दोहा, दोहा १२७।

४. जत्तइ पइसइ जलेहिं जलु, तत्तइ समरस होइ।
दोसगुणाउर चित्तता, बढ़ पडिवक्ख ण होइ॥
राहुल साकृत्यायन, दोहा कोश पृ० १८।

५. जव्वे मण अत्थमणु जाइ, तणु तुट्टइ बन्धण।
तव्वे समरसहिं मज्झे, णउ सुद्दण बाम्हण। वही, पृ० २२।

६. एहु घरे ट्ठिअ महिला मणुसा। एहु ण दीसइ भण सहि कइसा॥
वही पृ० ३२।

सामरस्य अवस्था को जल के उदाहरण से ही समझाया है। उनका कथन है कि जिस तरह जल मे जल समाकर अभिन्न हो जाता है उसी तरह मन रूपी मणि शून्यता मे समाकर अभिन्न हो जाता है।[१] समरसी अवस्था के लक्षण सन्त साहित्य मे दिखाई तो देते है परन्तु समूचे भक्ति काव्य पर इसका बहुत कम असर पड़ा है। कबीर योग द्वारा गगन में प्राणवायु चढ़ाकर ब्रह्म का दर्शन करते हैं। अपनी आत्मा को ही सर्वत्र व्याप्त मानते हैं। उनका मन उन्मन में विलीन हो जाता है। यद्यपि उनका रामदर्शन आत्म दर्शन ही है परन्तु विभिन्न वर्णनों मे राम का अलग अस्तित्व परिलक्षित होता है। उनके अनेक कथन अद्वैतवाद से अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं।[२] उनमें आत्मा परमात्मा की एकता तो है पर उपाय और प्रज्ञा, शिव शक्ति के मिलन तथा समरसता का कोई वर्णन नही मिलता।[३]

शृंगारिक प्रवृत्ति

यद्यपि अपभ्रंश भाषा प्राकृत को आधार बनाकर विकसित हुई किन्तु इसमें शृंगारिक चित्रणो में प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' 'वज्जालग्ग' आदि की तरह वन्य तथा प्राकृत दृश्य नही मिलते हैं। लगता है कि समयानुसार लोगो की रुचि बदलती गयी। इन मुक्तको मे गेयता का काफी ह्रास मिलता है। धीरे-धीरे चमत्कृति, विचित्रकल्पना उक्ति-वैचित्र, आदि की प्रधानता होने लगी। इन शृंगारी मुक्तको का हिन्दी के रीतिबद्ध मुक्तको पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

शृंगाररस के दो भाग हैं—

१—संयोग।

२—वियोग।

संयोग शृंगार मे नायक तथा नायिका एक साथ रहते हैं। वे एक दूसरे के दर्शन, स्पर्श, आलिंगन आदि का सुख लेते हैं।

---

१. जिम जले पाणिआ टलिआ भेउ न जाअ।
तिम मण रअण समरसे गअण समाअ॥चर्या ४३। बागची : चर्या गीति

२. हम सब माहि सकल हम मांही। हम थै और दूसरा नाही।
मा० प्र० गुप्त : कबीर ग्रंथावली, स० २६, ३४४।

३. मन लागा उनमन्न सो, उनमन मनहि विलग्ग।
लूण बिलग्गा पाणिया, पाणी लूण बिलग्ग॥ वही पृ० २६

नायक नायिका का पारस्परिक दर्शन

प्रेमी और प्रेमिकाओं की यह स्वाभाविक अभिलाषा होती है कि वे एक दूसरे की नजर के ही आगे रहे। शृंगारिक मुक्तकों में प्रिय-दर्शन की इस अभिलाषा को कई रूपों में व्यक्त किया गया है। एक नायिका अपनी माँ से कहती है कि स्वस्थावस्था में सुख से मान किया जाता है किन्तु जब प्रिय का दर्शन हो जाता है तो मानसिक स्वस्थता समाप्त हो जाती है फिर हलचल में अपनेपन का चेत तो रहता ही नहीं मान की परवाह कौन करे।[1] प्रिय के देखते समय नायिका खाने-पीने में हिचकती है। उसमे न तो कचर-कचर खाया जाता है और न घूंट-घूंट पिया जाता है।[2]

रसनिधि की नायिका की आँखों में लगी दरस की भूख से स्वाभाविक भूख मिट जाती है :—

> अद्भुत गति यह प्रेम की बैननि कह्यो न जाइ।
> दरस भूख लागै दृगन भूखहि देत भगाइ॥

अपभ्रंश के उपर्युक्त दोहे में जो संकोच और तृप्ति चित्रोपम शैली में व्यंजना के सहारे व्यक्त है वही रसनिधि के दोहे में अभिधात्मक रूप में कहा गया है। रसलीन की अभिव्यक्ति में पारिवारिक संकोच का भी अभाव है।

संभोग वर्णन .

अपभ्रंश के मुक्तककारों ने संभोग का वर्णन बड़ी कुशलता से किया है। चित्रण में अश्लीलता शायद ही कहीं मिलती हो। नायिका का नायक के प्रति इतना गहरा प्रेम है कि अंग से अंग, अधर से अधर मिले बिना ही प्रिय का रूप निहारते-निहारते सुरति समाप्त हो जाती है।[3] नायिका की अभिलाषा

---

१. अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु॥२॥
अनु० शालिकराम उपाध्याय, हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण पृ० १६।

२. लज्जइ नवि कसरक्केहिं पिज्जइ नवि घुटेंहि।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएं दिट्ठे नयणेहिं॥
हेम० : प्राकृत व्याकरण, ४।४२३।२।

३. अंगिहिं अंगु न मिलेउ मिलि अहरें अहर न पत्त।
पिअ जोअन्तिहे मुह कमलु, एम्वइ सुरउ समत्तु॥
हेम० : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५।

है कि वह प्रियतम को प्राप्त करते ही उसके अंग-अंग में अपूर्व कौतुक से प्रविष्ट हो जायेगी जैसे नये सकोरे में पानी प्रविष्ट हो जाता है।[१] कवि सुरति का एक चित्र बड़ी कुशलता से अंकित करता है। नायिका नायक के ऊपर लेटी हुई है। चंपकवर्णी नायिका मरकत वर्ण के वक्षस्थल पर इस प्रकार लग रही है जैसे कसौटी पर दी हुई सुवर्ण की रेखा।[२] अपभ्रंश मुक्तक काव्य में अश्लीलता से बचने के लिए अन्योक्तिपरक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया गया है।

अपभ्रंश के मुक्तककारों ने भाव तथा उत्सुकता पर विशेष जोर दिया तथा मिलन का चित्र अधिकतर सांकेतिक रखा किन्तु हिन्दी के मुक्तककार शारीरिक चेष्टा, आंगिक हाव-भाव के प्रति अधिक तल्लीन हो गये। अब लोक जीवन का न तो संकोच रह गया न दुराव। सूरदास ने सेज रूपी क्षेत्र में कृष्ण और राधा के रति युद्ध को चित्रित किया है जिसमें कोई किसी से पीछे नहीं हटता।[३] यही नहीं रीतिकाल तक कोकशास्त्रीय विधि-विधानों को भी अपनाया जाने लगा। साधारण रति ही नहीं विपरीत रति भी चित्रित होने लगी। मतिराम ने पूर्व वर्णित एक दोहे का भाव किंचित परिवर्तन के साथ इस तरह अपनाया है। नायिका की सुन्दर तथा क्षीण शरीर नील कमल दल सेज पर पड़ी है। वह ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे कसौटी के ऊपर सोने की रेखा हो।[४] अपभ्रंश के दोहे में श्यामल नायक तथा गोरी नायिका के

---

१. जउ केवंइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिव सव्वंगे पइसीसु॥

हेम० : अपभ्रंश व्याकरण पृ० ५०।

२. ढोल्ला सामला धण चम्पा वण्णी।
णाइ सुवण्ण रेह कस वट्टइ दिण्णी॥ वही, पृ० २।

३. राजत दोउ रति रंग भरे।
सहज प्रीति विपरीत निसा बस आलप सेज परे।

\+ \+ \+
\+ \+ \+
\+ \+ \+

सूर स्याम स्यामा रति-रस ते इक पग पल न हो।

—सूरसागर, पृ० ६४८।

४. नील नलिन दल सेज मे परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी मे मनौ तनक कनक की रेह॥ सतसई सप्तक। पृ० १२६

सम्मिलित रूप को दर्शित करने की चेष्टा की गयी है किन्तु मतिराम को नायिका की क्षीणता तथा गौर-वर्ण व्यंजित करना ही अभीप्सित है। अपभ्रंश काल का स्वस्थ शृंगार धृष्टता मे बदलने लगा था। अब नायक को रात्रि आगमन की प्रतीक्षा नही करनी होती। वह रात भर रति-क्रीड़ा से तृप्त न होकर दिन में ही घात लगाने लगता है।[1] हिन्दी के एक दोहे में प्रियतम के सौन्दर्य को एकटक निरखने का चित्रण मिलता है जो अपभ्रंश दोहे के समान ही है :—

तौ लैं अनिमिष नैनता हिए लाल बस ऐन।
अनिमिष नैन मुनै न ए निरखत अनमिष नैन॥

दंतक्षत या नखक्षत :

संभोग शृंगार के अन्तर्गत दंतक्षत या नखक्षत अमानुषिक कृत्य माने जाते है किन्तु भावनातिरेक मे या उद्दाम भोग लालसा से ये पाशविक कर्म सम्पन्न हो जाते हैं। धीरे-धीरे काव्य-क्षेत्र में दंतक्षत या नखक्षत का चित्रण एक रूढ़ि बन गया। नायिका के बिंबाधर पर दंतक्षत के सौन्दर्य से सम्बद्ध अनेक सुन्दर कल्पनाएँ की गयी। नायिका के मुख का रदन-व्रण देखकर कवि को ऐसा लगता है मानो निरूपम रस पीकर प्रिय ने शेष पर मुद्रा (मुहर) लगा दी ताकि अन्य लोग उसका पान न करें।[2] रीतिकाल मे दंतक्षत के साथ-साथ नखक्षत का भी पर्याप्त चित्रण मिलता है। हर कवि ने अपने कथन मे चमत्कार तथा वैशिष्ट्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है। बिहारी की नायिका नखक्षत को बार-बार खरोच देती है ताकि पिय की स्मृति ताजी बनी रहे।[3] इस तरह के चित्रणो मे फ़ारसी प्रभाव माना जाता है। जितेन्द्र पाठक का

---

१ केलि की रात अघाने नही दिन ही मे लला पुनि घात लगाई।
'मतिराम'

२. बिंबाहरि तणु रमण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द।
निरुवम रसु पिएं पिअवि अणु सेसहो दिण्णी मुद्द॥
हेम० . प्राकृत व्याकरण, ४१४०१११३

३. तिय निय जु लगी चलन पिय, नख रेख खरौंट।
सूखन देत न सरसई खोटि खोटि खत खोटि॥
—बिहारी सतसई, ८४।२६८

कथन है कि अवश्य ही बिहारी की नायिका के बराबर नखक्षत को खरोंच-खरोंच देने मे फारसी रूढियो का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[१]

सभोग शृंगार के अन्तर्गत नायक नायिका का रूप, छवि, तथा आंगिक सौन्दर्य बड़े विस्तार से अंकित किया गया है । भावो को उद्दीप्त तथा आकर्षक बनाने के लिए नायक तथा नायिका के अगो का चित्रण मुक्तक काव्य की विशिष्ट रूढि है । अपभ्रंश मुक्तको में नख-शिख के वर्णन विशुद्ध मुक्तकों में उपलब्ध नहीं होते परन्तु प्रबन्धात्मक मुक्तक 'संदेशरासक' में नख-शिख का उत्कृष्ट चित्रण किया गया है ।

नेत्र :

प्रेम-व्यापार मे नेत्रो की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । अत. मुक्तककारो ने नेत्रो की शोभा तथा बाँकपन का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है । उनकी साँवली नायिका के नेत्रो मे जैसे-जैसे बाँकपन आता है वैसे-वैसे कामदेव खुरदरे पत्थर पर अपना बाण तीक्ष्ण करता है ।[२] फिर बाला के चचल नेत्रो के द्वारा जो देखे जाते हैं उन पर अनायास ही मकरध्वज का आक्रमण हो जाता है ।[३] आँख मे आँसू भरे रहने पर भी उसकी प्रभावात्मकता तथा चोट कम नही होती । एक सखी दूसरी सखी को संबोधित करती है कि हे सखी गौरी की नयन सरसी अश्रु जल से प्रायः भरी रहती है । वे नयन जब किसी के सामने होते है तो तिरछी चोट करते है ।[४] नेत्रों की चचलता मत्स्य की चंचलता से उपमित होती है यह साहित्यिक रूढ़ि है । पताका भी चचल होती है । अपभ्रंश का कवि धन्या के चंचल नेत्रो की उपमा मत्स्य पताका से देता है । यह उपमा भी कारण रूप मे प्रस्तुत की गयी है । मत्स्य पताका तो इसीलिए फहरा रही है

---

१. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०३ ।

२. जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवं तिवं वम्महु निअय-सर-खर-पत्थरि तिक्खेइ ।।
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १३ ।

३. चलेहिं चलन्तेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा बालि ।
तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ।। वही, पृ० ७३ ।

४. अंसु जले प्राइम्ब गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर ।
ते संमुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ।। ३ ।।
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१ ।

कि स्तन प्रदेश पर मदन निवास कर रहा है ।[1] नयनों का बाँकपन तो रसिको को और भी घायल करता है । कोई वयोवृद्ध दूती नायिका से कहती है हे बिटिया, मैंने तुमसे कहा था कि बाकी दृष्टि मत कर ।" क्योंकि वह नोकदार बर्छी की तरह हृदय मे पैठकर मारती है ।[2] कुछ मुक्तको में भ्रू-चक्र का भी चामत्कारिक चित्रण मिलता है । भ्रूचक्र पर चंग को सुशोभित मानकर कवि उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग करके कहता है मानो त्रिभुवन विजयी अनंग जनों को आज्ञा देता है ।

सूरदास तथा रीतिकालीन कवियो ने नेत्र की कटाक्छता तथा चुभन का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है । बिहारी की नायिका के नेत्र विषम तथा तीक्ष्ण बाण की तरह है जो अंग-अंग को विकल कर देते है ।[3] वास्तव मे नायिका के कटाक्ष जितने तीक्ष्ण है उतने तीक्ष्ण बाण कामदेव के निषंग मे नही हैं ।[4] नेत्रों को सजीव रूप में कल्पित करके गोपियाँ उनसे विद्रोह करने को तैयार दिखाई देती हैं तथा बार-बार नेत्रों को उलाहना देती है ।[5] इस तरह के चित्रणो मे पर्याप्त मौलिकता मिलती है । किन्तु किसी-किसी भाव में अद्भुत साम्य भी है। मतिराम ने अपभ्रंश के एक मुक्तक के भाव को आत्मसात करके तथा अन्य कामोद्दीपक अंगो एव भावो को एक ही दोहे मे समेट कर सुन्दर चित्र अकित किया है—

---

१ जं धण लोअण झसझय चल दीसहिं ।
मयणावासउ, तं थडगुड्डरि सई ।। हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन,
६।१६३।१६-६ ।

२. बिट्टिए मइ भणिय तुहु मा कुरु वंकी दिट्ठि ।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि ।।
हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण, ४।३३०।३

३. दृगन लगत बेधत हियो विकल करत अंग आन ।
ये तेरे सब ते विषम, ईछन तीछन बान ।। बिहारी सतसई ।

४. कवि मतिराम जैसे तीछन कटाक्ष तेरे
ऐसे कहाँ सर हैं अनंग के निषंग मे ।
सं० नगेन्द्र . रीतिशृंगार ५८ ।

५. सं० धीरेन्द्र वर्मा, सूर सागरसार—पद १५८; १६१,

भौंहनि संग चढायो कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह साथहि बढ्यो लोचन लाज उरोज ॥[1]

मुख :

नायिका के मुख वर्णन में चन्द्रमा के उपमान को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। किन्तु मुक्तकारों की दृष्टि में नायिका का मुख सौन्दर्य जो निष्कलुष है उसकी तुलना चन्द्रमा कैसे कर सकता है। वे चन्द्र जैसे उपमान को तीक्ष्ण धार वाले हथियार से छीलकर गौरी के मुख की समानता के उपयुक्त बनाना चाहते है।[2] चन्द्रमा नायिका के मुख से पराजित होकर कभी-कभी बादलो मे छिप जाता है। यह स्वाभाविक ही है कि कोई भी पराजय प्राप्त शरीर वाला नि-शङ्क भाव से कैसे घूम सकता है।[3] यही नहीं कंचन काति के प्रकाश वाला कर्णिकार तो प्रिया के मुख से पराजित होकर बन की सेवा करने लगा है।[4] कमल मुख के उपमान के लिए उपयुक्त था किन्तु ब्रह्मा ने उसे कीचड़ में फेंक दिया।[5] कवियों ने नायिका के मुख सौन्दर्य की अद्वितीयता निरूपित करने के लिए सारे उपमानों की हीनता सिद्ध कर दी। मुग्धा नायिका अपने मुख की किरणों से अपना हाथ देख लेती है परन्तु उसका मुख पूर्ण शशि मण्डल की तरह है तो वह दूर तक क्यों नही देख सकती ?[6] यह कवियो की दूरारूढ़

---

१ सतसई संग्रह, मतिराम सतसई, १२३।७८

२. जिवं तिवं तिक्खालेवि कर जइ ससि छोलिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुहकमलु सरसिम कावि लहन्तु ॥
हेम० : प्राकृत व्याकरण, ४।३९५।१

३. ओ गोरी मुह निज्जिअइ बद्दलि लुक्कु मयकु।
अन्नुवि जो परिहविय तणु सो किवं भवइ निसंकु ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५३।

४. उअ कणिआरु पफुल्लिअइ कंचण कंति पयासु।
गोरी वयण विणिज्जअउ जं सेवइ वनवासु ॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३९६।५

५. हेमचन्द्र : छन्दोनुऽशासन, २०'१, पृ० २००।

६. निअ मुँह करिहि विमुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ।
ससि मण्डल चन्दमिए, पुणु काइं न दूरं देक्खइ ॥
हेमचन्द्र: प्राकृत-व्याकरण, ४।३४९।१

कल्पना का एक श्रेष्ठ दृष्टान्त है। प्रतीप तथा व्यतिरेक अलंकार द्वारा मुख को चन्द्रमा कमल आदि उपमानों से श्रेष्ठ चित्रित करने की परंपरा संस्कृत-प्राकृत में ही चली आ रही है। अपभ्रंश के मुक्तककारों ने उक्ति चमत्कार का सहारा लेकर अनेक तर्कों तथा कारणों की सृष्टि की। इससे सौन्दर्य चित्रण में एक नया मोड़ आया। मतिराम की एक कविता है जिसमें चन्द्रमा को नायिका के मुख की समता करने के कारण चोर की तरह दण्ड दिया गया है। ब्रह्मा क्रुद्ध होकर चन्द्रमा के मुख में कालिख लगाकर राती-दिन अमरालय के आस-पास घुमाया करता है।

> मतिराम कहै निसिचर चोरै जानि यह
> दीनी है सजाय कमलासन रिसाय कै
> रातौ दिन फेरै अमरालय के आसपास
> मुख में कलंक मिस कारिख लगाय कै।[1]

अपभ्रंश के दोहों में इस तरह के दण्ड का वर्णन मिलता है। किन्तु वहाँ दण्ड का भोगी कमल है चन्द्र नहीं। दण्ड देनेवाला ब्रह्मा ही है तथा अपराध भी समान ही है नायिका के मुख सौन्दर्य की समता ग्रहण करने का दुस्साहस। रसलीन ने चन्द्र कलंक के संबंध में एक नयी कल्पना की। उन्होंने कहा कि न तो यह मृगांक है न भू अंक, न कलंक। बल्कि यह चन्द्रमा नायिका के मुख से हारकर अपने शिर को घिस कर काला कर डाला है।[2] अपभ्रंश मुक्तक में यही चन्द्रमा नायिका के मुख से हारकर बादलों में छिपता है। रसलीन की कल्पना में न तो कारण सत्य है न कार्य किन्तु अपभ्रंश कवि सत्य कार्य के लिए असत्य कारण की कल्पना करता है।

स्तन

स्तन की कठोरता तथा उत्तुंगता का चित्रण अपभ्रंश और रीति मुक्तकों में समान रूप से मिलता है। स्तन नायिका के हृदय को फोड़कर बाहर निकले हैं। उनकी यह निर्दय कठोरता अपूर्व है क्योंकि जो अपना ही हृदय फोड़ देता है उससे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह पराए हृदय को फोड़ने में घृणा करेगा। इसलिए रसिकों को सावधान करता हुआ कवि कहता है कि

---

१. सं० कृष्ण बिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली—पृ० १०६।

२. अंग दर्पण, पृ० १३, छन्द ६।

अब दृष्टि संवरण करो इस बाला के विषम स्तन पैदा हो गये हैं।[1] चित्रण को इतना दुरूह कल्पना पर आधारित कर दिया गया है कि सौन्दर्य का उन्मेष नही होता किन्तु व्यग्य रूप मे इसे प्रभावात्मक भी कहा जा सकता है। स्तन शृंगारिक भावो को जागृत करने मे सर्वाधिक समर्थ माने जाते है। स्तन की निर्दयता उसकी अत्यधिक कठोरता ही है। कठोरता स्तनो के सौन्दर्य की कसौटी है। स्तन इतने उत्तुंग हो गये है कि लाभ की जगह हानि होने लगी। इसके कारण प्रियतम बड़ी देर से अधरों तक पहुँच पाता है।[2] मतिराम ने स्तनो की कठोरता का चित्रण किंचित् भिन्न रूप में किया है जो उतना सुन्दर नहीं बन पड़ा। प्रियतम प्रिया के चरणों पर गिर गया तो भी नायिका ने उसकी ओर नही देखा। मतिराम ने निष्कर्ष निकाल लिया कि नायिका के स्तन कठोर हैं तो उर भी कठोर होगे।[3] अपभ्रंश मे उक्ति चमत्कार तो है पर एक अभिनव भंगिमा के साथ सहज और ढके-छुपे ढंग से उरोजो का वर्णन हुआ है किन्तु रीतिकाल मे स्तनों के सभी गुणों का वर्णन प्रचुर काव्य शक्ति खर्च करके किया गया है।[4] उरोजों को श्रीफल, कनक-कलश आदि तो कहा ही गया उसे पर्वत का भी रूप प्रदान किया गया।

कटि

कृश कटि सुन्दरी नायिका का लक्षण माना जाता है। इसी आधार पर मुक्तककारो ने कटि की क्षीणता तथा कृशता का ऐसा चित्रण किया कि अदृष्ट ब्रह्म की तरह वह भी अदृश्य हो गयी। कटि की कृशता का चित्रण संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी रीति मुक्तको मे बराबर सजगता से किया गया

---

१. फोडेन्ति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराइ कवण घृण।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पण बालहे जाआ विसम थण ॥२॥
हेम० : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १७।

२. अइत्तुंगत्तणु जं थणइ सो छेयउ न हु लाहु।
सहि जइ केवंइ तुडि वसेण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ४७।

३. प्रान पियारी पग पर्‌यो तू न लखति इह ओर।
ऐसो उरज कठोर तौ उचितै उर जु कठोर ॥
मतिराम सतसई, दोहा ११८

४. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०६।

किन्तु समयानुसार चमत्कार की प्रधानता होती गयी। रीतिकाल में उर्दू काव्य की होड़ में यह चमत्कार बिलकुल मजाक बन गया। अपभ्रंश मुक्तककारों का कटि चित्रण बहुत कुछ स्वाभाविक तथा सौन्दर्यमूलक है। नायक के हाथ से अपना चीराचल छुड़ाकर जब नायिका गमन करना चाहती है तो नायक कहता है मनस्विनी प्रसाद करके सुनो तुम औत्सुक्य बस मत जाओ। यदि कहीं संयोग से पैर स्खलित हो गया तो अत्यन्त क्षीण कटि कहीं टूट न जाय।[1] पैर के स्खलित होने पर कमर टूट जाना कोई अस्वाभाविक चित्रण नहीं है। अन्यत्र कवि कहता है कि नायिका की शरीर कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) है। इसलिए वहाँ मध्यदेश (अयोध्या) आदि कैसे संभव है। कवि ने यहाँ मध्यदेश का श्लिष्ट प्रयोग किया जिसका अर्थ कटि प्रदेश है।[2] अंगों का यह चमत्कारमूलक चित्रण रीति कवियों में और भी चमत्कार मूलक बन गया। अपभ्रंश के कवि को तो मध्यदेश की स्थिति से सिर्फ आश्चर्य हुआ किन्तु उसने कटि की अस्तित्व हीनता नहीं स्वीकारी। रीति कवि की जान में तो कमर केवल लोनाई की लपेट मात्र है। जिस तरह भूमि और अम्बर के बीच में कोई खम्भा नहीं है। उसी तरह लोल लोचनी नायिका के अंक में कमर नहीं है।[3] यदि है भी तो ब्रह्म की तरह अदृष्ट है।[4]

अंग समष्टि का चित्रण

श्रृंगारिक भावों को उद्बुद्ध करनेवाले अंगों का अलग-अलग चित्रण करने के साथ-साथ मुक्तक कवियों ने अंग समष्टि का भी चित्रण किया है। यह चित्रण भी चमत्कारिक तथा प्रभावोत्पादक दोनों तरह का है। वास्तव में ये दोनों स्थितियाँ मिली जुली ही परिलक्षित होती हैं। अंग समष्टि के चित्रण के बिना नायिका का कोई रूप-चित्र बनता ही नहीं। सौन्दर्यानुभूति कराने के लिए समस्त अंगों या प्रमुख अंगों का चित्र खीचना आवश्यक है। अब देखिये

---

१. जइ किवइ वि सचहु पयजुयलु इहु विहिवसिण विहट्टइ।
ता तुज्झ मज्झु खीणउ खरउ कि न खामो अर तुट्टइ।।
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ४।८७।

२. कुसुम पुर पच्चक्खु वि सुंदरि तुज्झ देहु।
तुहु बरु मज्झदेसु वहसि विवरीउ एंहु।।५।६. १

३. मनोज मंजार-चतुर्थ कलिका, पृ० ७।

४. सुख सागर तरंग, पृ० ३६१।

कि अपभ्रंश कवि किस तरह की नायिका का चित्र प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम कवि सजग कर देता है कि नायिका अपने विशिष्ट अंगो के विशिष्ट गुणों के कारण सामान्य नायिका से भिन्न है क्योंकि नायिका की वे बड़ी-बडी आँखें असामान्य है, दोनो भुजाएँ कुछ और ही है, और असाधारण है वह पृथुल स्तन भार। उसके केशकलाप भी अवर्ण्य ही है। गुण और सौन्दर्य निधि उस नितम्बिनी को जिसने बनाया वह विधि भी अन्य ही है।[१] यहाँ 'कुछ और' शब्द अनिश्चय बोधक होने के कारण अन्वेषण की उत्सुकता जागृत करता है। अन्यत्र कवि परम्परित उपमानो के माध्यम से नायिका के अंगों को उपमित करता है। उसकी भ्रूवल्ली कामदेव के मुख कमल के, अंग चामीकर की प्रभा के, नेत्र नवीन कमल दल के और दन्त पंक्तियाँ हीरे की पंक्ति के समान हैं। अधर विद्रुम के तुल्य हैं। नायिका का यह रूप अत्यधिक प्रभावशाली है[३] उसे देखते ही पुरुष का मन विकल हो जाता है। ऐसी नायिका के निर्माण के लिए प्रजापति को भी शिक्षा लेने की जरूरत पड़ती है।[२] बसत बड़ी मादक तथा कामोद्दीपक ऋतु होती है। नायिका उससे किसी भी माने म कम नहीं है। उसके हाथ अशोक दल, मुख कमल और हँसी नवमल्लिका के तुल्य है। मोहने मे निपुण यह कामिनी अभिनव बसन्त श्री है।[४] नायिका को बसन्त का रूपक देना अपभ्रंश कवियो की मौलिकता जान पडती है। कवि को इतने मे ही सन्तोष नहीं हुआ। वह नायिका के अलग-अलग अंगों को चित्रित करके उसके अंग समाष्टि के प्रभाव को चमत्कारिक रूप से व्यक्त करता है। वह नायिका को स्वयं कामदेव की मल्लिका मानता है।[५] यही नही, वह विष की गांठ है जो

---

१. अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु त भुअ जुअल।
अन्नु सु घण थण हारु त अन्नु जि मुह कमलु ॥
अन्नु जि केस कलावु सु अन्न जि प्राउ-विहि।
जेण णिअम्बिणि घडिअ स गुण-लायण्ण-णिहि ॥१॥

हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६०।

२. छन्दोऽनुशासन ५।१२. १

३. जइ सो घडदि प्रियावदी केत्थु विलेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थु वितेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥

हेमचन्द्र : अपभ्रश व्याकरण, पृ० ५३।

४ हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन ६ २० ३१

५ वही ६ २० ५०

अपना अद्भुत प्रभाव डालती है। जिसके कण्ठ यह नहीं लगती वह भट भी पाश्चाताप से मर जाता है और चंचल नेत्रों की छाया जिसके ऊपर पड़ जाती है उसे असमय काम आक्रांत कर लेता है :—

साव सलोणी गोरडी नक्खी कवि विस गंठि ।
भड पच्चलिओ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥
चलेहिं चलंतेहि लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा बालि ।
तहिं मयरद्धय-दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥

विरह वर्णन :

अपभ्रंश मुक्तककारों ने संयोग वर्णन की अपेक्षा वियोग वर्णन में अधिक तल्लीनता तथा कला प्रदर्शित की है। नायक से वियुक्त हो जाने पर नायिका को अत्यधिक पीड़ा होती है। यह लोक सत्य तथा काव्य सत्य दोनों है। परंतु मुक्तक कवियों ने अनेक प्रसंगों की कल्पना करके नायिका की कोमल शरीर तथा रूप यौवन पर विरह के अतिरंजित प्रभाव की ऊहा की। इस तरह की प्रवृत्ति मुक्तककारों की चमत्कार-प्रियता तथा उक्ति-वैचित्र्य का ही परिणाम है। काव्य में कितने ही सुन्दर वर्ण हो, चाहे उसमें दोष का अंश न हो किन्तु जब तक उसमें बहुमूल्य मणि के समान कोई चमत्कारोत्पादक शब्द न होगा तब तक वह किसी के मन को उसी प्रकार आकर्षित नहीं कर सकेगा जिस प्रकार अंगनाओं का यौवन लावण्यहीन होने पर किसी को आकृष्ट नहीं कर पाता।[1]

मुक्तककारों ने विरह जनित शारीरिक कृशता तथा ताप की अधिकता के चित्रण में ऊहात्मक पद्धति अपनायी है। नायक के वियोग के कारण नायिका की बाहें बहुत कृश हो गयी हैं। हाथ को नीचे करके चलते समय वलयावली के गिर जाने की शंका है। अतः वह हाथ ऊपर करके चलती है। मानो वह विरह रूपी महोदधि का थाह ले रही है।[2] विरह ज्वर से पीड़ित नायिका का प्रश्वास अत्यधिक संतप्त हो गया है। ऊष्ण श्वास की ज्वाला से कपोलों पर

---

१. कंठाभरण-क्षेमेन्द्र उद्धृत रामसागर त्रिपाठी : विहारी मीमांसा, पृ० २२२।

२. वलयावलि निवडण—भएँण धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥२॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।

रखने से नायिका की चूड़ियाँ चूर-चूर हो जाती है।[१] 'संदेशरासक' की नायिका अंगो के दहन के भय से उच्छ्वास ही नहीं छोड़ती।[२] विरह की निरपेक्ष चपेटो से विरहिणी की देह टूट गयी है। हृदय मे संस्थित विरह की अग्नि मदन समीर से धौंकी जाकर और भी दाहक हो गयी है। उसने सदैव बेचैनी का क्षार क्षिप्त होता रहता है। इस विकट स्थिति मे प्रिय-मिलन की आशा से स्वरारोह बढ़ता रहता है।[३] प्रेम की सच्चाई तथा प्रेमास्पद से संयोग की अभिलाषा कितनी प्रगाढ़ है कि नायिका ऐसी परिस्थितियों में भी सजीव रहती है। जबकि सामान्यतः ये सब मरण की स्थितियाँ है। कवि का दावा है कि विरहिणी नायिका के तप्त वाष्पौघ जल (आँसू) स्तनों के बीच नहीं गिरे। कपोल पर ही छिम-छिम करके फिर सिम-सिम करते सूख गये।[४]

नायिका को खतरनाक हालत से बचाने के लिए स्नेही जन शीतलता उत्पादक उपचार करने लगते है। किन्तु इन उपचारो की क्या परिणति होती है वह भी दर्शनीय है। मुग्धा के कपोलों पर चूड़क रखने पर वह श्वास वायु से निदग्ध तथा वाष्प सलिल से सिक्त होकर चूर-चूर हो गया।[५] शीतलता के लिए हरि चंदन का लेप किया गया तो सर्पो द्वारा सेवित होने के कारण वह स्तनो को और भी तपाने लगा। इसके बाद विविध विलाप करती हुई जब नायिका ने हारलता तथा कुसुममाला धारण किया तो वे भी ज्वाला से उसे भयभीत करने लगे। शय्या पर सुख के लिए कमल दल बिछा दिये गये तो वे दुगुना उद्वेग

---

१. चूडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल जाल-झलक्किअउ बाह-सलिल-संसित्तउ ॥४॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ४६।

२. ऊसासडउ न मिल्हिवउं दज्झण अंग भएण।
जिम हउं मुक्की वल्लहइ तिम सो मुक्कि जमेण ॥७३॥
अद्दहमाण : संदेशरासक। प्रक्रम २, पृ० १६२।

३. मयण समीर विहुय विरहाणलदिद्ठि फुलिंग णिब्भरो।
दुसह फुरंत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल, दुद्धरो ॥
+ + +
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह बड्ढए। वही, पृ० १७४।

४. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन। ६।२१०।२२.४।

५. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।२०६ २२ ३।

उत्पन्न करने लगे।[1] तरह-तरह के उपचारों को निरर्थक सिद्ध करने के लिए जो दूरारूढ़ कल्पनायें हुई है उनके मूल में यही भाव प्रेरणा क्रियाशील जान पड़ती है कि प्रिय की विरहाग्नि प्रिय द्वारा ही बुझती है क्योंकि इसका वही मनोवैज्ञानिक उपचार है।

चन्द्रमा, कोयल, चातक, मलयानिल, कमलवन, लतायें संयोगावस्था मे सुखों की अभिवृद्धि करते है, किन्तु वियोगावस्था में दुःखों के कारण बन जाते हैं। इस समय अमृत चन्द्र किरणें भी ऊष्ण हो जाती है। चन्दन का पंक भी दुःसह हो जाता है। लतागृह जलने लगता है। मृदुल मलयसमीर अंगो पर विष-कन्दली के समान लगता है। अभिनव पल्लव, कलकंठी की ध्वनि सभी विषवत् हो जाते है। निशाकर मत्तमातङ्ग के विजृम्भित की तरह असमय भय उत्पन्न करता है।[2] नायिका की विरह दशा का चित्रण षड्ऋतुओं की पृष्ठभूमि मे करने की परिपाटी संस्कृत तथा प्राकृत काल से प्रचलित थी। अपभ्रंश के मुक्तक कवि भी इस परंपरा से विच्छिन्न नहीं है। 'संदेशरासक' मे विरहिणी की दशाओं का चित्रण ग्रीष्म से शुरू होता है। ग्रीष्म ऋतु मे व्योम तल मे जो अग्नि उष्ण प्रभंजन बहता है वह झंखर विरहिणियों के अंगो को संस्पर्शित करके जला डालता है। ग्रीष्म की अग्नि पावस के जलधार से बुझ जाती है किन्तु नायिका के हृदय की विरहाग्नि, पूर्ववत् जलती रहती है।[3] पावस मे घनो का शब्द असह्य हो जाता है। चचल विद्युत्मालिका मेघ रूपी राक्षस की दीर्घ कराल जीभ की तरह विस्फुरित होने लगती है। ऐसी स्थिति में विरहिणी कैसे जी सकती है। पावस के बाद शरद आता है। इससे नायिका की स्वाभाविक स्थितियो का चित्रण हुआ है। हेमंत बसत शिशिर का भी चित्रण किया गया किन्तु इसमे से बसत ही ऊहात्मक पद्धति के अन्तर्गत वर्णित है। वसन्त समस्त ऋतुओ मे सर्वाधिक कामोद्दीपक ऋतु मानी जाती है। मत्त मधुकरियों के लगातार झंकार से तथा कामदेव के धनुष के झंकार की तरह कलकंठी की कलकल ध्वनि से विरहिणियाँ कैसे जिएं जिनके पति दूर देश प्रवास ले लिये हैं।

उपर्युक्त चित्रणों मे किसी न किसी सीमा तक सहृदयता तथा रसार्द्रता अवश्य परिलक्षित होती है किन्तु अपभ्रंश मुक्तककारों ने बाजी मारने के प्रयास

---

१. अद्दहमाण : संदेश रासक, छं० १३५, १३७, पृ० १७८।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७। २२६। ५५. १।

३. अद्दहमाण : संदेशरासक, पृ० १८२।

मे भी कोई कोर कसर नही रखी । मुग्धा नायिका ने कोयल के पचम स्वरो से भयभीत होकर कुछ नही कहा क्योकि वह भी कोयल-वयना है । कवि इस उपमा से भी उसकी रक्षा करता है और उसे कलहंस स्वरों वाली कहता है ।[1] रीतिकाल के कतिपय कवि वियोग वर्णन के अन्तर्गत इस ऊहात्मक पद्धति से प्रभावित हुए । शायद ही ऐसा कोई कवि हो जिसमे ऊहा न मिलती हो । रीतिकालीन शृंगारिक चित्रण फ़ारसी काव्य से भी अधिक प्रभावित हुआ . प्रत्येक कवि मे कोई न कोई अनूठी तथा अपूर्व उक्ति ढूँढ़ निकालने का सायास प्रयत्न देखा जाता है । ऐसी उक्तियों मे गभीरता, सहृदयता तथा संवेदना की खोज करना व्यर्थ है । इसमें तो यही देखना है कि किस कवि ने कितना कमाल दिखाया है ।

अपभ्रंश की अतिरंजनापूर्ण ऊहात्मकता की प्रवृत्ति रीति कवियों मे भी परिलक्षित होती है । अपभ्रंश नायिका का ताप इतना अधिक था कि इससे चूड़ी चूर्ण हो जाने की सभावना थी किन्तु रीतिकालीन विरहिणी के छूते ही थाल और नारियल तक चटक कर टूटने लगे । जबकि अभी प्रियतम परदेश जाने के लिए ज्योतिषी से शुभ मुहूर्त्त ही पूछ रहा है ।[2]

बिहारी की नायिका के संतप्त श्वास तथा विरह ताप की उष्णता से माघ मास से भी लू चलती है ।[3] बिहारी के एक अन्य दोहे पर अपभ्रश दोहे की स्पष्ट छाप है । आँसू का चित्रण दोनो मे किया गया है किन्तु अपभ्रश के कवि ने उसे कपोलों पर सिम सिम करके उड़ जाने की चर्चा की तो बिहारी ने स्तनो पर से छन-छन करके छिप जाने का चित्रण किया ।[4]

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ८७, ४१५ ।

२. थार गयो चटकि पटक नारियर गयो
मुद्रा औटि चाँदी भई विरह की आंच तें ।।
मन्नालाल द्विज : शृगार सुधाकर, पृ० २३४, छं०सं० २३० ।

३. सुनत पथिक मुंह माह निस लुवै चलत वहि गाम ।
बिन बूझे बिनही कहे जियत बिचारी वाम ।।
बिहारी बोधिनी, दोहा ४६८, पृ० २२५ ।

४. पलनु प्रगति, बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात ।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छन छनाइ छिपि जात ।।६५६
बिहारी ।

संस्कृत साहित्य में भी इस तरह की पर्याप्त उक्तियाँ मिलती हैं। किन्तु अपभ्रंश मुक्तकों जैसी विविधता नहीं है। इन मुक्तककारों पर फ़ारसी परम्परा मात्र का प्रभाव मानना भी तर्क संगत नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि तत्कालीन फ़ारसी के ऊहात्मक पद्धति के विरह वर्णन की प्रतियोगिता में रीति कवियों ने भारतीय (अपभ्रंश) काव्य की परंपरा को अपनाकर कुछ अपनी मौलिकता से कुछ फारसी काव्य से भी आगे बढ जाने की अभिलाषा से ऊहाओं को और भी काल्पनिक तथा अतिरंजित कर दिया।

देव ने क्षीण नायिका को इतना दुर्बल चित्रित किया कि वह सोने की छपी हुई बेलि जैसी लगती है किन्तु अभी उसका अस्तित्व तो था ही। पर मतिराम ने एक कदम और आगे बढ़ कर उसे इतना सूक्ष्म बना दिया कि वह अदृश्य हो गयी। अब उसकी उपस्थिति का अन्दाज़ केवल अंगो से निकलने वाली आच से ही लग सकता है।[1] विरह के बीच प्रियतम द्वारा दी गयी अवधि भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। मध्यकालीन मुग्धा नायिकायें जो साक्षर नहीं थी इस अवधि की परिगणना ऊंगलियों के आधार पर करती थीं। इसका चित्रण करते हुए कवि कहता है कि प्रवास के समय प्रियतम द्वारा अवधि के जितने दिन दिये गये थे गिनते गिनते विरहिणी नायिका की उंगलियाँ जर्जरित हो गयी। अपभ्रंश के कवि ने उसे यों चित्रित किया :—

जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण।
तारागणन्तिए अंगुलिउ जज्जरि आउ नहेण॥[2]

ठाकुर की विरहिणी का कथन है कि अंगुलियों मे घाव हो गये हैं अत अवधि के दिनों को कैसे गिनूं।[3]

स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण :

अपभ्रंश के मुक्तक कवियों ने कही-कही चमत्कारपूर्ण चित्रणों से भी प्रेम की मार्मिक व्यंजना की है। विरह-विधुरा नायिका की आँखो से निरन्तर आंसू गिरते रहते हैं। उसका विस्तर पल्लव कल्पित होने के कारण बसंत की तरह

१. देखि परै नहि दूबरी, सुनियो स्याम सुजान।
जान परै परजंक मैं, अंग आंच अनुमान॥ सं० कृष्ण विहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली, पृ० ८६, छन्दसं० ४२३

२. हेमचन्द्र : प्राकृत-व्याकरण ४।४३३।१

३. सं० लाला भगवानदीन, ठाकुर ठसक-पृ० १७, छन्द सं० ६८।

या माघ की रात की तरह ठण्डा हो गया है। गाल पीले पड़ गये है। उसका शरीर जल रहा है जैसे मार्गशीर्ष में तिलवन का उच्छेद किया जाता है। शिशिर के कमल के समान उसका मुख हतश्री हो गया है।[1] इस उदाहरण में अन्तिम चित्र अधिक मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक है।

किसी प्रिय जन के आगमन की प्रतीक्षा मे प्रेमिका मार्ग निहारती रहती है। उस मार्ग की तरफ वह इतना तल्लीनता से देखती है कि उसे अन्य चीजों का ध्यान ही नही रहता। वह कुसुम, चन्दन आदि सब कुछ त्याग देती है।[2] वह अत्यधिक खीझकर प्रियतम को बुरा भला भी कहती है। किन्तु हर स्थिति मे वह प्रियतम की प्रिया ही बनी रहती है। नायिका अपने प्रियतम को कापालिक कहती है क्योंकि वह स्वयं भी तो उसके विरह मे कापालिनी बन गयी है।[3]

डाक-तार की व्यवस्था न होने के कारण प्रवासी नायक या नायिका को किसी पथिक या दूत द्वारा संदेश-प्रेषण बहुत स्वाभाविक घटना थी। इस तथ्य को लेकर मुक्तककारों ने अनेक उक्तिवैचित्र्यपूर्ण मार्मिक उद्‌भावनाये की। विरहिणी नायिका अपने सुभग को संदेश देते हुए लज्जित होती है क्योंकि प्रवास करते हुए प्रियतम के साथ वह क्यों चली नही गयी। यदि नही गयी तो उसका प्रेम उतना गहरा नही है अन्यथा वियोग होते ही उसे मर जाना था।[4]

---

१. एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ॥
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्गसिस।
तहे मुद्धहे मुह पक्कइ आवासिउ सिसिरू॥ २॥
हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २२।

२. मालइ कुसुम न लेइ चंदणु चयइ।
तुह दसणउम्माही, मग्गु जि निअइ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन
६।२०२।२०.१४

३. तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्‌ठियउ,
तहि खणि खुवइ कवालु न वामकरट्‌ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय॥ ८६॥
अद्दहमाण : संदेश रासक, १६५-६६

४. जउ पवसन्ते सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिं सुहय जणस्सु॥२॥
हेमचन्द्र अपभ्रंश व्याकरण पृ० ६६।

अत्यधिक पीड़ा में जीवन स्पृहा भी नष्ट हो जाती है। दुःख का उमड़ता हुआ पारावार नायिका के हृदय में समाता नहीं। वह कहती है, हे हृदय तू फट जा। देखें कि मेरा दुर्भाग्य तेरे बिना सैकड़ो दुखो कों कहाँ रखता है। हृदय का फटना तथा सैकडो दुःख दोनो का प्रयोग मुहावरे के रूप में भी होता है।[1]

मान प्रसंग .

अपभ्रंश मुक्तको में शृंगार का स्वस्थ तथा पारिवारिक रूप मिलता है। इसलिए मान प्रसंग भी पारिवारिक ही है। मान धारण करना सभी नायिकाओं के लिए संभव नहीं है क्योंकि प्रियतम को देखते ही उनका हृदय विगलित हो जाता है। उस मुग्धा को अपनेपन का ही ख्याल नहीं रहता तो मान का ख्याल कौन करे।[2] प्रियतम के आगे मान करने का सौभाग्य भी सभी प्रियाओं को नही मिलता। अपभ्रंश की एक नायिका प्रिय के आगमन तथा रुष्ट होने और प्रिय के द्वारा मनाये जाने की कल्पना मात्र से आनन्दित होती है।[3] प्रिय यद्यपि विप्रियता का कारण बन गया है तो भी आग की तरह उसकी आवश्यकता बनी ही रहती है। यह है नायिका की नायक के प्रति एकनिष्ठता जो विप्रिय पति को भी त्यागने की कल्पना नहीं करती।[4] यद्यपि वह पति से रूठकर बैठी है पर सखी जब सदोष पति की निन्दा करती है तो उसे यह कहकर वर्जित करती है कि वह इस बात को एकात में बताये ताकि उसका पक्षपाती मन न सुन सके।[5] अपभ्रंश मुक्तककारो ने नायक के मान का भी

१. हिअडा फुट्टि तडत्ति करि काल खेवे काइं।
देक्खउं हय विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्ख समाइं॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २३।

२. अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुंधि चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लेहलेण को चेअइ अप्पाणु॥ २॥
हेमचन्द्र अपभ्रंश व्याकरण।

३. एसी पिउ रुसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ॥ वही, पृ० ६१।

४. विप्पिअ आरअ जइवि पिउ तोवि त आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु॥४॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, २।३४३।४।

५. भण सहि निहुअउ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेवँ न जावइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६४।

चित्रण किया है। नायक मान किये बैठा है। कोई दूती या सखी उससे कहती है कि हे दुल्हा, तुझे बरजा कि दीर्घ मान मत कर अन्यथा नींद ही नींद मे रात बीत जायेगी, झटपट विहान हो जायेगा।[1] मान करनेवाली नायिकायें भी कई तरह की हैं—कुछ तो मान को स्वाभिमान से संयुक्त करके आन्तरिक इच्छा के बावजूद मान तोडना नही चाहती है।[2] ऐसी एक मनस्विनी नायिका के चरणो पर पति गिर गया है तब भी उसके चित्त मे मान विसर्पण कर रहा है। उसका शरीर कोप से आरक्त है। मनस्विनी तथा मान-गर्विता नायिका के लिए मादक ऋतुएँ बड़ी खतरनाक होती है। बसन्त जैसी मादक ऋतु में मान धारण करना मुश्किल हो जाता है। कुछ सखियाँ तो मान को किसी भी अवस्था मे उचित नहीं मानतीं क्योंकि अविघट परस्पर प्ररूढ़ गुण ग्रंथि से निबद्ध अतिचार से सरलता से लब्ध प्रेम गलने लगता है। इसलिए उत्तम रमणी के लिए मान का भार उचित नहीं है। हस्त गामिनियों को कलह करने पर भी प्रणत मुख पति के मुख की इच्छा करनी चाहिए। यही नही बलपूर्वक क्रीड़ा करना भी उचित है। विप्रिय होते हुए भी अग्नि की तरह प्रिय की उपयोगिता का चित्रण विद्यापति ने भी किया है—

> जइसे डगमग नलिनि का नीर तइसे डगमग धनि क शरीर।
> भन विद्यापति सुनु कबिराज, आगि जारि पुनि आगि क काज॥[3]

अपभ्रंश की नायिका की तरह बिहारी की नायिका को सखियाँ मान की विधि समझा रही है इतने मे नायिका उन्हे इशारो से वर्जित करती है कि वे धीरे-धीरे बात करे क्योंकि उसके हृदय में विहारीलाल सदा निवास करते हैं।[4] प्रिय दर्शन मे उत्पन्न बौद्धिक विगलन की मजबूरी का अनुभव रीति

१. ढोल्ला मई तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु॥२॥
हेम० : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २

२. किं अज्ज वि माणासिणिमाणसि माणु विसट्टइ माणइ न
इअ संजाइण कोविण णावइ आरत्तयतणु पयाणउ रमणु
अहिणवउग्गमि हिमकिरणु॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ४८.१,

३. विद्यापति पदावली, ४७।१०६।

४. सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजत बाल।
हुएँ कहि मोहिय बसत, सदा बिहारी लाल॥
७१३।

नायिका भी करती है। सखियाँ कहती हैं और वह खुद भी समझती है परन्तु नायक को देखते ही उसका मन अपना रह ही नहीं जाता तो मान कहाँ धारण किया जाय।[१] बसन्त, पावस आदि मादक ऋतुओं में मान करने की कठिनाई का चित्रण रीति कवियों ने अनेक स्थलो पर किया है। सूरसागर में भी इस तरह के अनेक चित्रण मिलते है। प्रकृति के विशाल प्रागण मे लताओं तथा तरुवरो के मिलन का चित्रण करती हुई सखियाँ नायिका से कहती हैं कि यह ऋतु रूठने योग्य नहीं है।[२] फिर वे घोर घटाओं की उमडन तथा बड़ी-बड़ी बूँदो वाली वर्षा के आगमन की चर्चा करके राधा को मान की दुष्करता का आभास देती हैं।[3]

प्रिय के पास पहुँचने का उपक्रम :

प्रवासी प्रिय से मिलने के लिए विरहिणियाँ अनेक उपाय करती हैं। संदेश-प्रेषण, पत्र-प्रेषण, पत्र-प्रेषण के साथ वे मानसिक पहुँच भी करती हैं। इस मानसिक गमन का चित्रण अपभ्रंश कवियों ने बडी मार्मिकता से किया है। नायिका कहती है 'हे मन उस देश मे जाओ जहाँ प्रिय का प्रमाण उपलब्ध हो। यदि आता है तो उसे लाओ और यदि नही आता तो वही निर्वाण प्राप्त कर लो।'[४] इतना कडा आदेश देकर मन भेजा गया। नायिका को ज्ञात था कि वह प्रिय को लाकर उसे सन्तोष देगा। परिस्थिति और भी मार्मिक हो

---

१. तूँहूँ कहति हौं आपुहूँ समझत सबै समान।
लखि मोहन जो मन रहै, तौ मन राखौ मान ॥ ४५८ ॥

बिहारी बोधिनी, पृ० १६४।

२. यह ऋतु रुसिबे की नाही।
बरसत मेघ मेदिनी कै हित प्रीतम हरषि मिलाही ॥

सूरसागर, पृ० १०६४ पद ३३६४।

३ घोर घटा उमड़ी चहुँ ओर ते ऐसे मे मान न कीजै अयानी।
तू तो बिलंबति है बिन काज बड़े-बडे बूँदन आवत पानी ॥

सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर-सीताराम उद्धृत-रीति कवियो की मौलिक देन, पृ० ४३१

४. जाइज्जइ तहिं देसडउ लब्भइ पिय हो पमाणु।
जइ आवइ तो आणियउ अहवा तं जि निवाणु ॥

हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।४१९।२

गयी जब मन भी धोखेबाज निकल गया । 'संदेश-रासक' मे ऐसे ही धोखा देने वाले मन का चित्रण किया गया है । नायिका बेचारी अब बैठकर पाश्चाताप कर रही है । उसने घना दुख सहकर विचारपूर्वक मनोदूत भेजा था । प्रिय नही आया मनोदूत भी वहीं रत हो गया । इस तरह शून्य हृदय वह भरमती हुई रात व्यतीत करती रही । यहाँ तो वही हाल है कि खच्चरी सींगों के लिए गई और कान भी गंवा आयी । फिर वह प्रियतम को भी अन्यायी समझती है जिसने दूत भी पकड़ लिया ।[१] 'ढोला मारूरा-दूहा' की नायिका घोड़े पर सवार होकर जाने की इच्छा व्यक्त करती है[२] और विद्यापति की नायिका सखियो से प्रियतम के देश को पूछती है और योगिनी का वेष धारण करके जाना चाहती है ।[३] कभी मन प्रियतम के साथ संयुक्त हो जाता है साथ मे छाया लगी रहती है । प्रिया का मन प्रियतम के जी मे बसने लगता है परन्तु प्रिय का ध्यान भी प्रियतमा की ओर नही खिचता । इस तरह की अनन्यता मे मन को दूत बनाकर प्रिय के पास भेजना मुश्किल होता है क्योंकि वह अपना साथ ही छोड़ चुका होता है । सूरदास अपने एक पद मे इस भाव को व्यक्त करते हैं—

माई मेरौ मन पिय सौं यौं लाग्यौ
ज्यौं संग लागी छाँहि ।
मेरौ मन पिय जीव बसत हैं,
पिय जिय मो मै नाहिं ।।[४]

---

१. मइ जाणिउ पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ,
णहु मुणिअउ खलु धिट्ठ सोवि मडु मिल्हिहइ ।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थवि रहिउ,
सव्व हियउ महु दुक्खि भरिउ पूरिउ अहिउ ।। १९७ ।।
अद्दहमाण : सदेशरासक-१९३-१९४, छं० १९९ ।

२. जइ तूँ ढोला नावियउ कइ फागुण कइ चेति ।
तउ में घोड़ा बाधिस्या काती कुडियाँ खेति ।।
ढोला मारुरा दूहा, १४६, १४५ ।

३. मास असाढ उनत नव मेघ प्रिय विसलेख रहओं निरथेघ ।
कौन पुरुष सखि कौन सो देस करन मोकं तहाँ जोगिन भेस ।।
विद्यापति पदावली ।

४ स० धीरेन्द्र वर्मा सूरसागर सार पृ० १०५

इस तरह हम देखते हैं कि प्रिय के पास मन को दूत रूप मे भेजकर मानसिक मिलन करने की चेष्टा अपभ्रंश तथा हिंदी मे समान रूप से पायी जाती है।

नायिकाओं का रूप :

अपभ्रंश मुक्तकों में अधिकतर पारिवारिक तथा स्वस्थ चित्रण के कारण स्वकीया नायिकाओ का ही वर्णन मिलता है। अपभ्रंश मुक्तककारों के लिए इस तरह का वर्णन आवश्यक भी था क्योंकि लोक जीवन में यौन सम्बन्धी स्वच्छन्दता सख्त रूप से वर्जित होती है। किन्तु मस्त और छलकता यौवन कभी-कभी सामाजिक बन्धनो को तोड़कर स्वेच्छाचार की ओर प्रवृत्त होता है। इस तरह सामाजिक वर्जनाओ के बावजूद नायक और नायिकाओं का लुका-छिपा प्रेम चला करता है। अपभ्रंश मुक्तककार इन तथ्यों से अनभिज्ञ नही थे। अतः स्वकीया के एकनिष्ठ प्रेम के साथ परकीयाओ का भी संकेत मिलता है। चन्द्र ग्रहण को देखकर असतियो ने हँसकर कहा कि प्रियजनो का विछोह करने वाले को हे राहु निगलो निगलो। ये असतियाँ परकीया ही है जो अपने प्रेमियो से मिलने के लिए अंधेरी रात की प्रतीक्षा मे है।[1] परकीया नायिका मे अनुरक्त पति को सम्बोधित करके स्वकीया कहती है कि हे दूल्हा ऐसा परिहास किस देश मे होता है। हे प्रिय मै तो तुम्हारे लिए क्षीण होती हूँ और तुम अन्य के लिए।[2]

भक्तिकाल में श्रीकृष्ण और गोपियों के आध्यात्मिक प्रेम चित्रण मे स्वकीया और परकीया का आदर्श बिलकुल क्षीण हो गया। रीति कवियो ने अपभ्रंश के इन परकीया संकेतो को अपने सामाजिक परिवेश में अपने ढंग से विकसित किया। भक्तिकाल मे चित्रित परकीया प्रेम के आदर्श को रीति कवियो ने लौकिक शृंगार के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया। रीतिकाल मे सैकडो दोहे ऐसे मिलते है जहाँ नायिका कभी अपनी पडोसिन के हाथ मे अपने प्रियतम द्वारा दिये गये गहनों को देखकर खीझती है कही नायक की लाल-लाल आँखो तथा अन्य रति-क्रीडा के चिह्नो को देखकर कुपित होती है।

---

१. जं दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसकुं।
पिअ माणुस विच्छोहगरु गिलि-गिलि राहु मयकु॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।३९६।१

२. ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण कवणिहिं देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।४२५।१

प्रेम के मध्यस्थ उपादान :

संयोग मान या वियोग की अवस्था मे प्रेमी और प्रेमिकाओं को एक दूसरे से मिलाने के लिए दूत रूप में दासी, छोटी जाति की स्त्रियों तथा सखियो का प्रयोग संस्कृत तथा प्राकृत आदि में बराबर होता आ रहा था किन्तु अपभ्रंश में दूती का प्रयोग अत्यन्त विरल है। वास्तव में लोकजीवन से उत्प्रेरित अपभ्रंश काव्य मे इसका कम प्रयोग स्वाभाविक भी है। फिर भी अपभ्रंश काव्य में उसका ग्रहण एक विशेष तथ्य की सूचना देता है। वह यह कि यहाँ से लोक भाषा के काव्यों में दूतियों का ग्रहण आरंभ हो जाता है।[१]

सखी :

नायक-नायिका के प्रणय व्यापार में सखियो की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश में सखियों द्वारा एक दूसरे की मन:स्थिति का संप्रेषण सर्वाधिक हुआ है। प्रणय तथा रमण के उपयुक्त ऋतु की सूचना प्रायः सखी ही देती है।[२]

अम्मीए :

अपभ्रंश मे प्रेम के मध्यस्थ के रूप मे 'अम्मीए' नाम की स्त्री का अत्यधिक उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने इसे अम्बिका का अपभ्रंश रूप मानकर माँ अनुवाद किया है। किन्तु 'अम्मीए' द्वारा व्यक्त अनेक उक्तियो पर ध्यान देने से सन्देह उत्पन्न होता है कि एक माँ अपनी बेटी को इस तरह कह सकती है। एक स्थल पर 'विट्टीए' को सम्बोधित करके कोई स्त्री उसे दृष्टिको वंकिम न करने की सलाह देती है क्योंकि उसकी दृष्टि नुकोले भाले की तरह रसिकों के हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है।[३] ऐसी उक्तियाँ भारतीय आचार तथा नैतिकता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। अत: श्री जितेन्द्र पाठक ने इसी आधार पर यह अनुमान लगाया कि यह अम्मा या अम्मडि जननी न होकर कोई अन्य वृद्धा नारी होगी जो दूतियो, सखियो, सन्यासिनियों में से कोई भी हो सकती है।[४]

---

१. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० ८४।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।१९, ५।

३. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।३९६।२

४ जितेन्द्र पाठक 'हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास पृ० ८६।

भक्ति-काव्य तथा रीति-काव्य मे मध्यस्थों के रूप मे सखी और दूती का अधिक प्रयोग मिलता है। 'अम्मीए' नामकी मध्यस्था यहाँ लुप्तप्राय है। रीति कवियो ने दूती का प्रयोग अधिक किया है। दरबारी संस्कृति तथा नागक मे विकसित लम्पटता इसका कारण माना जा सकता है। वचन-विदग्धा दूतियाँ ही इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त थी। कही-कही दूतियो के साथ भी नायक द्वारा रति-क्रीडा का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शील की रक्षा के लिए मध्यस्थता का कार्य समवयस्का सखियो के लिए कितना दुष्कर हो गया था। इसके साथ-साथ रीति कवियों ने परकीया नायिकाओं के प्रणय का चित्रण करके सौतिया डाह आदि के चित्रण में जितनी तल्लीनता दिखायी उतना मध्यगता सखियों का संवेदनात्मक तथा सहानुभूति-पूर्ण चित्रण नहीं किया।

प्रवास के लिए तैयार प्रिय :

विरह का दुःख जितना कष्टकारी होता है उसकी सभावना कम भयानक नही है। संस्कृत तथा प्राकृत मुक्तकों मे भी ऐसे पर्याप्त कारुणिक चित्रण मिलते है। प्रियतम परदेश जाने के लिए तैयार है। नायिक उसे रोकते-रोकते हार जाती है। फिर वह कहती है यदि वह जाता है तो जाने दो। देखूँ वह कितने पग देता है। हृदय में तो मैं तिरछी होकर पड़ी हुई हूँ। यह तो केवल जाने का आडम्बर है।[1] वैसे चाहे नायक हाथ छुड़ाकर चला ही जाय किन्तु हृदय से तो वह जा नहीं सकता।[2] अगर चला भी जायेगा तो नायक को छोड़ते हुए नायिका का मरण हो जायेगा और नायिका को छोडते हुए नायक का। दोनों के अलगाव की असम्भावना सारस के उदाहरण से सिद्ध की गयी है क्योंकि सारस के मिथुन में से जो अलग होता है वह कृतान्त का शिकार हो जाता है।[3]

हिन्दी मुक्तककारों मे सूरदास ने तो अपभ्रंश के एक दोहे का बिलकुल अनुवाद ही कर दिया है। अपभ्रंश का दोहा प्रवास के लिए तैयार पति के लिए है और सूरदास का दोहा आराध्य कृष्ण के प्रति। इससे अधिक दोनो में कोई अन्तर नही है। अपभ्रंश का दोहा इस प्रकार है :—

---

१. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६७।

२. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण—४।४२०।४

३. वही ४।४३६।३

बाँह बिछोडवि जाहि तुहु हउं तेवंइ को दोसु ।
हिअयट्ठिअ जइ नीसरइ जाडउ मुंज सरोसु ।।

सूरदास—बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि कै मोहिं ।
हिरदय ते जब जाहुगे सबल बदौंगे तोहिं ।।

रीतिकाल के कवि ने प्रवास करते हुए प्रियतम के लिए अवरोधक रूप प्रिया का चित्रण बाह्य संदर्भ मे किया किन्तु उसे बड़ा विराट रूप प्रदान करके आन्तरिक प्रेम की कसक पर नही बल्कि बाह्य भयंकरता पर आधारित रखा । वह कहता है कि इस ससार सागर को लांघकर कौन पार जा सकता है क्योंकि नारी-सौन्दर्य की छाया उसे बीच मे ही ग्रस लेती है ।[1] अपभ्रंश के दोहे में जो बात चित्रोपम भाषा मे सरस बनाकर कही गई है उसे ही बिहारी ने सिद्धान्त रूप में रख दिया है अन्यथा बात एक ही है ।[2] नायक ने जिस दिन से परदेश जाने की बात चलाई उसी दिन से नायिका पीली होने लगी । उसने भूषण, वसन, पान तथा हँसी का त्याग कर दिया । यह मुग्धा नायिका है अत: प्रवास की संभावना मात्र से तथा अव्यक्त भाव से प्रभावित दिखाई गई है । अपभ्रंश की नायिका प्रौढा है और उसे अपने रूप सौन्दर्य तथा प्रेम पर नाज़ तथा विश्वास है कि नायक उसे छोड़कर जा ही नही सकता ।[3]

शृंगारिक भावों के अन्तर्गत प्रकृति :

प्रकृति की पृष्ठभूमि मे शृंगारिक भावो का चित्रण वैदिक काल से किया जाता रहा है । वैदिक संहिता में ऊषा का चित्रण शृंगारिक भावो से ओत-प्रोत है किन्तु आगे चलकर प्रकृति-चित्रण की प्रमुख रूप से दो पद्धतियाँ प्रचलित हुई हैं ।

---

१. या भव पारावार को उल्लंघि पार को जाय ।
तिय छवि छाया ग्राहिनी गहे बीच ही आइ ।। १४३३।
बिहारी रत्नाकर

२. जितेन्द्र पाठक . हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०४ ।

३. जा दिन ते चलिबे की चलाई तुम,
ता दिन तें वाके पियराई तन छाई है ।
कहै मतिराम छोडे भूषन, बसन, पान,
सखिन सो खेलनि हँसनि बिसराई है ।।
सं० कृष्ण बिहारी मिश्र मतिराम ग्रंथावली पृ० २४८ छं० २०६

(१) आलम्बन रूप में चित्रण की पद्धति :

इस तरह के चित्रण मे प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य का उद्घाटन होता है। किन्तु अपभ्रंश मुक्तककार शुद्ध प्रकृति के प्रति आकर्षित होते नहीं दिखाई देते।

(२) उद्दीपन रूप :

शृंगारिक भावो को उत्तेजित या उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति को विशिष्ट माध्यम बनाया गया है। अपभ्रश के मुक्तको मे अधिकतर वियोग शृंगार के अन्तर्गत प्रकृति के मादक तथा चुभने वाले चित्रण ऊहात्मक पद्धति पर हुए है। बसन्त के नैसर्गिक सौन्दर्य लोकोत्तर आह्लाद तथा मादक वातावरण से काम-तप्त, कोयल तथा चातक की ध्वनि को न सह सकनेवाली, ग्रीष्म की तप्त लू से जली हुई, बादलो की कड़कड़ाहट से भयभीत, जाडे की लम्बी रातों को बिताने मे असमर्थ नायिका की विभिन्न दशाओ के चित्रण मे प्रकृति को उद्दीपन-विभाव के रूप मे ही ग्रहण किया गया है।

अपभ्रंश मुक्तककारों ने सर्वत्र प्रकृति को उपर्युक्त रूप में ही ग्रहण नही किया बल्कि कुछ चित्रण ऐसे है जिसमे आलम्बन और उद्दीपन की मिली जुली स्थितियाँ हैं। इन चित्रणो मे प्रकृति सजीव तथा मानवीयकृत रूप में उपस्थित होती है। प्रकृति अपनी स्वाभाविक रमणीयता के द्वारा कवि को आकर्षित नही करती बल्कि अलक्तक से रंजित पगो तथा कण्ठिका से युक्त नारी रूप मे उसके हृदय मे शृंगारिक भावो को उद्‌बुध करती है। इस चित्रण को उद्दीपन विभाव के रूप मे भी माना जा सकता है। विभिन्न ऋतुओ पर नारी-भावों के प्रक्षेपण की प्रवृत्ति अपभ्रंश में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। वसन्त को श्री (लक्ष्मी रूप में कल्पित करते हुए कवि भ्रमरों के रव को उसका सुन्दर गीत मानता है तथा चपक को उसका शेखर मानता है।[१] नायक स्वयं नायिका का ध्यान आकर्षित करता है कि नवकुवलय के समान नेत्रोवाली चन्द्रमा के समान मुखवाली, कोमल कमल के समान हाथों वाली शरत् लक्ष्मी को देखो।[२] इन चित्रणो मे नारी के समस्त अगो तथा गुणो का आरोपण न

---

१. अलिरव गीई कयचपयसेहर,
महुसमयसिरी उअ जणहु मणोहर ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन
६।१८३।१८१३

२. नवकुवलय नयण संसक बयण धण ।
कोमल कमलकर उअ सरयसिरि किर ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन
६।२१०।२५.१

होकर किसी मे सौन्दर्य प्रसाधनो का किसी मे ललित गुणों का और किसी में प्रमुख अंगों का प्रक्षेपण करके श्री या लक्ष्मी की परिकल्पना कर ली गयी है। श्री या लक्ष्मी शब्द भी साभिप्राय प्रयुक्त जान पडते है। श्री सौन्दर्य का भी पर्याय है। अर्थात् सौन्दर्य ही शरद, पावस या बसन्त के रूप मे सजीव नारी बनकर मूर्त्त हो उठा है।

रीति-मुक्तकों मे प्रकृति का चित्रण उद्दीपन तथा आलम्बन दोनो रूपों में हुआ है। इनमे षड्-ऋतु वर्णन तथा बारहमासा आदि परम्परित रूढ़ियाँ ही हैं। इनमें मूल भावों की प्राय. समानता ही पायी जाती है। अपभ्रंश कवियो द्वारा ऋतुओं की नारी रूप कल्पना का प्रभाव बिहारी के प्रस्तुत दोहे पर स्पष्ट परिलक्षित होती है—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुख चन्द।
समय आय सुन्दरि सरद, काहि न करति अनन्द॥[१]

अपभ्रंश के कवियों ने प्रकृति के चंचल नृत्य, मधुर गीत तथा मनोहर नाटक को स्पष्ट रूप मे दृष्टिगत किया था। कोयल के संगीत के साथ नवलता रूपी वनिता नाचती है। मलयानिल ही नर्तक है। रीति कवि भी इसी से मिलता जुलता चित्रण करता है—

रचि नाच लतागन तानि वितान
सबै विधि चित्त चुरायो करै॥[२]

अन्य ऋतुओ के चित्रण में रूढ़ियाँ समान रूप से चित्रित हैं। शरद की दीर्घ रात्रि, ग्रीष्म की बेहद गर्मी, विद्युत तथा घनघोर घटाओ की भयंकरता के चित्र बिलकुल समान ही हैं। रीतियुगीन कवियो का चित्रण दरबारी वातावरण से अधिक प्रभावित है। इसीलिए ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते समय कवि रंग मन्दिर को नहीं भूलता।[3]

पूरे प्रकृति-चित्रण मे कला का विशेष आग्रह अपभ्रंश तथा हिन्दी दोनों में मिलता है। अधिकतर तो प्रकृति चित्रण की पूर्व प्रचलित रूढ़ियाँ हैं जो अपभ्रंश तथा रीतिकाव्य में अपने-अपने ढंग से चित्रित है।

---

१. लाला भगवानदीन : बिहारी बोधिनी—पृ० २८८।

२. द्विजदेव सं० जवाहरलाल : शृंगार-लतिका सौरभ, पृ० ८०।

३. सं० पं० उमाशकर-शुक्ल . कवित्त रत्नाकर, छं० ४०।

वीर-भावात्मक प्रवृत्ति :

संस्कृत, प्राकृत आदि में शौर्य तथा वीरता का चित्रण महाकाव्यों में अधिक प्रतिफलित हुआ। मुक्तक काव्यों में शृंगार के मधुर तथा ललित भावों को ही निरूपित करने का उद्यम किया गया। अपभ्रंश में अपने आश्रयदाता, धर्म, कला तथा प्रजा को संरक्षण प्रदान करने वाले राजाओं की वीरता, कीर्ति तथा उनके शत्रुओं की दुर्दशा का अतिरंजित, चमत्कारात्मक वर्णन की प्रवृत्ति का सूत्रपात ही नहीं पर्याप्त विकास भी हुआ। वीर भावों को प्रस्फुटित करने के लिए कई पद्धतियां अपनायी गयीं। उनमें से प्रमुख अधोलिखित हैं—

१—नायिका के विभिन्न कथनों के माध्यम से।

२—राजाओं के यश तथा शौर्य के प्रत्यक्ष वर्णन से।

३—शत्रुओं की अनेक दुर्दशाओं के चित्रण से।

४—युद्ध प्रयाण, तलवार, युद्ध प्रवृत्त नायक के वर्णन से।

नायिकाएँ आराध्य-देवताओं तथा देवियों से ऐसे कंत की याचना करती हैं जो त्यक्तांकुश प्रमत्त गजों से हँसता हुआ भिड़ जाय।[1] अपभ्रंश की नायिका अपने पति को सिंह के समान मानने में अपमान का अनुभव करती है क्योंकि सिंह तो अरक्षित गजों को ही मार पाता है जबकि उसका पति हजारों पदरक्षकों से रक्षित गजों को मार गिराता है।[2]

कुछ नायक-नायिकाओं के लिए युद्ध विशेष रुचि का विषय बन गया था। बहुत दिन युद्ध न होने पर शक्ति के अतिरेक से उनके अंग फड़कने लगते थे। नायिका अपने वीर पति से निवेदन करती है प्रियतम उस देश में चलो जहाँ खड्ग का व्यापार होता है क्योंकि रण-दुर्भिक्ष में दोनों भंग हो गये हैं और बिना जूझे मन नहीं मानता।[3] युद्ध के समय नायक के प्रयाण कर जाने पर

---

१. आयहिँ जम्महिँ अन्नहिँ वि गोरी सु दिज्जहि कंतु।
गय मत्तहं चत्तकुसहं जो अभ्भिडइ हसंतु ॥ हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३७६।२

२. कंतु जु सीहहो उवमि अइ तं महु खंडिउ माणु।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय रक्ख समाणु ॥ वही; ४।४१८।

३. खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं।
रण दुब्भिखे भग्गाइ विणु जुज्झे न वलाहुं ॥ वही ४।३८६।१।

हाथ पर हाथ रखकर वह रोती बिलखती नही है। वह सच्चे अर्थों मे वीर वधू है जो युद्ध मे भी अपने पति की सहयोगिनी है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश मे वीर-दम्पति का अपूर्व वर्णन मिलता है। हिन्दी साहित्य मे वीर-दम्पत्तियों का वर्णन शायद ही मिलता हो। इस परम्परा का प्रभाव सीधे राजस्थानी हिन्दी के डिंगल रूप पर पडा। इन्हीं भावों से मिलती जुलती अनेक मार्मिक उक्तियाँ डिंगल काव्य मे मिलती है। डिंगल काव्य मे चित्रित एक नायिका के हाथ मे पाणिग्रहण के समय जब तलवार के मूठ से चिन्हित हाथ गडते हैं तो वह खुशी का अनुभव करती है और सोचती है कि उसका पति युद्ध मे अकेले होने पर भी उसकी चूडियो को लज्जित नही करेगा।[1] वीर पति की कामना की व्यंजना अपभ्रंश की नायिका की कामना के तुल्य ही है। कवि द्वारा वर्णित नायिका पहले युद्ध मे तो नही गयी थी पर रण में विस्फोट सुनकर अपनी भाभी से कहती है कि हम लोगो ने जो घुडसवारी सीखी है वह किस काम की। रण की तेज आवाज सुनायी दे रही है इसलिए शीघ्र ही हाथ मे घोडे की लगाम लो—

घोड़े चढ़णौ सीखिया, भाभी किसणौ काम।
नव सुणी जै दार रौ, लीजै हाथ लगाम ॥[2]

वीर-वधू अपने प्रिय के घावो को देखकर सती हो जाने का हर्ष व्यक्त करती है। उसका पति बहुत से घावों से छिद गया है। खून के बहने के कारण रास्ता कुंकुम वर्ण का और सफेद घोड़ा मंजीठ रंग का हो गया—

घव घावां छकियां घणां है लौ आवै दोठ।
मारगियौ कूंकू वरण, लो लौ रंग मंजीठ ॥[3]

कवियो ने राजाओ तथा वीरो की कीर्ति तथा यश का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण शैली में किया है किन्तु यह अतिशयोक्ति भी अस्वाभाविक नही है। कवि द्वारा चित्रित वीर की कीर्ति गंगा शिव के हास के समान उज्ज्वल है यह सागर का

---

१. हथलेवे की मूठ किण, हाथ विलग्गा माय।
लाखा वाता हेकलौ, चूडी मो न लजाय ॥
कविराजा सूर्यमल्ल : डिंगल मे वीररस, ५।६२।

२. जितेन्द्र पाठक हिंदी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २३३।

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ७६।

उल्लंघन कर जाती है और पर्वतो पर आरोहित हो जाती है।[१] वास्तव मे गंगा समुद्र मे ही समाप्त हो जाती है और पर्वतो से उतरती है। कीर्ति का रग कवि की दुनियाँ मे धवल माना गया है। इसी आधार पर इसको गंगा का रूपक दिया गया। कीर्ति भावात्मक है अतः समुद्र का उल्लघन और ऊर्ध्व गमन स्वाभाविक ही है। यही नही कवि ने अपने प्रभु के चरित को नरसिंह से श्रेष्ठ बताया है क्योंकि नृसिंह ने अपने नखों का प्रयोग करके शत्रु राक्षस हिरण्यकशिप का हृदय विदीर्ण किया था किन्तु यह पृथ्वी तिलक चक्षु क्षेपण मात्र से शत्रुवीर का हृदय विघटित कर देता है।[२]

अपने आश्रयदाता को इन्द्र विष्णु जैसे देवताओ से श्रेष्ठ बताने की प्रवृत्ति करीब-करीब समस्त राजाश्रयी कवियों मे मिलती है। अपभ्रंश कवियो की तरह ही यश की धवलता का चित्रण बड़े चमत्कारिक ढग से किया गया जिसमे बडे-बडे देवताओं की न्यूनता का भी आभास मिलता है। शिवराज के यश से सभी चीजे धवल हो गयी हैं अतः इन्द्र का ऐरावत, विधि का हंस, चकोर का चन्द्र, शंकर का कैलाश तथा पार्वती के शंकर सभी उसी मे गायब हो गये फिर सभी लोगो ने अपनी-अपनी चीजों की खोज शुरू कर दी।[३] दान-वीरता का चित्रण करते समय भी कवियो ने आश्रयदाता को ही महानतम दानी माना है—

रहति न रन जयसाह मुख, लखि लाखन की फौज।
जांचि निराखर हूँ चले, लै लाखन की मौज॥[४]

पराजित शत्रुओं की दुर्दशा का चित्रण करके वीरता को व्यजित किया गया है किन्तु कही-कही ये वर्णन विजित राजा को खुश करने के लिए ही किये गये हैं। कवि के वर्ण्य प्रभु के डर से वैरी लोग जगल मे जाकर नित्य शशक की तरह

---

१. लंघइ सायर गिरि आरुहइ, तुह अहंग।
 ससिसेहर हसि उज्जल नउरवी, कित्ति गंग॥
 हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।२०.६।

२. अच्छउ ता उब्भउभुअबलु चक्खुक्खेविण विहडयंतु रिउभडहि।
 सुरनरसीह विक्कत चरिउ लघेविणु ठिउ रेहइ पुहईसरतिलउ॥
 वही, ७।२६.१।

३. शिवराज भूषण : भूषण ग्रंथावली, पृ० ८७।

४. लाला भगवानदीन : बिहारी-बोधिनी, पृ० २६२।

रहते है और घने कंटक मे घूमते रहते है।[१] प्रियतम के मर जाने के कारण शत्रु-पत्नियों की दशा भी सोचनीय है। उनकी कज्जल की रेखा आसुओ के साथ गलकर गिर रही है। निरन्तर विलाप करते रहने के कारण उनकी आँखें रक्त हो गयी है। मानो अधर का अलक्तक उनके नेत्रों मे प्रविष्ट हो गया है।[२] अति दौर्बल्य के कारण उन्होने सोने के आभूषणो को त्याग दिया, वस्त्रो को छोटा कर लिया तब भी वे रमणियाँ रमण स्थान के भार से आक्रान्त होकर चलती है :

> कंचण भूषण छंड्डिअ खंडिधि वसणु वि लहुइउत्तुटिअ पलाइरिहिं।
> तु वि किच्छिण रमणत्थलभारवकंतिहिं गम्मइ तुह रिउसुंदरिहिं॥

शत्रुओ की दुर्दशा का चित्रण जितना मार्मिक है उससे अधिक चमत्कारिक। यह द्विविध प्रवृत्ति अपभ्रंश तथा हिंदी मुक्तक काव्यो मे एक जैसी परिलक्षित होती है। हारे हुए राजाओं की स्त्रियाँ जो ऊँची अट्टालिकाओ मे रहती थी वे पर्वतो की गुफाओ मे रहने लगी है। कंदमूल की जगह वृक्षो की जड़े वेर तथा वनस्पतियाँ खाकर जीती है और पानी की दुर्लभता से मुरझाकर मरती है।[३] वैरी की पत्नियाँ बार-बार अपने पतियो को कही छिप जाने की सलाह देती है।[४] अपभ्रश मे रण-स्थल, तलवार, सेना के प्रस्थान आदि का भी सुन्दर वर्णन मिलता।

'प्राकृत पैंगलम्' मे राजा हम्मीर की रण-यात्रा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। हम्मीर जब हाथियो की सेना से सुसज्जित होकर रणयात्रा के लिए चलते हैं तो म्लेच्छों के पुत्र बड़े कष्ट से हाहाकार करके मूर्छित हो जाते हैं। उनकी सेना साधारण नही है बल्कि इतनी विशाल है कि उसके बोझ से पृथ्वी दब जाती है। प्रस्थान से जो धूल उठती है उससे सूर्य ढक जाता है। कमठ की पीठ तड़क जाती है और मदराचल के अग्रभाग प्रकम्पित हो उठते

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ५।१८६।४२।१।

२. कज्जल लेहविललोअणहं, गलिअंसु जलिणपम्हुट्ठउ।
अहरालत्तयरसु सामरिसु, तुहरिउवहुनयणिपइट्ठउ॥ वही, ६।२०।५४।

३. भूषण ग्रथावली : श्री शिवा बावनी, पृ० ११४-११५।

४ स० उदय त्रिपारी सिवराज भूषण पृ० ७४

है ।[1] कवि अपने स्वामी का यशगान तथा शौर्यगान ही नही करता बल्कि स्वयं सुलतान के सिर पर तलवार मारकर अपने शरीर का परित्याग कर स्वर्ग जाना चाहता है । कवि जज्जल क़लम का ही सिपाही नही एक युद्ध वीर भी प्रतीत होता है । भूषण आदि हिंदी कवियो ने सैनिक प्रस्थान का चित्रण बिलकुल इसी अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में किया । मान कवि का उदाहरण देखिये :—

सल सलिल सेस दल भार सिर
कमठ पोठि उठि कल कलिय
हल हलिय असुर घर घरि हलक,
खनि सहित रिपु रलतलिय ।[2]

रण स्थल मे हाथियो का जूझना, तलवार संचालन का चित्रण करने में कवि अपभ्रंश की परम्परा से काफी निकटता स्थापित करता है । असि का गत्यात्मक चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

भुज भुजगेस की है संगिनी भुजंगिनी सी खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के ।
पाखरिन बीच धंसि जाति मीन पैरि पार जात परवाह ज्यो जलन के ।[3]

सुभाषित :

साहित्य मे किसी न किसी रूप से मानवीय हित की भावना निहित मानना असंगत नहीं कहा जा सकता । कवि अपनी सूक्ष्म तथा सर्वग्राहिणी दृष्टि से जीवन सम्बन्धी सामान्य तथा कटु सत्यो को संस्पर्शित करने की चेष्टा मे सफल होता है । वह सारे बौद्धिक अनुभवों को भावना के रंग में रंगकर या कला से सँवार कर पाठकों या श्रोताओ के समक्ष प्रस्तुत करता है । यही कारण है कि धर्म, नीति, आचार आदि उसके अनुभवों की सीमा में बडी सरलता से आ जाते हैं । कवि विना किसी अवरोध के इन पर अपने विचारो को व्यक्त करते हैं । इनकी ये सुन्दर उक्तियाँ किसी दार्शनिक या राजनीतिक

---

१. पअभरु दरमउ धरणि तरणिरह धुल्लिअ झंपिअ ।
कमठपिट्ठ टर परिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ ।।
कोह चलिअ हम्मीरवीर गअजूह संजुत्ते ।
किअह कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते ।।
संपा० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, पृ० ८३, १।९२ ।

२. उदय नारायण तिवारी : वीर काव्य, मान कवि ।

३. भूषण ग्रथावली : श्री शिवा बावनी, पृ० १३१ ।

के सैद्धान्तिक तथा पेचीदे नियमो से भिन्न होती हैं ये पर्याप्त काव्यरस से सिक्त होने के कारण आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण होती हैं। काव्य गुणो के कारण ही इन्हे सुभाषित या सूक्ति कहा जाता है। मोटे रूप से ये सूक्तियाँ छः प्रकार की हैं :—

(१) धर्मपरक।
(२) कामपरक।
(३) नीतिपरक तथा समाजपरक।
(४) स्वभावसूलक।
(५) अनित्यता तथा भाग्यवादी।
(६) वैराग्यपरक।

(१) धर्मपरक सूक्ति या सुभाषित :

चाहे सिद्ध कवियो की धार्मिक सूक्तियाँ हों, चाहे जैन धर्म की या शैव धर्म की सब में करीब-करीब वही बाते मिलती है जो अन्य भारतीय धर्मों मे पायी जाती है। ऐसे कथनों मे ये कवि अपनी साम्प्रदायिक सीमा से बिलकुल मुक्त होते हैं। इसी कारण इनके विचार सार्वभौमिक तथा समस्त मानवीय कल्याण से उत्प्रेरित होते है। क्रूरता, स्त्री लंपटता तथा गुरु के वचन को खडित करने से सासारिक आवागमन छूटते नही है। बल्कि इस तरह के व्यक्ति को संसार में पुनः पुनः आना पडता है जैसे कोल्हू का बैल बार-बार चक्कर लगाता है।[1] यम के मुख के नीचे सदैव जीवन दबा हुआ है। यह निश्चित नही है कि कब मृत्यु आ जाय। इसलिए विषय-तृष्णा को छोड़कर भगवान् का गुण-गान करना चाहिए। कवि सत्संगति के लाभ को बड़े चमत्कारिक तथा कलात्मक ढंग से 'तर्यौना' तथा 'बेसर' के गहनों को श्लिष्ट अर्थ में ग्रहण करके व्यक्त करता है। श्रुति का सेवन अर्थात् पठन, पाठन श्रवण करते रहने पर स्वर्ग प्राप्ति शीघ्रता से संभव नही होती।[2] ये समस्त उक्तियाँ भाव तथा उपदेशात्मकता की दृष्टि से सरहपाद, जोइन्दु, देवसेन, कबीर, सूर, तुलसी की उक्तियों से तनिक भी भिन्न नही हैं। किन्तु अपनी चमत्कारिकता तथा

---

१. कूड चित्त तिय लंपडा गुरु वयनं कुरु क्षत्त।
   अछहि कोल्हव वसहु जिम णर संसारि भमंत॥ बारक्खडी।
२. अजौ तर्यौना हीं रह्यौ श्रुति सेवत इक संग।
   नाक वास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु के सग २० बिहारी

कलात्मकता के कारण ही रीतिकालीन जान पड़ती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि धार्मिक सूक्तियों का एक सर्वमान्य सिलसिला अपभ्रंश तथा हिंदी मुक्तक काव्यों मे समान रूप से मिलता है। भाग्य के दुर्धर्ष चपेटे सहना, नश्वरता का का अनुभव तथा किसी तरह की परवशता मे पड़कर परेशान होना स्वाभाविक ही नहीं जीवन के साथ अनिवार्य रूप से जुडा हुआ है। अपभ्रश कवि कहता है कि सचराचर महापीठ के सिर पर जो दिनकर अपने पाद (किरणो) को डालता है वह भी अस्त हो जाता है। भवितव्यता होकर ही रहती है उसे कौन रोक सकता है :—

महवीढ़ह सचराचरह जिणि सिरि दिण्हा पाय।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होउ चिराय ॥[1]

कामपरक सुभाषित :

अपभ्रंश के मुक्तक कवि प्रेम की समस्त चेष्टाओ तथा भंगिमाओं के सफल निरूपक थे। उन्होंने प्रेम तथा काम सम्बन्धी अनेक निष्कर्ष भी निकाले थे। उनकी काम सम्बन्धी सुन्दर उक्तियाँ बहुत प्रभावशाली तथा मार्मिक हैं। प्रेम ऐसा भाव है जिस पर दूरी का कोई प्रभाव नही पड़ता यदि प्रेम में कोई कपट या कृत्रिमता नही है। कहाँ चन्द्रमा और कहाँ समुद्र, कहाँ मयूर और कहाँ मेघ। दूर रहनेवाले सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है।[2] विरह मे संतप्त नायिका को यदि प्रियतम का संग नही प्राप्त होता तो संदेश से क्या लाभ जैसे सपनों के पिए जल से प्यास नहीं बुझती।[3] ललित और विलास के योग्य कोमल नायिका का शरीर तप के योग्य नही होता क्योंकि मालती का पुष्प भ्रमर के पदो को सहता है किन्तु गधे और शकुनि के स्पर्श को नही। सुन्दर नायिकाओ की दृष्टि सब युवको पर अनुरक्त नही होती कोई धन्य युवक

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० ६७।

२. कहि ससहरु कहि मयरहरु कहिँ बरिहिणु कहिँ मेहु।
   दूर हिआइ वि सज्जणहँ होइ असड्ढलु नेह ॥ ७ ॥
   हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ७१।

३. संदेसें काइं तुहारेण जं सङ्गहो न मिलिज्जइ।
   सुइणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥ १ ॥
   वही, पृ० ८२।

होता है जो विकसित नेत्रों वाली तथा विभ्रम से तथा विलसित मुखो वाली तरुणी से समादृत होता है।[1] ये समस्त उक्तियाँ सामान्य अनुभवों पर आधारित तथा मौलिक हैं।

श्रृंगार तथा प्रेम के सफल चितेरे रीतिकालीन कवियो ने कामपरक सुभाषितों की भरमार कर दी। सौन्दर्य और असौन्दर्य की अनुभूति बहुत कुछ व्यक्ति रुचि पर निर्भर है इसी आधार पर एक सूक्ति रची गई :—

> समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
> मन की रुचि जेती जितैं तित तेती रुचि होइ ।।[2]

नीतिपरक तथा समाजपरक सुभाषित :

अपभ्रंश कालीन सामन्ती व्यवस्था मे स्वामी और भृत्य की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण थी। धन-दौलत से मदान्ध स्वामी लोग उचित अनुचित पर प्राय: ही ध्यान देते थे। तत्कालीन जीवन को प्रतिबिम्बित करनेवाली कुछ सूक्तियाँ अपभ्रंश काव्य में बिखरी हुई प्राप्त होती है। अपभ्रंश कवि सुभृत्य के परित्याग और खल के सम्मान की बात को एक सामान्य सत्य से जोडकर कहता है कि सागर तृणो को अपने ऊपर धारण करता किन्तु बहुमूल्य रत्नो को भीतर तले मे रखता है।[3] तत्कालीन परिवेश मे उन्नति का दो ही सुकर मार्ग दीखता था पहला तो स्वय प्रभु होना दूसरा किसी अच्छे प्रभु का विश्वास पात्र होना। यह थी कवियों की विवशता जिसका कि अपभ्रंश कवि को पूरा-पूरा अहसास था और यही थी विकास की सुन्दर नीति :—

> आपणपइ प्रभु होइयइ कइं प्रभु कीजइ अत्थि।
> काजु करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि ।।[4]

---

१. कुइ धन्नु जुआणउ विआसिअ दीहर नयणिए।
मज्जइ तरुणिए, विब्भम विलसिअ वयणिए ।।
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।१९, ३६

२. बिहारी रत्नाकर, दोहा ४३२, पृ० १७८।

३. सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं।।
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण- ४।३३४।१।

४ प्रबन्ध पृ० ८१

हिन्दी के रीति कवियों मे अधिकतर राजाश्रय प्राप्त करने मे सफल ही थे परन्तु कतिपय कवियो को इसके लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ा था। दीनदयाल गिरि ने तो अविवेकी देश में जाने के लिए सुजनों को वर्जित ही कर दिया है :—

नहिं विवेक जेहि देस में तहां न जाहु सुजान।
दच्छ जहां के करत हैं करिवर खर सम मान ॥[१]

धन का अनावश्यक संचय किसी भी युग मे उपयुक्त नही माना गया। जब जीवन ही निश्चित नहीं है तो संपति बटोरने से लाभ ही क्या है। ऐसा करना मूर्खता है क्योकि कोई ऐसा भय पड़ेगा जब जीवन ही समाप्त हो जायेगा :—

दिवेहिं विढत्तउं खाहि वढ संचिय एक्कु वि द्रम्मु।
को वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥[२]

कृपण धन को संचित करके न अपने लिए खर्च करता है न दूसरों के लिए। वह न तो खाता है, न पीता है न तो धर्म मे ही खर्च करता है जैसे मानो कृपण यह जानता ही नहीं कि यम का दूत क्षण भर मे ही आ पड़ेगा।[३] रहीम ने भी संचय के विरोध में एक सूक्ति रची है जिसका भाव अपभ्रश के उपर्युक्त सुभाषितों से मिलता जुलता है—

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।

सज्जन तथा दुर्जन :

दुनियाँ में सज्जनों की कमी तथा दुर्जनों का बाहुल्य है। इसीलिए सज्जनों को देश तथा समाज की शोभा माना जाता है। कोई भी देश सरिताओ, सरो, उद्यान तथा बनों से रमणीक नही होता अपितु सुजनो के निवास से रम्य होता है।[४] जो निष्कलुष तथा शुद्ध है उसके ऊपर बाह्य संगति का कोई असर नही होता। ठीक उसी तरह जैसे यदि राजहंस को सफेद गगाजल मे या कृष्ण

१. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, दृष्टांत तरंगिणी, २६।७५
२. हेमचन्द्र : अपभ्रश व्याकरण, पृ० ७०।
३. किर खाइन पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ।
इहु किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण ॥ वही, पृ० ६५।
४. सरिहिं न सरेहिं न सरवरे हि न वि उज्जाण वणेहि।
देस खण्णा होत्ति वढ निवसन्ते हि सुअणेहि ॥ वही, पृ० ७२।

यमुना जल में छोड दिया जाय किन्तु उसकी शुभ्रता न बढ़ती है न घटती है ।[1]

किन्तु दुर्जन अत्यन्त कुटिल स्वाभाव के होते है । वे वाचाल परुष, गुणो से रहित, प्राण हरने वाले होते है तथा सज्जन प्रचुर स्थान में शीघ्र प्रसार पा लेते हैं ।[2] सामन्तवादी युग में आर्थिक बिषमता बहुत कठोर थी । इस तरह के समाज में धनहीन मनुष्य को सम्मान मिलना कठिन था । कभी-कभी धनी सामन्त युद्धो में अधिक धन खर्च कर देने के कारण धनहीन हो जाते थे । अत. उनके सहयोगीजन उन्हें छोड़ देते थे और अन्य लोग भी सम्मान नही करते थे । सामान्य निर्धनों की भी यही दशा रहती है—

रिद्धि विहूणइ माणुसह न कुणइ कुवि सम्माणु ।
सउणिहिं मुच्चइ फल रहिउ तरुवर इत्थु पमाणु ।।[3]

इसी तरह का वर्णन रहीम ने भी किया है—

दुर्दिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि ।
सोच नहीं वित हानि को, जो न होय हित हानि ।।[4]

ऐसे सामान्य धनी लोगो का जीवन अधिक स्तुत्य तथा सार्थक होता है अपेक्षाकृत उन महान् विस्तार वाले धन-दौलत वाले लोगों के जीवन से । कृपणो का धन विस्तृत सागर के जल के समान है जिससे किसी की प्यास नहीं बुझती है —

तं तेहिउ सायरहो सो तेवइ विस्थारू ।
तिसहे निवारणु पलु वि नवि पर घुट्ठअइ असारू ।।[5]

हिन्दी के प्रसिद्ध नीतिकार रहीम ने उसी पंक जल की प्रशंसा की है जिससे लोगों की किंचित प्यास बुझती है । समुद्र की क्या बड़ाई है जहाँ से संसार प्यासा लौट जाता है—

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।२० . ४६ ।

२. वायाला फरुसा विधंणा, गुणिहिं विमुक्का प्राणहर ।
जह दुज्जण सज्जण जण पउरि, तेम्ब पसरु न लंहति सर ।।
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।२२।३

३. कुमारपाल प्रतिबोध, उद्धृत जितेन्द्र पाठक :
हिन्दी मुक्तककाव्य का विकास, पृ० २४६

४. रहिमन–विलास ६।६७

५ हेमचन्द्र प्राकृत व्याकिरण ४ ३६५ ७

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाइ कौन है जगत पियासो जाय ॥[१]

स्वभावमूलक सुभाषित :

स्वभावमूलक सुभाषितों के अन्तर्गत कवियों ने प्रेमी, लक्ष्मी, याचक आदि के स्वभाव का चित्रण किया है। ऐसे मनुष्य जिन्हे असुलभ चीजों की प्राप्ति की प्रबल इच्छा होती है वे दूरी की गणना नही करते जैसे भ्रमर कमलों को छोड़कर हाथियों के गण्डस्थल की इच्छा करते है—

कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि गण्डाइ महंति ।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणंति ॥[२]

जिन्दगी किसे प्रिय नही है। धन किसे इष्ट नही, पर अवसर आ पडने पर कुछ विशिष्ट लोग दोनों को तृण के समान गिनते है—

जीविउ कासु न वल्लहउ, घणु पुण्णु कासु न इट्ठु ।
दोण्णि वि अवसर निवडि-अइं तिण सम गणइविसिट्ठु ।[३]

वृन्द ने कहा कि तन, धन दोनो देकर बीर लोग लाज रखते हैं—

तन धन इ दै लाज के जतन करत जे धीर।
टूक टूक है गिरत पै नहि मुख फेरत बीर ॥[४]

अनित्यता तथा भाग्यवादी सूक्तियाँ :

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समय के परिवर्तन के साथ बड़े-बड़े राजा रंक हो जाते है। बडे-बड़े वीर मृत्यु के गाल मे समा जाते हैं। रावण जैसे त्रिलोक्य विजयी जिसके पास लंका जैसा गढ, चतुर्दिक सागर जैसे खाई थी नष्ट हो गया। नाश और निर्माण की अविरल प्रक्रिया ही तो जगत् है—

सायरु खाइ लंकु, गढ़ गढ़वइ दसशिर राउ।
भग्ग पइ सो भंजि गइ, मंज म करिउ विसाउ ॥[५]

जिस युधिष्ठिर ने पांडव वंश में जन्म ग्रहण किया सम्पत्ति का अर्जन करके उसे

---

१. रहिमन विलास, १०।१०२।

२. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३५३।१।

३. वही, ४।३५८।२।

४. सतसई संग्रह—वृन्द सतसई ६३६।३३६।

५. प्रबंध चिन्तामणि, पृ० २३।

धर्म के लिए दिया। उसी युधिष्ठिर को संकट प्राप्त हुआ। दैव के लेख को कौन मिटा सकता है—

पंडवंसहि जम्म धरीजे, संपअ अज्जिअ धम्मक दिज्जे।
सोउ जुहिट्ठिर संकट पावा, देवक लिक्खअ केण मिटावा ॥[1]

रहीम ने भी भावी को प्रबल बताया—

भावी काहू न दही भावी दह भगवान्।
भावी ऐसो प्रबल है कहि रहीम यह जान ॥[2]

मनुष्य कर्म के द्वारा कठपुतली की तरह नाचता है—

ज्यों नाचत कठपूतरी करम नचावत गाथ ॥[3]

वैराग्यपरक सुभाषित :

श्रृंगार की एकरसता से ऊब कर तथा परलोक की गति-अगति से संत्रस्त कवियो में कभी-कभी विरक्ति की भावनायें उठती थीं। वे तुरन्त एक उपदेशक का बाना पहन कर वैराग्य का उपदेश देने लगते थे। धार्मिक काव्यो मे वैराग्य-परक उपदेशों का बाहुल्य तो स्वाभाविक ही है। प्रत्येक अपभ्रंश का धार्मिक कवि सांसारिक सुखों के त्याग तथा स्त्री आसक्ति से बचने का उपदेश करता है। पचेन्द्रियो सहित मन के नियंत्रण पर इसलिए जोर देना चाहिए। संसार की अनित्यता, दुःख आदि का बोध कराकर धार्मिक कवियों ने अपने मतों की पुष्टि की है। सुप्रभाचार्य स्पष्ट शब्दो मे उद्घोष करते है कि एक घर मे बधाई है तो दूसरे घर में हाहाकार रोदन। अतः सुप्रभ के द्वारा कथित वैराग्य भाव को लोग क्यों नही स्वीकार करते।[4] सुप्रभ ने धन सम्पत्ति को क्षणिक, मानव देह को नश्वर तथा संसार के सबंधों को मिथ्या माना है।[5] वास्तव मे उनकी एक छोटो सी रचना जिसका नाम 'वैराग्यसार' है वैराग्यपरक सुभाषितो का संग्रह ही है।

भक्तिकालीन मुक्तको में नश्वरता, विषय-त्याग, स्त्री-त्याग से संबंधित अनेक मुक्तक मिलते है। कबीर कहते हैं कि यह तन कच्चे कुंभ की तरह है

---

१. स० भोलाशकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् पृ० २३१, २।१०१।

२. रहिमन विलास, १३।१२६।

३. वही, पृ० ६।५८।

४. एक्कहिं घरे बधामणा अण्णहिं धाहहि रोविज्जइ—वैराग्यसार।

५. वैराग्यसार पद्य ५६, ५९ ६० आदि।

जिसे सास लेकर फिराया जा रहा है। "ढबका" लगने मात्र मे यह फूट जाता है और कुछ भी हाथ नही आता। इसलिए विषय वासनाओ का त्याग करके भगवान को भजना चाहिए। कामिनी तो काली नागिन, के समान है। एक ही लोक मे नही बल्कि तीनो लोको मे, यह राम-सनेही को छोड़कर विषयासक्त लोगो को मारकर खा लेती है।[1]

नैतिकता तथा शुद्ध आचरण पर जोर देनेवाले भक्त कवियो ने सत्संगति, परोपकार, सहानुभूति, दान, दया, वाह्याम्बर का तिरस्कार, आन्तरिक शुद्धि इन्द्रिय-निग्रह आदि का उपदेशात्मक वर्णन किया है। ये समस्त वर्णन भक्ति-काव्य के आधारभूत अंग ही हैं। किन्तु मुक्तक काव्य की शुद्ध परिपाटी का निर्वाह रीति-कवियो में मिलता है। लौकिक शृंगार मे आकठ मग्न, रति-क्रीड़ा को ही मुक्ति का साधन मानने वाले रीति कवियों ने जो सत्संगति, शुद्ध आचार स्त्री-भय, दान, परोपकार आदि का वर्णन किया है वह अपभ्रश मुक्तको की विविध प्रवृत्तियों का ही प्रभाव है। अपभ्रंश से पूर्व भी इस तरह की प्रवृत्ति मुक्तक काव्यों में परिलक्षित होती है। एक ही कवि वय-परिवर्तन के साथ या भाव तरंग के बदलाव के साथ शृंगार-नीति वैराग्य के उत्कृष्ट मुक्तको की रचना करता है।

---

१. स० डॉ० माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ५०

अपभ्रंश-मुक्तक काव्य में भाव व्यंजना तथा उसका हिन्दी पर प्रभाव

मुक्तक काव्य मे समस्त रसावयवो का सम्यक् चित्रण न हो पाने के कारण पूर्ण रसनिष्पत्ति का प्रश्न अत्यधिक विवादास्पद रहा। नाटको मे पात्रो की साज सज्जा, आंगिक चेष्टा तथा अन्य व्यापारो के प्रत्यक्ष निदर्शन से तथा प्रबन्ध काव्यों में विस्तृत वर्णन से रस के समस्त अवयवयो का सफलतापूर्वक समावेश कर लिया जाता है। इसीलिए उनमे रस की पुष्ट तथा शास्त्रीय विधानों से सिद्ध अनुभूति होती है। आकार की लघुता तथा सीमितता के कारण मुक्तकों में समस्त रसावयवों को एक साथ समेटना कठिन होता है, किन्तु भाव विशेष को व्यक्त करने के लिए मुक्तक सशक्त माध्यम है।

कुछ आलोचकों ने माना है कि मुक्तक काव्य में रस के छीटे ही पडते है। किन्तु यह मत सर्वथा समीचीन नही जान पड़ता क्योकि रसात्मक मुक्तको मे रसानुभूति किसी भी प्रबन्ध काव्य से कम नहीं होती। 'अमरुक शतक', 'चौर पचाशिका', 'सूरसागर' आदि मुक्तक नीरस नही है। अमरुक के एक-एक श्लोक को सौ-सौ प्रबन्धो के बराबर माना जाता है। यह अत्युक्ति आकारगत नही बल्कि रसगत है। रसहीन मुक्तक भी महत्त्वहीन तथा अर्थहीन नही होते बल्कि उनका अपना विशिष्ट लक्ष्य होता है। नीरसता के बावजूद उनका संबंध मानवीय श्रेयता से रहता है। रस की कम-बेश अनुभूति के आधार पर कोई स्तर भेद भी नहीं माना जा सकता है। किन्तु संपूर्ण मुक्तक-काव्य मे अधिकांशतः भाव-व्यंजना अधिक पुष्ट रूप मे मिलती है। समस्त रसावयवो के अभाव की पूर्ति करने के लिए मुक्तककार किसी एक भाव को इतना गहरा तथा चमकीला बना देता है कि उसमें रसास्वादन की पूरी क्षमता आ जाती है। सामान्य-अनुभवो को भी आनन्दोत्पादक बनाने के लिए मुक्तक कवि उक्ति वैचित्र, चमत्कार आदि माध्यमों का सहारा लेते हैं। मुक्तक काव्य का एक-अन्य रूप जिसमे कला तथा भाव दोनों के प्रति विशेष सजगता मिलती है रस-व्यंजना या भाव व्यंजना की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है। अपभ्रंश तथा हिन्दी दोनों मे रचित पदों की स्थिति ठीक इसी तरह की है। किन्तु जहाँ तक अपभ्रंश में प्राप्त पदों (चर्यागीति पद) का प्रश्न है उनमें वैयक्तिकता, आत्मानुभूति तथा गीतात्मक हिन्दी पदों जैसी है। किन्तु भावनात्मक सूक्ष्मता तथा विविधता वैसी

नही है। अद्वैत की पृष्ठभूमि में भक्ति भावो के अन्तर्गत माधुर्य-भावों का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना अवश्य है।

अपभ्रंश के लौकिक मुक्तको में शृंगारिक भावों को व्यंजित करने के लिए प्रायः सभी काव्य रूढ़ियो को अपनाया गया है किन्तु उनमे अपभ्रंश कवियो की अपनी मौलिक छाप भी है। सभोग चित्रण मे उत्कट लालसा, प्रथम मिलन की दुर्दम अभिलाषा तथा रति-सुख के लिए साथ लेटे हुए प्रिय और प्रिया की सांकेतिक भाव व्यंजना गार्हस्थिक पृष्ठभूमि मे की गयी है। इसलिए ये चित्र अधिक संवेदनात्मक तथा मार्मिक है। चित्रण मे अश्लीलता न होते हुए भी शृंगारिक भावों को उद्बुद्ध करने की पूर्ण क्षमता है। प्रसंगवश कुछ चित्रो के भाव-सौन्दर्य का दर्शन आवश्यक प्रतीत होता है। नायिका का अंग नायक से संस्पर्शित न हुआ तथा ओठो से ओठ भी न मिले। प्रिय का रूप निहारते-निहारते ही सुरति समाप्त हो गयी।[1] इस चित्रण में रूप-सौन्दर्य के दर्शन मात्र से प्राप्त सुरत सुख तथा तृप्ति की व्यंजना होती है। नायिका के मानस मे रति-सुख की इच्छा तीव्र हो उठती है। वह कहती है कि यदि मैं किसी तरह प्रिय को पा जाऊँगी तो एक अपूर्व कौतुक करूँगी। जिस प्रकार पानी नये कसोरे में प्रविष्ट हो जाता है, उसी तरह मैं उसके अंग-अंग मे प्रविष्ट हो जाऊँगी।[2] इस उक्ति मे कामोद्दीपक अंगो के माध्यम से स्थूल मिलन की कामना नही है बल्कि प्रियतम के रग-रग मे समा जाने की भावना है किन्तु अंगो के मिलन का चित्रण कितना भी सूक्ष्म हो वह बाह्य मिलन तक ही सीमित रहता है। कवि नये सकोरे तथा पानी के उदाहरण से आंतरिक मिलन को व्यजित करना चाहता है। नये सकोरे मे पानी डालने पर वह उसके आतरिक कणो को भी सिक्त कर देता है। उसी तरह नायिका का आगिक मिलन प्रिय तथा प्रिया दोनो की भावनाओं को एकमेक करके रति की अबाध आनन्दानुभूति में सहायक होगा। वास्तव में मिलन बाह्य रूप से ही होता है किन्तु पारस्परिक स्पर्श से आन्तरिक भाव उद्दीप्त हो उठते हैं और रसास्वाद होने लगता है। अतः अपभ्रंश के इस अपूर्व कौतुक में तन ही नही मन का भी मिलन

---

१. अंगिहिं अंगु न मिलेउ मिलि अहरे अहर न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह कमलु, एम्वइ सुरउ समत्तु ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५।

२. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५०।

है।[१] संयुक्त-पारिवारिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष के मिलन की पूर्ण स्वच्छन्दता नही रहती। नायक नवागता वधू के प्रथम मिलन की लालसा को ढो रहा है। वह दिवसावसान की प्रतीक्षा कर रहा है। किसी महत् वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा की अन्तिम घड़ी सबसे अधिक मुश्किल होती है। नायक को भी रात मे दाम्पत्य सुख की उपलब्धि होगी। इसलिए उसके लिए दिवस बिताना अवश्य ही दुष्कर है। मिलन की तीव्र लालसायें उसके अन्तर को बेचैन किये है इधर दुष्ट दिन बीतने का नाम ही नही लेता। प्रतीक्षा की दुष्करता, मिलन सुख की अभिलाषा तथा पारिवारिक सकोच आदि भावो की एक साथ व्यंजना करा देना अपभ्रंश कवि की निजी विशेषता है। नायक द्वारा नायिका के आलिंगन का चित्र पाठको तथा दर्शको दोनों के संस्कारगत स्थायी भाव रति को उद्बुद्ध करने मे सर्वाधिक सक्षम होता है। ऐसे स्थलों के चित्रण मे कविगण प्राय. अश्लीलता से ग्रस्त हो जाते है। अपभ्रंश कवि आलिंगन का एक चित्र प्रस्तुत करता है। नायिका दधि, अक्षत, घन चन्दन मालिका आदि नवरंगो से सुसज्जित है। रति रस के युक्त कदलिका नायिका को पवित्र प्रसाधनों से युक्त देखकर नायक उसका आलिंगन करता है। इस उदाहरण मे परम्परित रस-व्यजना के करीब-करीब सभी विधान मौजूद है। इसमें नायक आश्रय है नायिका आलम्बन है, दधि, अक्षत आदि प्रसाधन उद्दीपनपन विभाव के अन्तर्गत हैं क्योंकि ये नायक के भावो को उत्तेजित करते हैं। उत्कठा को संचारी भाव माना जा सकता है। अगर कही कोई कमी रह गयी हो तो कवि द्वारा प्रस्तुत रति रस से युक्त कंदलिका नायिका से उसकी पूर्ति हो जाती है। स्थायी भाव रति स्पष्ट ही है। अतः इसमे पूर्ण रूप से रस परिपाक हुआ है।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश मुक्तकों में भाव-व्यंजना पर अधिक जोर दिया गया है तथा मिलन का चित्रण अधिकतर साकेतिक रखा गया है।

---

२. जितेन्द्र पाठक : हिंदी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०० ।

३. केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ।
नव बहु दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ।।

हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २ ।

१. दहि अक्खय घण चदण मालिअ नव-नव रगय वावड निअवि पिअ ।
माह्मोक्कठासरलिअभुअजुउ अवरुडइ रइरसभरकदलिअ ।। ३०.१ ।।

हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन अध्याय ७ ।

हिन्दी के मुक्तककारों ने इसी रति को मुक्ति के समान सुखद माना जिसमें चमक-तमक, हँसी, मजाक, झपट तथा लपट हो। रीति कवियों ने विपरीत-रति को भी व्यंजित करने का उद्योग किया। अपभ्रंश के कवि ने प्रिय-दर्शन का प्रभावात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। नायिका की अभिलाष-दशा विभिन्न संदर्भों में विभिन्न रूप धारण करती है। कवि द्वारा कल्पित हर परिस्थिति एक नये भाव को उजागर करती है। नायक परदेश चला गया है। नायिका प्रियतम के आगमन की संभावना या असंभावना का निश्चय कौआ उड़ाकर करना चाहती है। कौआ उड़ाते समय ही सहसा उसका प्रिय आता हुआ दिखाई दे गया। इतने में उसकी आधी चूड़ियाँ उसके हाथ से निकल कर पृथ्वी पर गिर गयी और जो बची थी वे तड़क कर टूट गयी।[1] इस चित्र में दो प्रकार के भावों को एक साथ व्यंजित किया गया है—एक विरहजन्य दुर्बलता जिसके कारण नायिका की कृश कलाई से चूड़ियाँ निकलकर जमीन पर गिर पड़ती है दूसरा भाव प्रिय-दर्शन में उत्पन्न हुलास या खुशी से संबंधित है जो चूड़ियों के तड़कने से व्यंजित होता है। चूड़ियां इसलिए तड़क गयी क्योंकि प्रियदर्शन में नायिका एकाएक स्वस्थ हो गयी। यहाँ पर हर्षातिरेक की व्यंजना आंगिक परिवर्तन की असत्य या ऊहात्मक कल्पना से की गयी है जिसमें मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति के अनुकूल उक्ति-वैचित्र्य ऊहा आदि के होते हुए भी वियोग की अनुभूति की संक्रांति को चित्रित करने की मौलिक चेष्टा की गयी है। प्रिय-दर्शन का दूसरा प्रभाव एक नायिका के शिकायत से व्यक्त होता है। वह अपनी माँ से कहती है कि स्वस्थावस्था में सुख से मान किया जाता है किन्तु प्रिय के दिखाई देने पर हलबली में अपनी ही चेत नहीं रहती।[2] कवि मानसिक अस्वस्थता के कारण मान की असंभावना अंकित करना चाहता है। प्रियतम की अनुपस्थिति में मानसिक तनाव को कायम रखना संभव है। किन्तु प्रियतम के सामने आते ही सच्ची प्रेमिका के हृदय में भावना का तेज प्रवाह उद्वेलित होता है तथा मानसिक अस्वस्थता के कारण अपनापन भी विस्मृत हो जाता

१. वायसु उड्डावन्तिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
   अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥
   हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १९।

२. अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु।
   पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु॥
   हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १९

है। फिर मान की परवाह करना कठिन हो जाता है। यही नही प्रेम की प्रबल अनुभूति मे नायिका का अपनापन नायक में ही कुछ क्षणों के लिए खो जाता है। दोनों दृष्टान्तों की तुलना करने पर एक महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होता है। द्वितीय दृष्टान्त मे नायक और नायिका एक दूसरे से बहुत दूर नही थे। केवल मान के द्वारा कुछ क्षणों तक वियोग था वह भी प्रियतम की अनुपस्थिति मे, परन्तु प्रथम उदाहरण में नायक और नायिका के बीच दूरी और समय दोनो का बडा अन्तराल था। जिसके बाद दोनो का दर्शन हुआ जिसके कारण द्वितीय दर्शन की अपेक्षा काफी अधिक हर्ष हुआ होगा। हर्ष की अनुभूति के इसी महान् अन्तर को दर्शाने के लिए प्रथम चित्रण में कवि को ऊहा का सहारा लेना पडा।

तीसरी स्थिति बिलकुल सयोग की है जिसमे प्रिय के समक्ष कचर-कचर न खा सकने और घूँट-घूँट न पी सकने वाली नायिका के संकोच भाव की व्यंजना की गयी है।[1]

रीति-कालीन कवियो ने भी इसी पद्धति से प्रिय-दर्शन-जनित हर्षातिरेक को दर्शाने का प्रयास किया है। मतिराम की नायिका ने जब प्रियतम को परदेश से आया हुआ देखा तो हृदय मे इतनी हुलसित हुई कि उसकी चोली टूक-टूक हो गयी। इस चित्रण मे भाव व्यजना का द्विविध रूप नही दिखाई देता और हुलास मे उतनी शक्ति भी नही कि समस्त अंगों पर प्रभाव डाल सके। हिय मे हुलसनेवाला भाव कंचुकी तक ही प्रभाव डाल सका जबकि अपभ्रंश के कवि ने उसका प्रभाव हाथ तक मे माना। दोनो कवियो ने ऊहात्मकता को आधार बनाया है किन्तु मतिराम की उक्ति किंचित क्षीण हो गयी है।[2] प्रिय-दर्शन से उत्पन्न बेचैनी का अनुभव रीति-नायिका भी करती है। सखियाँ कहती है और वह खुद भी समझ रखती है परन्तु प्रिय के देखते ही उसका मन अपना रह ही नहीं जाता तो मान कहाँ धारण करे।[3]

१. खज्जइ नवि कसरक्केहि पिज्जइ नवि घुटेहिं।
एम्बइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठे नयणेहिं॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।४२३।२।

२. पति आयो परदेश तें, हिय हुलसी अति वाम।
टूक-टूक कन्चुक कियो, करि कमनैती काम॥१४५॥
हरदयाल सिंह : मतिराम मकरन्द, पृ० २१४।

३ तूहं कहति हौं आपहूं समझत सबै समान।
लखि मोहन जो मन रहै, तौ मन राखौं मान॥४५८॥
बिहारी-बोधिनी, पृ० १६४।

सौन्दर्य चित्रण के माध्यम मे श्रृंगारिक भावों की व्यंजना :

नायिका या नायक सभी के श्रृंगारिक भावों के आलम्बन बन सके इसके लिए यह आवश्यक है कि उनका रूप विधान सामान्य स्त्री पुरुषों से भिन्न हो। मुक्तक कवियो ने इसी दृष्टि से नायिका के अंगो के सौन्दर्य का चित्रण किया है। यद्यपि नायिका के नख से लेकर शिख तक के सभी अंगो का वर्णन मिलता है किन्तु महत्त्वपूर्ण अंगों मे नेत्र, मुख, उरोज आदि पर कवियो की दृष्टि अधिक रमी है। ये अंग अधिक कामोद्दीपक भी है। अत: इनके चित्रण मे अधिक सजगता बरतना स्वाभाविक है। नायक और नायिका एक दूसरे का दर्शन नेत्रो से करते है किन्तु नायिका की यह चितवन अन्य चितवनो से भिन्न होती है। इसमे स्निग्ध तथा मधुर भावो को व्यक्त तथा अभिव्यजित करने की पूरी शक्ति होती है। इसमे अपूर्व भावनात्मक प्रखरता तथा तीक्ष्णता भी होती है जो बर्छी की तरह हृदय मे पैठकर नायक को घायल कर देती है।[1] नायिका की बाँकी दृष्टि से देख लिये जाने पर नायक को अपने प्रति आकर्षण तथा आसक्ति के भाव का एहसास होने लगता है। इस तरह के प्रथम दर्शन मे अनुराग का अंकुर प्रस्फुटित हो जाता है। अपभ्रंश कवि ने एकदम काव्यात्मक अनुभूति से मिलाकर इसी भाव को संप्रेषित किया है—नायिका के भ्रूचक्र पर चक्षु ऐसा सुशोभित है मानो त्रिभुवन विजयी अनंग जनों को आज्ञा देता है। अनग-काम या श्रृंगार भाव का ही मूर्त्तरूप है। काम के द्वारा नायक को भोग का आमन्त्रण नही बल्कि आज्ञा दी जा रही है। आज्ञा मे स्वीकार की अनिवार्यता जुड़ी हुई है आमंत्रण मे नही। नायिका के भ्रू-चक्रों का सौन्दर्य रति-भाव को जागृत करने में पूर्ण समर्थ है क्योंकि उसमे विश्व-विजय करने की सामर्थ्य है। अत: नायक बरबस उस ओर आकर्षित होता है। नायिका के वय-परिवर्तन के साथ-साथ नेत्र भंगिमा भी बदलती जाती है और उसमे माधुर्य भावों की अभिवृद्धि होती जाती है। इस भाव को दर्शाने के लिए बाण को तीक्ष्ण करते हुए कामदेव का चित्र खीचा गया है। श्यामली के जैसे-जैसे नेत्र बंकिम होते जाते हैं वैसे-वैसे कामदेव अपने बाणो को पत्थर पर रगड़कर तीक्ष्ण बनाता जाता है—

---

१ बिट्टिए मइ भणिय तुहुं मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३३०।२

जिव जिव बंकिम लोअणहिं णिरु सामल सिक्खेइ।
तिवं तिवं वम्महु निअय सर, खर पत्थर तिक्खेइ ॥[१]

बिहारी ने भी नेत्रो की तीक्ष्ण प्रभावत्मकता को तीक्ष्ण बाण से व्यंजित किया। मतिराम ने काम की प्रबलता, स्नेह, लज्जा आदि भावों की वृद्धि को यों चित्रित करते है—

भौंहनि संग चढ़ाइयो कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह साथहिं बढ्यो, लोचन लाज उरोज ॥[२]

मुक्तककारो ने नेत्रो को गोपनीय भावाभिव्यक्ति का माध्यम भी बनाया है। जब रुष्ट नायक नायिका के बीच तिलभार सम्बन्ध भी नही अवशिष्ट रहता तो नायक निराश हो जाता है। किन्तु नायिका के नेत्रो द्वारा बार-बार देखे जाने पर वह आश्वस्त हो उठता है कि नायिका के मन मे उसके प्रति कही-न-कहीं प्रेम अवश्य शेष है।[3] रीति नायिका भी नेत्रो से विवश है। वह अपने स्नेह को छिपाना चाहती है किन्तु सतरोही भौएँ उस प्रेम को व्यक्त कर देती हैं।[४]

नयन से नयन मिलने पर मुख-सौन्दर्य ही एक दूसरे को आकर्षित करता है। इसीलिए मुख को शोभायमान चित्रित करना मुक्तक-कवियों के लिए स्वाभाविक था। सम्पूर्ण शारीरिक अंगो के सुसस्थित तथा सौन्दर्ययुक्त होते हुए यदि मुख की रचना सुन्दर तथा आभायुक्त नही है तो नायिका सुन्दरी नही मानी जा सकती है। इसलिए मुक्तक कवियो ने अपनी नायिका के मुख सौन्दर्य को चित्रित करते समय सारे प्रचलित उपमानो चन्द्रमा, कमल आदि को हीन ठहराया। प्रारम्भ मे इन उपमानो मे नायिका के मुख सौन्दर्य की कान्ति, कोमलता आदि व्यंजित करने की पूरी शक्ति रही होगी परन्तु धीरे-धीरे रूढ़ उपमानो की शक्ति क्षीण होती गयी। मुक्तक कवियो ने नये उपमानो की खोज मे अधिक श्रम नही किया बल्कि अपनी नायिका को अपूर्व सुन्दरी बताने के लिए जगह-जगह अतिरंजनाओं तथा चमत्कारो से काम लिया। इन चित्रणो मे

१. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।३४४।१।
२. सतसई संग्रह . मतिराम सतसई, १२३, ७८।
३. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३५६।१।
४. सतरौही भौंहनि नही दुरै दुराए नेह।
होति नाम नंदलाल कौ नीपमाल सी देह ॥

मतिराम सतसई, १२२ ६६।

मूल भाव यही रहा होगा कि सामान्य जीवन मे दृष्टिगत होनेवाली स्त्रियो से नायिका का सौन्दर्य इतना बढा चढ़ा हो कि उसकी कल्पना मात्र से सुप्त भाव जागृत हो उठे और पाठको को रसानुभूति होने लगे । परन्तु ऐसे अत्युक्तिपूर्ण चित्रणो मे साधारणीकरण के अभाव तथा लोक-निरीक्षण से प्राप्त सौन्दर्यानुभूतियों से बिलकुल अलगाव के कारण भावोद्रेक नही हो पाता । मुख की शोभा के वर्णनों में यह बात उतनी संगत नही है जितनी उरोजों और कटि के वर्णनों में क्योंकि मुख सौन्दर्य के चित्रण मे अधिकतर मुख कान्ति (प्रकाश) के सम्बन्ध में ऊहा की गयी है । यहाँ तो व्यंजना के सहारे इतना समझा जा सकता है कि मुख की आभा असाधारण है । परन्तु उरोजों का चित्रण करते समय कवि उसे हृदय फोड़कर निकलनेवाले निर्दयी की तरह मानता है[१] और उनकी उत्तुंगता इतनी अधिक है कि वे रति में साधक न होकर बाधक हो गयें है ।[२] भाव-व्यंजना इन चमत्कारो मे उलझ जाती है किन्तु अपभ्रंश मुक्तककारो ने रीति कवियो की अपेक्षा अधिक मर्यादा मे काम लिया है । रीति-कवियो ने मुख की आभा को कुछ और चमत्कारिक बनाकर शृंगारिकला से विरहित कर दिया । या इसे यो कहा जाय कि उनका रूप-चित्रण शृंगारिक भावो के अन्तर्गत न आकर शृंगारिक वर्णनो के अन्तर्गत आ गया । बिहारी की नायिका का पूर्ण मुख-चन्द्र सदैव उदित रहता है । अतः उसके घर के आसपास पत्रा से ही तिथियों का ज्ञान किया जा सकता है । स्तनो के सौन्दर्य चित्रण में कठोरता के प्रतिमान को रीति कवियो ने भी ग्रहण किया[३] लेकिन उसे भी वर्णन का स्वतन्त्र विषय बनाकर वे कला के प्रदर्शन मे तल्लीन हो गये अतः भाव-व्यजना की ओर से उनका ध्यान हट गया । अपभ्रंश के कवियो ने नायिका के कटि की क्षीणता का चित्रण अभिधात्मक शैली में किया तथापि उनका समस्त चित्रण भावोत्तेजक है किन्तु रीति-कवियों ने कटि-हीन-नायिका की कल्पना करके उसकी सामान्य भौतिक सत्ता ही समाप्त कर दी ।

प्रकृति के माध्यम से शृंगारिक भावों की व्यंजना ·

मुक्तक काव्य के अन्तर्गत प्रकृति का उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रण की परिपाटी सर्व प्रचलित थी । संयोग की अवस्था में सुरम्य प्राकृतिक दृश्यो से

१. फोडेन्ति जे हियडउं ताह पराई कवण घृण ।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पण बालहे जाआ विषम थण ॥२॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १७ ।

२. वही, पृ० ४५ ।

३. ऐसो उरज कठोर तौ उर जु कठोर—मतिराम सतसई, दोहा ११८

भोग की अभिलाषा और भी उद्दाम हो उठती है। प्रकृति की मादकता के प्रभाव से छोटे वियोग संयोग मे बदल जाते है। मान के प्रसंगों मे इसीलिए नायक और नायिका दोनो के लिए उद्दीपक ऋतुएँ दुःसह हो जाती है। नायिकाओं की रुष्टता पाश्चाताप में बदलने लगती है। आत्म गौरव की रक्षा के लिए नायिकाएँ तब भी मान पर अटल रहती है किन्तु सखियों को इस बात का पूरा ज्ञान रहता है कि काम सतप्त तथा वियुक्त नारी के लिए रमणीय ऋतुएँ कितनी भयंकर होती है। अगर प्रियतम बाहर है तो इन ऋतुओ द्वारा अभिवृद्ध वियोग का दु:ख किसी न किसी रूप मे सहना ही पडता है परन्तु यदि प्रियतम निकट ही है और मिलन नही होता तो और भी पीडा होती है। क्योकि निकटस्थ प्रियतम की स्थिति से संयोग की लालसाये तीव्र हो उठती हैं। नायिका को समझाती हुई सखियाँ कह रही है कि यह चन्द्रमा कहीं तुम्हारे लिए उल्कापात न बन जाय, मदनाग्नि को संक्षुब्ध करनेवाला मलयानिल कही तुम्हें पीड़ित न करे। यदि कही मदन-बाण खड़खडाकर तेरे ऊपर गिर गया तो गजब हो जायेगा। मदन-बाण का खडखड़ाकर गिरना काम-भावनाओ की तीव्र चोट को व्यंजित करता है।[1] अपभ्रंश के मुक्तक कवियो ने षड्ऋतु वर्णन के माध्यम से विरहिणी नायिका की बदलती हुई भाव दशाओं को पूरे प्रकृति के परिप्रेक्ष्य मे चित्रित किया है। प्रत्येक ऋतु अपने नवीन वैशिष्ट्य के साथ नायिका के आगे प्रस्तुत होती जाती है। अन्य नायिकाएँ इन ऋतु परिवर्तनों मे आनन्द-केलि करके तृप्ति का अनुभव करती है किन्तु विरहिणी नायिका हर स्थिति मे वेदना की ही अनुभूति करती है। प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति का अपना निजी सौन्दर्य भी चित्रित होता चलता है जिसमें आनन्द की अलग अनुभूति भी होती है। यद्यपि ऋतु-वर्णन का मूल उद्देश्य विरहिणी के अपार विरह दु:ख को व्यंजित करना ही होता है। 'संदेश-रासक' मे षड्-ऋतु वर्णन की शैली अपनायी गयी है और प्रकृति-व्यापार को विरह-वेदना की पृष्ठभूमि के रूप मे अपनाया गया है। कवि ने ऋतुओ के चित्रण मे कही-कहीं पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है जो स्वयं भावोत्पादक तथा आनन्ददायक है।

अपभ्रंश कवियो ने प्रकृति को निर्जीव तथा भावोद्दीपक मात्र नही समझा। विरह-दशा मे कवियो ने भाव-विस्तार के चित्रणो की परम्परा निभायी है। विरह मे जब नायिका का हृदय जलता रहता है तो उसे सारी सृष्टि जलती हुई दिखाई देती है किन्तु अपभ्रंश के कवियों ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत ही

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन—७·५ पृ० १६५।

शृंगारिक भावों का विस्तार से चित्रण किया है जो अधिक मार्मिक तथा मौलिक है। ऐसे स्थलों पर वे काव्य शास्त्रीय आलम्बन तथा उद्दीपन आदि विधि-विधानों से बिलकुल स्वतन्त्र हैं। अपभ्रंश मुक्तककारों ने प्रकृति को मानवीय संवेदनाओं से जोड़ने का उद्योग किया है। शृंगार का भाव ऐसा भाव है जिसकी व्यापकता मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियों तक में है। किन्तु जड़ कहे जानेवाले लता-वितानों में भी शृंगारिक अनुभूति की कमी नहीं है परन्तु इसका अनुभव कवि ही कर पाता है। फिर वह मानवीय भावों तथा अनुभूतियों से जोड़कर अपने उस विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करता है ताकि पाठकों के लिए वह बोध-गम्य हो सके। पावस के चित्रण में कवि इन्द्र गोप की लाल कान्ति को पावस-लक्ष्मी के चरणों में लगे हुए अरुण महावर के रूप में कल्पित करता है। उसे प्रभूत-शोभावाली बिजली की रेखा जात रूप की रेखा के समान प्रतीत होती है।[१] प्रकृति अपनी स्वाभाविक रमणीयता के द्वारा कवि को आकर्षित नहीं करती बल्कि अलक्तक से रंजित पगों तथा कंठिका से युक्त नारी रूप में उसके हृदय में शृंगारिक भावों को उद्बुद्ध करती है। इसी तरह कवि ने बसन्त श्री तथा शरत् लक्ष्मी का चित्रण किया है।[२] अम्बर में बिखरे हुए तारे अपनी टिमटिम आभा से आकर्षक नहीं है बल्कि वे नायिका की किंकिणी के घूँघुर बन जाते हैं। कवि कहता है कि ये नक्षत्र मालायें नहीं हैं बल्कि रात और चन्द्रमा रूपी नायक नायिका के रति-क्रीडा के समय उल्लालित किंकिणी के घुंघुर हैं। क्रीडा के बाद किंकिणी के घुंघुरुओं का बिखर जाना कितना स्वाभाविक है। शृंगार की यह विराट् भावना अपभ्रंश कवि के मानस में प्रस्फुरित हुई थी। बसंत के द्वारा प्रकृति में मदनजय नाटक का अभिनय किया जा रहा है जिसमें मत्त कोयल का स्वर द्वादश तूर्य के घोष के समान है। शृंगाररस का उद्गार प्रधान रस है।[३] प्राण और प्रेम दोनों की द्विधा का चित्रण करके कवि पाठकों की संवेदना जगाने की कोशिश करता है। एक तरफ तो गर्भ से अलस हरिणी एक पग भी नहीं चल पाती। दूसरी तरफ कर्णारोपित बाणों वाला बहेलिया वर्त्तमान है। इस स्थिति में मृग क्या करे? यदि हरिणी की अपेक्षा करे तो लुब्धक द्वारा नष्ट हो जाये। यदि लुब्धक से

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ५।१७३।८.१

२. वही, ६।२१०।५.१

३. वही, ५।१७६।१७.१

त्रस्त होता है तो हरिणी नष्ट होती है।[1]

रीति-कवियों ने भी प्रकृति पर नारी भावों को आरोपित करके श्रृंगारिकता की व्यंजना की है। केशवदास ने हेमन्त ऋतु का चित्रण प्रीतम-विमुख प्रिया के रूप में तथा शिशिर की शोभा का चित्रण वीरांगना के रूप मे किया है।[2] प्रकृति मे नृत्य तथा गान का चित्रण करके नाटकीयता के द्वारा भाव व्यंजना की चेष्टा रीति कवि द्विजदेव ने भी की है—

रचि नाच लतागन तानि वितान
सबै विधि चित्त चुरायो करै ।।[3]

हिन्दी के रीति-कवियो ने भी श्रृंगारिक भावों के अन्तर्गत प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत विशेष रूप से चित्रित किया है। अपभ्रंश कवियों की तरह ही हिन्दी रीति-मुक्तककारो का भी यही लक्ष्य था कि प्रकृति के माध्यम से नायिका के श्रृंगारिक भावो को अधिक प्रगाढ बनाकर उनकी तीव्र व्यंजना की जाय। यद्यपि भाव-व्यंजना के लिए इन कवियो ने ठीक वैसी परिस्थितियों की कल्पना की किन्तु भाव-चित्रण में विशेष मौलिकता न होने के कारण भाव-व्यंजना उतनी गम्भीर तथा मार्मिक नहीं हो सकी। जहाँ पर प्रकृति का आलम्बन रूप मे स्वतन्त्र चित्रण हुआ है वहाँ सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ भावानुभूति भी होती है। पावस की प्रचंडता का चित्रण करता हुआ कवि गोपियों के समर्पण भाव को व्यंजित करता है।[4] 'संदेश-रासक' की नायिका जिस प्रकार पपीहा, चातक, सारसी आदि को बोलने से

---

१. एत्तहे गब्भभरालस हरिणी पउ न हु एक्को वि सचरइ।
एत्तेहे कण्णारोविअसरु हयलुद्धउ भण मिउ किं करइ।।
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७।१२, १

२. रीतिकाव्य नवनीत संपादक—भगीरथ मिश्र . कविप्रिया—ऋतुवर्णन, छ० २०, २१।

३ सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी . श्रृंगार लतिका सौरभ—पृ० ८, ६.२४।

४. बुद्धि बल थाको सोई प्रबल निसा को मेघ,
देखि ब्रज सूनो बैर आपनो गहतु है।
एहो गिरधारी राखो सरन तिहारी,
अब फेरि यहि बारी ब्रज बूड़न चहतु है ।।३।।
द्विजदेव · रीति-काव्य नवनीत-प्रकीर्ण प० ६३।

वर्जित करती है उसी तरह देव की नायिका भी कहती है कि पावस आ गया किन्तु प्राण प्यारे नहीं आये। हे सखी मेघों को वर्जित कर दो कि गरज न सुनावे। दादुरो की वक कान को फोडे दे रही है। चातक के गान, मोर के शोर तथा घन की घुमड़ उसे रुचिकर नहीं लगते। विरह-व्यथा मे व्याकुल पड़ी हुई इस नायिका के चित्त मे जुगुनी की चमक मे चिनगी लग जाती है। विकट दुख के समय सभी वस्तुओ के प्रति एक अरुचि का भाव जागृत हो उठता है। नायिका को भी प्रियतम के अभाव से तीव्र अरुचि पैदा हो गयी है।[1] बूँद से अंगो का ताप शान्त होता है किन्तु पानी से नायिका की शरीर मे और आग लग जाती है यह आश्चर्य की बात है।[2] इसी तरह के आश्चर्य का अनुभव 'संदेशरासक' की नायिका को भी हुआ था। जिन रस-मत्त मधुकरों को देखकर अपभ्रश की नायिका को अपने प्रियतम की अरसिकता पर आक्रोश आया था उन्ही माधुरी मधु के गध से मस्त, घूमते हुए भ्रमरों का बिहारी ने स्वतन्त्र चित्रण किया है। वियोग शृंगार के अन्तर्गत मान की दुष्करता का चित्रण वसन्त तथा पावस जैसी ऋतुओ मे असभव है इसकी व्यजना हिन्दी मुक्तककारो ने भी बडी सफलता से की है। सखियाँ राधा से कहती है कि यह ऋतु रुठने योग्य नही है। ये बरसने वाले मेघ हर्षित होकर पृथ्वी के हित के लिए बरस रहे है। मानवती नायिकाएँ हर्षित होकर प्रियतम से मिल रही है।[3] बडे-बडे बूँदो से

---

१ आयी ऋतु पावस न आये प्रान प्यारे याते,
मेघनि बरजि आली गरज सुनावै ना।
दादुरनि कहि, बकि बकि जनि फोरै कान,
पिकनि हटकि, हठि सबद सुनावै ना॥
विरह-विथा मे हौं तो व्याकुल परी हौं देव,
जुगनू चमकि चित चिनगी लगावै ना॥
चातक न गावै मोर सोर न मचावै घन,
घुमडि न आवै जौ लौं कान्ह घर आवै ना॥५॥

रीतिकाव्य नवनीत देव, पृ० ६५।

२. बूदे लगै सब अंग दगै उलटी गति अपने पापनि पेखी।
पौन सो जागति आगि सुनी है पै पानी सो लागति आँखिन देखी॥

वही, घनानन्द, पृ० ८८।

३. यह ऋतु रुसिबो की नाही।
बरसत मेघ, मेदिनी के हित प्रीतम हरषि मिलाही॥

सूरसागर, पृ० १०६४, पद ३३६४।

युक्त पानी के आगमन की चर्चा करके एक सखी नायिका को मान धारण करने की दुष्करता का अहसास कराती है।[1]

विरह-भावों की व्यंजना .

प्राय: समस्त लौकिक मुक्तककारों ने शृंगार चित्रण के अन्तर्गत वियोग शृंगार को अधिक चित्रित किया। मुक्तककारों ने विरह वर्णन के अंतर्गत ऊहात्मकता को अधिक प्रश्रय दिया अत: अधिकतर प्रसंगों में भाव-व्यंजना काफी कमजोर पड़ गयी है किन्तु स्वाभाविक तथा मार्मिक स्थलों का भी एकदम अभाव नही है। विरह दु:ख से पीडित नायिका की दुर्बलता, पीलापन, निरन्तर रोदन आदि प्रिय के प्रति उसके अत्यधिक लगाव को ही व्यक्त करते है। विरह-विधुरा नायिका की दशाओं का चित्रण करते हुए कवि ने कुछ दृष्टान्तों के सापेक्ष मे उसका चित्रण किया जो सारे भावों को व्यंजित करने मे समर्थ है। नायिका प्रिय के वियोग में सदैव रोती है, उसके गाल पीले पड गये हैं। वह अत्यधिक दुर्बल हो गयी है। इन सब का असर मुख-सौन्दर्य पर पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिए उसका मुख शिशिर के कमल के समान हतश्री हो गया है।[2] प्रियतम के अभाव मे नायिकाओ में अन्य चीजो के प्रति अरुचि का भाव आ जाता है अत. वे कुसुम-चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन बन्द कर देती हैं। 'सदेशरासक' की नायिका खीझकर अपने पति को बुरा-भला कहती है किन्तु हर स्थिति मे वह प्रियतम की प्रिया ही बनी रहती है। कभी-कभी उसकी खीझ बहुत अधिक बढ़ जाती है। वह उसे निरक्षर तस्कर, निर्दय, मूर्ख, खल, पापी सब कुछ कह डालती है क्योंकि विलपती हुई उसे वह आश्वासन नहीं देता।[3] नायिका अपने प्रिय को कापालिक कहती है क्योंकि अब वह भी कापालिनी हो गयी है। वह कापालिको की तरह हर क्षण अपने एक हाथ में कपाल धारण किये रहती है, आसन (शय्यासन) कभी नही छोड़ती तथा प्रिय के मोह में सदैव विषम समाधि लगाये रहती है।[4] इस उदाहरण में प्रेम की एकनिष्ठता, खीझ आदि भावो की एक साथ व्यंजना होती है। प्रिय के लिए प्रयुक्त ये विशेषण विरह के संदर्भ में उसके प्रति नायिका के अतुल प्रेम

१. डॉ० किशोरी लाल : रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० ४३१।
२. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २२।
३. सदेशरासक—छन्द १६१, पृ० १६१।
४ संदेशरासक छन्द ८६ पृ० १६६।

तो ही प्रकट करते हैं। 'जिन्होने ग्राम-बधुओं को अपने पतियों से झगड़ते या उनको कोसते देखा है उन्हें यह समझने मे कठिनाई नही होगी कि साधारणतः ये निन्दार्थक विशेषण जब उच्छल प्रेम-रस से परिपूर्ण होकर व्यवहृत होते है तो उनमें कितनी मधुरिमा और भाव-व्यंजकता निहित रहती है।[१] कवियो ने नायिकाओं की दीन-हीन दशा, अत्यधिक कृशता आदि का चित्रण करके व्याकुलता तथा विरह-कातरता व्यंजित की है। कही-कही कवियो ने भावों को व्यक्त करने के लिए नायिका की भाव-विकल चेष्टाओं से ही काम लिया है। ऐसे स्थल अधिक मार्मिक तथा संवेदनशील बन पड़े है। मध्यकालीन नायिका अपने प्रियतम के लिए हजारो संदेशों को अपने हृदय में संजोती हुई पथिको की प्रतीक्षा करती रहती थी। ऐसे समय मे यदि कोई दिखाई दे जाता था तो संदेश देने के लिए उसके हृदय के अनन्त भाव उमड़ पड़ते थे। सदेश देने की उत्कण्ठा की अधिकता सदेश देने की शीघ्रता के कारण भले ही नायिका के नितम्बों से करधनी खिसककर गिर पडे, उसकी किंकिणियों का स्वर फैल जाय। स्थूल मुक्ताओं की हारलता टूट जाय। चरणो की दुर्बलता के कारण नूपुर ही निकलकर दूर छिटक पडे।[२] नायिका अपने प्रिय में पौरुष तथा लज्जा का भाव जागृता करना चाहती है वह कहती है कि तुम मेरे हृदय मे स्थित हो। तुम्हारे पौरुषवान व्यक्ति के रहते मुझे इस गुरुतर पराभव को सहना पड रहा है। क्योकि जिन अगो के साथ तूने विलास किया था उन्हें अब विरह जला दे रह है।[3] निराशा के भावों से युक्त नायिका ने मनोदूत भेजा पर वह भी लौटकर नहीं आया।[४] नायिका देखती है कि भ्रमर तरुओ पर (मधु) चाटते हुए परस्पर बिंध जाते है। वे तीक्ष्ण कंटाग्रो की परवाह नही करते। रसिक लोग रस लोभ

---

१ संदेशरासक (भूमिका)—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ० १३४-३५।

२. वही, द्वितीय प्रक्रम, पृ० १५२-१५३।

३. कतु जु तइँ हिअयट्ठियह विरह विडबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ परपरिहव संताउ॥७६॥
गरुअउ परिहसु किन सहउ पइ पउरिसुनिलएण।
जिहि अंगिहि तं विलसयउ ते दद्धा विरहेण॥७७॥
संदेशरासक—पृ० १६४

४. संदेशरासक, पृ० १६३ छन्द सं० १६७, १६८, १६६।

मे शरीर दे देते हैं। प्रेम मोह मे पापो की परवाह नही की जाती है।[1] नायिका की यह चिन्तादृष्टि है। रसिकों मे इस तरह की उत्कट भोग लिप्सा जागृत हो जाती है कि वे काँटो की परवाह नही करते किन्तु उसका प्रियतम तब भी नही आता इसके माने वह अरसिक हो गया है। नायिका को अपने पति की मनःस्थिति पर कितनी खीझ होती है तथा अन्य रसिको की भोग लिप्सा से कितनी ईर्ष्या इसकी बड़ी मार्मिक व्यंजना भ्रमरों के चित्र से करायी गयी है।

अन्य मुक्तकों में उद्दीपन विभाव के रूप में बसंत पावस तथा शरद को ही विशेष रूप से चित्रित किया गया है। एक तरफ एकाकिनी नायिका है दूसरी ओर मेघ रूपी राक्षस की जीभ की तरह विस्फुरित होती विद्युत्मालिका। नायिका ऐसी परिस्थिति मे कैसे जी सकती है।[2] प्रवासी नायक भी पावस के प्रभाव से अछूते नही है उनके हृदय मे गौरी शालती रहती है। यह है प्रेम की कसक जिसे नायक अनुभव करता है। नायिका अपने प्रिय को सन्देश देती हुई भी लज्जित होती है क्योकि वह प्रवास करते समय प्रिय के साथ नही गई या जिसके वियोग में मरी नही।[3] बेचारी नायिका को इस बात की शका है कि उसके प्रेम में कही कोई कमी तो नही है। प्रियआगमन की आशा से वह पथ को निरखती रहती है कि कही उसका पति आता हुआ दिखाई दे जाता।[4]

रीति-कवियो ने वियोगिनी नायिका की भाव-दशाओं की अभिव्यंजना पर उतना ध्यान नही दिया जितना कलाबाजी पर। उनकी नायिका वियोग की संभावना मात्र से पीली होने लगती है तथा भूषण वसन सब कुछ त्याग देती है।[5] जबकि अपभ्रंश में पूर्ण वियोगिनी नायिका की इस तरह की दशाएँ होती

---

१. विज्झति परुप्पर तरु लिहंति, कटंगतिक्ख ते णहु गणति।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि णहु पाउ गणिज्जइ पिम्ममोहि ॥२०६॥
संदेशरासक पृ० १६५।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।१६·२३।

३. हेमचन्द्रः अपभ्रंश, व्याकरण पृ० ६६।

४. हेमचन्द्र' छन्दोऽनुसासन, ६।२०२।२०·१४

५. जा दिन तें चलिबे की चलाई तुम,
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है।
कहै मतिराम, छोडे-भूषन बसन पान,
सखिन सों खेलनि हंसनि बिसराई है ॥
स० कृष्ण विहारी मिश्र मतिराम ग्रन्थावली पृ० २४८ छन्द २०६

है। अपभ्रंश को नायिका वियोग की कठोर यातना तथा प्रहारों को सहती हुई प्रियतम से मानसिक लगाव रखती है तथा उसकी तन्मयता में कमी भी नहीं आती। नायिका का यह विश्वास कि नायक हाथ छुड़ाकर भले ही चला जाय पर हृदय से नहीं जा सकता है अंत तक सुरक्षित दिखाई देता है। रीतिकाल की नायिका अपनी ननद में ही पति का अनुहार देखकर जीती रहती है। प्रथम की भावस्थिति अधिक गम्भीर तथा दुरूह है जब कि दूसरी भावस्थिति कुछ सरल तथा निकट अनुभूतियों के सन्तोष पर निर्भर है।[1]

मधुर वस्तु जो खात निरन्तर सुख से भारी।
बीच बीच कटु अम्ल तिक्त अतिशय रुचिकारी॥

नन्ददास की इस उक्ति में इस बात की व्यंजना की गयी है कि शृंगार के मधुर भावों का निरन्तर आस्वाद लेते-लेते अरुचि सी उत्पन्न हो जाती है बीच-बीच में मान या विरह का कटु अनुभव भी अतिशय रुचिकारी होता है। अपभ्रंश कवियों द्वारा चित्रित मान अधिकतर प्रणयमान है जिसमें एक प्रकार की आनन्दानुभूति है। नायिका की एक उक्ति में यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। नायक विदेश चला गया है। नायिका कहती है कि प्रिय आयेगा मैं रूठूंगी तो वह मुझे मनायेगा[2]।

रीति कवियों ने भी उपर्युक्त चित्रणों में मिलते जुलते प्रसंगों की उद्‌भावना से प्रेम की अनन्यता, एकाग्रता तथा निरन्तरता को व्यंजित किया है—

सखी सिखावति मान-विधि सैननी बरजत बाल।
हरुएं कहि मो हिय बसत, सदा बिहारी लाल॥[3]

रीति कवियों ने मान के सरस प्रसंगों की उद्‌भावना प्रायः कलहांतरिता, खंडिता और धीरादि के संदर्भों में की है और ऐसे वर्णनों में उनकी प्रगाढ़

---

१. जा दिन ते परदेश गये पिय ता दिन ते तन छीजुत है।
निशिवासर मौन सुहात नहीं सुधि आये उसासन लीजतु है।
अब और उपाय बनै न कछू अनुभौ इतनौ सुख कीजतु है।
उन प्यारे पिया की उन्हारि सखी ननदी मुख देखिके जीजतु है।
सं० प० वन्दीदीन दीक्षितः प्रयाग नारायण विलास, पृ० ४०।

२. एसी पिउ रूसेसु हउं रुट्ठी मइं अणुणेइ।
पग्गिम्ब एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।

३. लाल-चन्द्रिका, पृ० ७१२।

तन्मयता और हृदय की सहज तरलता का प्रस्फुटन स्वतः हुआ है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर जैसे रीति युग के कलाकारों ने कहीं व्यंग्य गर्भित शैली द्वारा सीधे सादे ढंग से अवसाद और विषाद की मार्मिक अभिव्यक्ति की है।[1]

प्रवासजन्य वियोग मे भी अपभ्रंश कवियों ने वियोग भावों को व्यंजित करने की चेष्टा की है। विरह की पीडा जितनी दुखदायी होती है उसकी संभावना कम भयंकर नही। नायक के विदेश चले जाने पर नायिका क्षण भर भी नही जी सकेगी। दोनों के अलगाव की असंभावना सारस मिथुन के वियोग से लक्षित की गयी है।[2] प्रवास के लिए तैयार पति के प्रातःकाल गमन के निश्चय से नायिका अपने जीवन के अन्त की परिकल्पना करती है। वह हाथ मीजकर पश्चाताप करती है। कवि एक कलात्मक उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह अपने आयु की रेखा को मिटा दे रही है।[3] अपभ्रंश के उदाहरण मे नायक और नायिका दोनो पक्षों मे प्रेम की बराबर उत्कृष्टता है। यहाँ नायिका ही अधिक बेचैन है तथा जीवन के अन्त होने की चिन्ता मे संत्रस्त है।

प्रेम मे एकान्तिकता का भाव पाया जाता है। लौकिक शृंगार में प्रेमी अपने प्रेमास्पद पर एकाधिकार चाहता है। वह अपनी प्रिया को अन्य पुरुष की भोग्या नहीं बनने देना चाहता। इन समस्त भावो को दन्तक्षत जैसी काव्य रूढि के आधार पर व्यंजित किया गया है। कवि कहता है कि नायिका का रदनव्रण ऐसा लग रहा है मानो निरुपम रस पीकर प्रिय ने शेष पर मुद्रा लगा दी ताकि अन्य लोग उसका पान न करें। रीतिकाव्य मे इस तरह की भाव-व्यंजना शायद ही मिलती हो।

संदेश-रासक की नायिका की तरह घनानन्द की नायिका की मरणावस्था आ गयी है। किन्तु अब भी उसकी इच्छा है कि प्रियतम क्षण भर के लिए आकर वियोग के वटवृक्ष पर बैठकर उसकी पीड़ा का अनुभव करता। इस चित्र में वियोगिनी के दैन्य की चरमावस्था तथा असह्य वेदना का चित्र खीचा गया है—

---

१. डॉ॰ किशोरी लाल : रीति-कवियो की मौलिक देन पृ० ४३२।

२. हेमचन्द्र: प्राकृत व्याकरण, ४।४३६।३।

३. यो कर मीजत है बनिता सुनि प्रीतम को परभात पयानो।
आपने जीवन को तकि अन्त सु आयु की रेख मिटावत मानो॥
सरदार शृगार-संग्रह, पृ० ११२।

हम सों हित कै कितको हित ही बित बीच वियोगहि बोय चले।
सु अखैबट बीज लौं फैलि पर्‌यो बनमाली कहाँ धौं समोय चले॥
घन आनन्द छाप बितान तन्यो हम ताप के आतप खोय चले।
कबहूं तिहि मूल तो बैठिये आय सुजान ज्यों बाय के रोय चले॥[1]

नायिका कुछ शारीरिक दुर्बलता के कारण और कुछ लज्जा के कारण संदेश देने में अपने को असमर्थ पाती है। कई भावों को संश्लिष्ट करके रीति-स्वच्छन्द कवि बोधा ने मार्मिक चित्र अंकित किया है—

कबहूँ लिखिबो कबहूँ मिलिबो यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै गरै ते फिरे मन की मन ही मे सिरैबो करै॥
कवि बोधा न चाउ सरी कबहूँ नित ही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बने कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै॥[2]

ऊहात्मक चित्रणों में भी भाव-व्यंजना की बिलकुल उपेक्षा नहीं की गयी है। कृश कलाइयोंवाली नायिका वलय के पतन के भय से हाथों को ऊपर उठाकर चलती है कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह विरह महोदधि का थाह लेना चाहती है।[3] यहाँ विरह की अगमता व्यंजित है। यह विरह का अगम पारावार नायिका के हृदय मे समाता नही। वह कहती है कि हे हृदय तू फट जा। देखें कि मेरा दुर्भाग्य तेरी बिना सैकडों दुखो को कहाँ रखता है।[4] उक्ति चमत्कार से युक्त होते हुए भी ये दोहे दुखमय जीवन से ऊबी नायिका की मन: स्थिति के अनुकूल है।

मान के संदर्भों मे नायिका या नायक की रुष्टता को व्यंजित करना कवियों का मुख्य लक्ष्य होता है परन्तु अपभ्रंश के मुक्तक कवियों ने इन्हीं संदर्भो मे नायिका के प्रेम की अनन्यता, निरन्तरता, रूप-गौरव, ईर्ष्या, प्रणय आदि भावों की अभिव्यंजना में सफलता हासिल की है। प्रिय के विप्रिय हो जाने पर आग के समान उसकी आवश्यकता बनी रहती है। उसका पक्षपाती मन सदैव प्रियतम के साथ ही रहता है। मुग्धा नायिका को इस बात का सदैव एहसास होता रहता है कि प्रियतम के प्रति उसका मानसिक लगाव अटूट

---

१. सं० पं० विश्वनाथ प्रसादमिश्र घनानन्द कवित्त-पृ०७४ छ० सं०१३३।
२. बोधा : इश्कनामा, पृ० २१।
३. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।
४. वही, पृ० २३।

और अभिन्न है। इसलिए जब सखियाँ सदोष पति की निन्दा करती है तो वह उन्हें यह कहकर वर्जित कर देती है कि वे इस बात को एकांत मे बताये ताकि उसका पक्षपाती मन प्रियतम की निन्दा न सुन सके।[1]

धार्मिक मुक्तकों मे भाव व्यंजना तथा भाव-निरूपण :

मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी भाव से प्रेरित रहता है। जिस तरह शृंगारी या लौकिक कवि लौकिक चित्रणो के माध्यम से सामान्य मानवीय भावो को व्यंजित करने की चेष्टा करते है उसी तरह धार्मिक कवि लौकिक सुखों के निषेध के द्वारा आध्यात्मिक भावो को जागृत करते है। धार्मिक कवियो मे यह दृढ विश्वास होता है कि लौकिक भावों के आधार पर की गयी रसानुभूति क्षणिक है जबकि आध्यात्मिक भावो की प्राप्ति से हुई आनन्दानुभूति शाश्वत तथा श्रेष्ठ है। अत: धार्मिक काव्य मे उदात्त मानवीय भावों को व्यंजित किया गया है। यद्यपि ये भाव-सामाजिक जीवन मे भी निर्देशक तत्त्वों के रूप मे मान्य है अत. इन भावो के चित्रण मे कोई विशेष प्रभावात्मकता परिलक्षित नही होती है। कवियों ने आत्म-कल्याण की अपेक्षा परोपकार को अधिक श्रेष्ठ ठहराया इसीलिए दान की महिमा का चित्रण बडे विस्तार से किया है। दान को महत्त्वपूर्ण बताने के लिए कवियो ने विशेषत. दो मानवीय गुणों को आधार बनाया। प्रथम मनुष्य श्रेष्ठता की भावना को सरक्षित रखने के लिए कुछ ऐसे कार्यो का सपादन करता है जो कि सामान्य जीवो के द्वारा करणीय कार्यों से भिन्न होते है। दान के बिना कोई गृहस्थ गृहस्थ कहलाने योग्य नहीं है ऐसा होने पर तो पक्षी भी गृहस्थ है।[2] दूसरी सामान्य मानवीय भावना है प्रतिदान की अर्थात् वह कुछ देकर उसके बदले में कुछ पाना चाहता है। यदि कम मूल्य अथवा परिमाण की वस्तु देने से उसे किसी महत् तथा बहुमूल्य वस्तु की प्राप्ति होती है तो शीघ्र ही लाभ की भावना से प्रेरित होकर उस वस्तु के दान के लिए तैयार हो जाता है। कवि कहता है कि जो दिया जाता

---

१. भण सहि निहुअउँ तेव मइं जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेव न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५४।

२. जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पभणिज्जइ कोइ।
ता गिहत्थु पंखि वि हवइ जे घरु ताहवि होइ
दोहा-दो० ८८ पृ० २८।

है उससे अधिक प्राप्त होता है जैसे गाय को खली-भूसा देने से क्या वह दूध नही देती ?[1]

धार्मिक तथा रहस्यवादी कवियो मे आचारपरक नैतिक मूल्यो तथा गुरु के प्रति श्रद्धा का भाव पाया जाता है। इसी भाव से सारी मानवता को रंजित करने के लिए वे उपदेशक का रूप धारण करते है उनमे गुरु के प्रति अन्ध-श्रद्धा नही है बल्कि उसके गुणो और कल्याण भावों के आकर्षण से श्रद्धा प्रस्फुटित हुई है। संयमशील, शौच और तप से युक्त गुरु के उपदेश मे नर शिवपुर चले जाते है। अंधकार मे दीपक जो कार्य करता है वही कार्य गुरु का वचन अज्ञानांधकार में करता है। यदि गुरु का सबल मिल गया तो उसके प्रति समर्पण की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। श्रद्धा भाव की ही प्रगाढ अनुभूति होने पर कवि पूजा के लिए बाह्य विधि विधानो का सहारा लेने लगता है। उसके इस पूजा-भाव मे भी कही प्रतिदान की भावना क्रियाशील दिखाई देती है। कवि देवसेन कहते है कि जो जिन भगवान् को घृत और पय से स्नान कराता है उसे सुर नहलाते है क्योंकि जो जैसा करता है वैसा पाता है, यह लोक प्रसिद्ध ही है। धार्मिक कवियो ने अपने आराध्य या पूज्य गुरु के सौन्दर्य का बडा काव्यात्मक चित्र अंकित किया जिससे अन्य लोगों का मन उसमे अनुरंजित हो सके तथा स्वयं कवि की भी मानसिक तन्मयता बनी रहे। रूप का लोभी मन अरुचिकर तथा रूक्ष चीजों पर आसानी से टिकता नही किन्तु सौन्दर्ययुक्त वस्तुओं पर वह सद्य अनुरक्त होकर तन्मय हो जाता है। इसी आधार पर देवसेन जिन भगवान् के भामण्डल, पुष्प वृष्टि, सिंहासन, दुंदभि, चमर, छत्र, आदि का विस्तृत वर्णन करते है और सूर, तुलसी अपने आराध्य ईश्वर के सौन्दर्यांकन पर अधिक बल देते है।

समस्त धार्मिक अपभ्रंश काव्य मे शुचिता की भावना पायी जाती है। आचारपरक कवियों ने बाह्य शुचिता को भी स्वीकार किया है किन्तु रहस्य-वादी कवियों ने बाह्य शुचिता के निषेध के साथ आन्तरिक शुचिता पर बल दिया है। इन कवियो का कुछ सिद्धान्तो या नियमों के प्रति विशेष लगाव था। ऐसे नियमों को वर्णित करते समय इनमें पक्षपात की भावना आ गयी है। दया, पर्वोपवास, पात्रदान, सन्यासधारण, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, ब्रह्मचर्य, शंकादि आठ दोष, आठ मद और तीन मूढता का त्याग ये सब मुक्ति के साधन हैं। अतः ये जीवन मे अनिवार्य रूप से पालनीय हैं।

---

1. सावयधम्म दोहा, दो० नं० ९२, पृ० ३०।

रहस्यवादी मुक्तकों मे कवियों ने बाह्याडम्बर, पुस्तकीय ज्ञान, जप-तप, तीर्थ आदि के विरोध मे अपने विचारो को व्यक्त किया है। अभिव्यक्ति मे कवि का विरोधमूलक भाव तो व्यजित होता ही है साथ-साथ भावो मे आक्रोश तथा उग्रता की भी अभिव्यजना होती है। सरहपाद की उक्तियाँ अधिक तीव्र तथा प्रभावोत्पादक हैं। उनसे कर्मकाण्डो की अनर्थकता तो सिद्ध ही होती है उलटे पीड़ा की भी व्यंजना होती है। मिट्टी, पानी तथा कुश लेकर होम करने से दुनिया का रहस्य अज्ञेय है क्योंकि दुनिया की रहस्यानुभूति से इनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। तत्काल उपलब्ध क्या होता है आँखो मे प्रविष्ट होकर पीडा पहुँचानेवाला धुँआ जो आन्तरिक दृष्टि को उद्घाटित करने मे असमर्थ है और बाह्य दृष्टियो मे भी अवरोधक बनता है। जैनो के सम्बन्ध मे किया गया व्यग्य और भी चुभने वाला है। ज्ञान के विरोध में ऐसे दृष्टान्त दिये गये हैं जिसमे निरर्थकता के भाव को दृढ करने की पूर्ण क्षमता है। मुनि रामसिंह ने कहा कि श्रेष्ठ पंडित कण (दाने) को छोड़कर तुस को ही कूटते रहते है। वे ग्रंथ के अर्थ से ही सन्तुष्ट रहते है किन्तु वे मूढ है उन्हें परमार्थ का ज्ञान नही होता। कभी-कभी अनावश्यक सन्तोष से ज्ञान की पिपासा शान्त हो जाती है और मनुष्य का विकास रुक जाता है। शास्त्र ज्ञान से पडित बन जाने की अहमन्यता परमार्थ ज्ञान या अनुभूति की ओर प्रेरित नही करती है।[1] आगम वेद, पुराण आदि ब्रह्म के सम्बन्ध मे ज्ञान तो करा सकते है किन्तु ब्रह्म को अनुभूति के स्तर पर लाने का कार्य साधना से ही सिद्ध हो सकता है। ब्रह्म के सम्बन्ध मे ज्ञान हो जाने मात्र से ब्रह्मानुभूति जनित रस का आस्वाद नहीं हो पाता। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए काण्हपाद ने कहा कि आगम वेद, पुराण के भार को ढोने वाले पंडित ऐसे भ्रमर के समान हैं जो श्रीफल के चारो ओर चक्कर काटते रहते हैं और रसपान से वंचित रहते हैं।[2] इस तरह रहस्यवाद के अन्तर्गत परिस्थितियों की परिकल्पना तथा उदाहरणों के माध्यम से अनुभवों को मार्मिक ढंग से संप्रेषित करने का प्रयत्न किया गया। तत्कालीन परिस्थितियो से इन व्यग्यो मे कितनी शक्ति रही होगी जो श्रोताओ के विश्वासों को एक बार झकझोर देती रही होगी। इन आक्रोशो का एक प्रमुख कारण अनुभवो में ताल-मेल का अभाव भी था।

१. परमात्म प्रकाश, द्वि० महा०, पृ० २२३-२२४।

२. आगम वेअ पुराणे पडिआ माण बहन्ति।
पक्क सिरि फलें अलिअ जिम बाहेरिअ भमन्ति ॥

बाग्ची - चर्यागीति-कोष ——— पृ० १६७।

हिन्दी के सन्त कवियो मे विशेष रूप से तथा सगुण भक्तों में गौण रूप से ये विरोध-मूलक भाव व्यक्त हुए है। कबीरदास ने तीर्थ स्थान, पुस्तकीय ज्ञान तथा अन्य आडम्बरों का उग्र विरोध किया है जिसमें सरहपाद से कम आक्रोश तथा व्यंग्य नही है। कबीर का कथन है कि जप, तप, तीर्थ, व्रत में विश्वास थोथा है जिस प्रकार शुक ने सेमल की सेवा की पर बाद मे निराश चला गया उसी तरह जगत् भी इनकी सेवा कर निराश चला जाता है।[१] मूंड मुड़ाने से राम नहीं मिलता।[२] माला पहनने से कुछ नहीं होता।[3] काशी के कंठ पर घर बना लिया निर्मल जल का पान करने लगे पर राम-नाम बिना मुक्ति नही मिलती।[४] कबीर पुस्तक को फेक देने की राय देते है—

कबीर पढ़िबा दूर करि, पुसतक देइ बहाइ।

समस्त धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तको ने ईश्वर साक्षात्कार की प्रबल भावना उद्वेलित है। यह भावना कही आत्म-विश्वास के रूप मे और कही-कही अद्वैतानुभूति के रूप मे अभिव्यजित होती है।

ब्रह्म की सर्वव्यापकता की परिकल्पना मे इन रहस्यवादी कवियो मे अपूर्व दया की भावना का विकास हुआ। समस्त वनस्पतियों मे जीवन की कल्पना करके उन्होने पूजा-पाठ के लिए उन्हे नष्ट करने के लिए वर्जित किया। सिद्धों मे यह दया का भाव करुणा के रूप मे वर्णित है। उनमे अधिकतर सैद्धान्तिकता के आधार पर करुणा के महत्त्व को समझाया गया है। भाव-व्यंजना करने की चेष्टा कम की गयी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि शून्य की संलग्नता करुणा से रहित होने पर किसी काम की नही। इससे उत्तम मार्ग नही मिल पाता।[५]

---

१. कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैबल सेविया, यूँ जग चल्या निरास ॥८॥
कबीर ग्रथावली, पृ० ७४।

२. कबीर मूंड मुंडावत दिन गये, अजहूं न मिलिया राम।
राम नाम कहु क्या करै, जे मन के औरै काम ॥
वही, पृ० ७७।

३ कबीर ग्रथावली—भेप कौ अंग, पृ० ७५।

४. कासी काठै घर करै, पीवै निरमल नीर।
मुकति नहीं हरि नाव बिन, यूँ कहैं दास कबीर ॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ६३।

५. राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० ६।

वैराग्य भावों की व्यंजना :

अपभ्रंश के समस्त धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तककारो और हिन्दी के भक्त कवियो का सपूर्ण जीवन-दर्शन विरक्ति की दृढ भित्ति पर आधारित हे। उनमे बहुत कम ऐसे थे जो सासारिक क्रिया कलापों के साथ आध्यात्मिक साधना को सुकर समझते रहे हो। इन्द्रियो के विषयासक्त होने पर प्रत्यक्ष सुखानुभूति चाहे क्षणिक ही हो किन्तु उन इन्द्रियो को आध्यात्मिकता की ओर मोडने की प्रक्रिया अधिक दुष्कर होती है। इसके लिए रहस्यवादी कवियो तथा अन्य भक्तों ने परमानन्द शाश्वत सुख के महत् प्रलोभन को इन्द्रियो के समक्ष रखा ताकि वे सासारिक माया-मोह को त्यागकर धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावो की ओर प्रवृत्त हों। कवियो ने विरक्ति भाव जागृत करने के लिए जगत् के ऐसे रूप का विवेचन किया जो दुःख पूर्ण तथा सारहीन है। जोइन्दु मुनि कहते है कि तुम इस ससार को अपना निवास न समझो। यह तो दुःख का निवास है। अज्ञानी जीवो के वन्धन हेतु यमराज ने पापो से मडित बन्दी गृह बनाया है।[1] यह जगत् मृग मरीचिक है तथा गन्धर्व नगरी के समान प्रतिभास्यमान है। संतो ने भी संसार को मिथ्या, नश्वर और स्वप्नवत् माना है। सूरदास ने संसार की नश्वरता, क्षणिकता तथा असन्यता स्वप्न से सिद्ध की है। उनका कथन है कि यह ससार स्वप्न की तरह मिथ्या है इसलिए सब कुछ तजकर हरि को भजना चाहिए।[2] स्वप्न शब्द में जगत् के स्वरूप को व्यजित करने की पूर्ण सामर्थ्य है। शाश्वत जीवन-मरण की परम्परा मे मनुष्य रूप मे सुख-दुख को अनुभव करने की प्रखर शक्ति जगत् को ही सत्य मानकर उसी मे पूर्ण रूप से उलझ जाना तथा अपने मूल उद्देश्य का विस्मरण, मृत्यु के साथ जगत् के सारे संबंधों का टूटना आदि एक स्वप्न के समान ही है। कामिनी जागतिक सम्बन्धों को जोडने की एक प्रमुख कड़ी है। अतः निवृत्तवादी कवियो ने स्त्रियों से विरक्त होने का उपदेश दिया। ये उपदेश सीधे अभिधात्मक रूप में नहीं कहे गये हैं बल्कि काव्यात्मक अनुभवों मे ढालकर मार्मिक ढंग से व्यंजित किये गये हैं—

जासु हरिणच्छी हिय वसइ तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समंति बढ़ बे खण्डा पडियारि ॥

---

१. घट वासउ म जाणि जिय दुक्किय वासउ एहु।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥१४४॥
परमात्म प्रकाश द्वि० महाधिकार।

२ सूरसागर पद २०१।

कवि यहाँ पर स्त्री-त्याग की बात नही कहता। वह केवल एक चित्र प्रस्तुत करता है कि जिसके हृदय में मृग-नयनी स्त्री बस रही है उसे ब्रह्म विचार कैसे हो सकता है कहीं एक म्यान मे दो तलवारें आ सकती हैं। पूरे कथन से व्यंजित है कि ब्रह्मविचार लाने के लिए मृगनेत्री-स्त्री को चित्त से निकाल देना चाहिए। कवि ने अभीप्सित भाव को व्यक्त करने के लिए एक लोकोक्ति का सहारा लिया जिससे असम्भाव्यता का भाव और पुष्ट हो जाता है। एक म्यान मे दो तलवारें नही रह सकती तो स्त्री तथा ब्रह्म की अनुभूति दोनों चित्त मे कैसे रह सकती है। यह परंपरा कबीर, सूर, तुलसी में भी सुरक्षित है। कबीरदास ने कामिणी को काली नागिन तथा नरक का कुण्ड कहा।[1] भला कौन काली नागिन तथा नरक के कुण्ड से बचने का प्रयास नही करेगा। सिद्धो की उलटवासियों मे कार्य और कारण तथा विशेष और विशेषण का ऐसा सबंध दिखाया गया है जो वस्तु जगत् मे सामान्यत. नही देखा जाता। ऐसे स्थलों पर विस्मय भाव की व्यंजना होती है। घडियाल का इमली खाना, कच्छपी के दूध से सपूर्ण पात्र का भर जाना, मेढक से सर्प का भयभीत होना, बैल का प्रसव करना आदि ऐसे वर्णन है जिनमे विस्मयता का भाव निहित है। कबीर की उलटवासियो मे भी इसी तरह के वर्णन मिलते है। सूरदास ने कृष्ण को अलौकिक शक्ति के चित्रण मे विस्मय भावो को व्यजित किया है जैसे कृष्ण के मुह फैलाने पर मुह के अंदर त्रयलोक का दर्शन, एक छोटे से बालक के खीचने पर वृक्ष का उखड़ जाना। काली नाग के नाथने की लीला, गोवर्द्धन को उंगली पर धारण करने की लीला विस्मित करने वाली लीलाएं ही है।

रहस्यवाद के अन्तर्गत मधुर भावों की व्यंजना :

रहस्यवादी कवियो ने सांसारिकता से विरक्त होने के लिए कामपरक अनुभूतियों का हनन करने का प्रयास किया किन्तु मनुष्य की मूल वृत्तियो का समूल नाश सरल नही है। अतः उनकी साधना मे इन्ही मूल-वृत्तियों की प्रेरणा से कही कही मधुर भावों का प्रवेश हो गया। सिद्धों की गुह्य साधना मे स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका आदि के मधुर

---

१. कामणि काली नागणी तीन्यूं लोक मंझारि।
राम सनेही ऊबरे, बिषई खाये मारि॥ २०-४
नारी कुण्ड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरै, सब जगमूवा लाग॥ २०।१४ कबीर ग्रंथावली.

सम्बन्धों का समावेश हो गया। यद्यपि इनका एक आध्यात्मिक अर्थ है परन्तु लौकिक रूप से भी कहीं कहीं मुद्रा मैथुन तथा कामिनी को साधना में सहायक समझा गया है। ये सारे तत्त्व सिद्धो की साधना के विकास मे अवरोधक हुए लेकिन किंचित अन्तर के साथ कबीर आदि सन्तों मे इन भावो को विशेष प्रश्रय मिला जिससे शुष्क साधना मे एक विशेष माधुर्य तथा आकर्षण उत्पन्न हुआ। सिद्ध तथा जैन कवियो को काव्य जनित ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति काम्य नही थी। वे तो साक्षात् ब्रह्मानन्द का आस्वादन करना चाहते थे जिसका सम्प्रेपण अत्यधिक कठिन है तथा साधारणीकरण की स्थिति तक लाना तो और दुर्गम। गूगे के गुड़ की तरह इसका जो अनुभव करता है वही इसे जान सकता है दूसरा नहीं। जोइन्दु मुनि ने इस सुख को कोटियो रानियो के रमण से इन्द्र द्वारा अनुभूत सुख से भी श्रेष्ठ माना है।[1] यह तो एक सकेत मात्र है। सिद्धो ने इसी आनन्द को महासुख की सज्ञा दी और इस अनुभूति को सिद्धो ने वाणी से परे बताया। इसकी संपूर्ण प्रक्रिया हृदय मे ही घटित होती है। सुरंग से उठनेवाली धूल जैसे सुरग में ही विलीन हो जाती है ठीक वैसी ही यह अनुभूति है। सरहपाद ने इसे जोइन्दु से भी अधिक मार्मिक ढग से समझाया है। इसका अनुभव कौमारिका द्वारा अनुभूत सम्भोग के प्रथम आनन्द के समान है। सखियाँ जब उससे इस आनन्द को अभिव्यक्त करने का निवेदन करती हैं तो वह हारकर यही कहती है कि उसके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता। उसे तो तुम लोग तभी समझ सकती हो जब परिणय के उपरान्त प्रिय से मिलोगी। इस दृष्टान्त में आनन्दानुभूति को व्यंजित करने के लिए कुमारी के प्रथम सम्भोग को चित्रित किया गया है जो अपनी तीव्र अनुभूति के कारण तथा सामान्य अनुभवो के निकट होने के कारण साधारण जनो को ब्रह्मानन्द के संबंध में किंचित सकेत करता है।[2] मुक्ति को प्रिया पुरन्ध्री के रूप मे परिकल्पित करके सामान्य जनो को आकर्षित करने की चेष्टा की गयी। समस्त सांसारिक संबंधो की उपेक्षा करने वाले

---

१. जं सिव दंसणि परम-सुहु पावहिं णाणु करन्तु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणन्तु ॥ ११६
जं मुणि लहइ अणन्तु-सुहु णिय-अप्पा झायन्तु ।
तं सुहु इन्दु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमन्तु ॥
परमात्मा प्रकाशः प्र० महा०, पृ० ११८-१९ ।

२. सो परमेसर कासु कहिज्जइ सुरअ कुमारी जिम पडिवज्जइ

मुनि कभी कभी स्वयं साधना की शुष्कता से विचलित होते रहे होंगे। इसीलिए मोक्ष आदि को नारी रूप कहने मात्र से नारी से जुड़े हुए सारे शृंगारी या मधुर भाव जागृत हो उठते है। सद्गुरु को तुष्ट करके मुक्ति त्रिया के घर निवास पाया जा सकता है।[२] उनमे यदा-कदा भोग परक भावना भी उद्बुद्ध होती है। लेकिन लौकिक नारी के प्रति नही बल्कि सिद्ध-पुरन्ध्री के लिए। जिनदत्त सूरि कहते हैं कि राग-द्वेष मोह को जो पराजित कर देते हैं वे सिद्ध पुरन्ध्री का निश्चय ही भोग करते है।[3] सिद्ध साहित्य मे लौकिक भाव या राग की उपेक्षा भले ही मिलती है किन्तु अलौकिक भाव के रूप में महाराग का पर्याप्त आश्रय ग्रहण किया गया है। सिद्धों का रूपकात्मक चित्र लौकिक काव्य से काफी समानता रखता है। इसलिए सामान्य रूप से उनमे भी भावानुभूति तथा रसानुभूति होती है। ठीक वैसे ही जैसे कबीर के अनेक निर्गुण तथा शृंगारी गीतो का गान करके एक अपढ, ग्रामीण भी आनन्द लेता है। उसकी दृष्टि मे वह गूढ रूपक न होकर सामान्य स्त्री-पुरुष ही रहता है। चाहे वह उन रूपको से थोडा बहुत परिचित हो परन्तु गीत की तन्मयता मे उसका यह ज्ञान विलीन हो जाता है। सिद्धो के चर्यागीत इतने अधिक लोकप्रिय रहे होंगे इसका ठोस प्रमाण नही मिलता। किन्तु इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय सिद्धो के प्रभावित क्षेत्रो मे इन्हे लोग अवश्य ही गाते रहे होंगे। डॉ० धर्मवीर भारती इन गीतो मे व्यजित भावो को साधारणीकरण के परे मानते है।[४] परन्तु गूढ रूपको तथा उलटवासियो को छोडकर कबीर के सबद के समान इन्हे भी साधारणीकरण के योग्य माना जा सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साधक के मन में इन गीतो की जो भाव-कल्पना होती है साधारण पाठको की उससे भिन्न। लेकिन उससे आनन्द की अनुभूति तो दोनों को होती है।

सिद्धो ने भगवती प्रज्ञा को महामुद्रा—मुद् ददाति इति मुद्रा, आनन्द देने-वाली माना तथा इसे डोम्बी, चाण्डाली, रजकी, नटी तथा ब्राह्मणी के रूप मे चित्रित किया। इन रूपो को महाराग या आध्यात्मिक रति भाव के आश्रय रूप मे नायिकाओ का विविध रूप माना जा सकता है। सिद्धो ने साधक तथा प्रज्ञा नारी दोनो के प्रेम का चित्रण प्रेम के द्विपक्षीय रूप में किया अर्थात् प्रज्ञा साधक

---

२. सद्गुरु तुठा पावयई मुक्ति तिया घर वासु ॥ आणंदा।

३. काल स्वरूप कुलक-छ० ५-६, पृ ६९।

४. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २५९।

से और साधक प्रज्ञा से प्रेम करता है। स्थिति के अनुसार दोनो को आश्रय तथा आलम्बन माना जा सकता है। लौकिक शृंगार मे प्राय. प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है। सिद्धो ने सारी बाह्य प्रकृति को शरीर के अन्दर ही कल्पित किया। चन्द्र, सूर्य, अमृत-कमल आदि देह के भीतर ही उद्दीपन का कार्य करते है। सिद्धो ने जिस प्रेम का चित्रण किया है वह भारतीय आदर्श के अनुकूल है। वे प्रेमिका को गृहिणी, वधू आदि नामो से अभिहित करते हैं जिसमे स्वकीया भाव का प्रेम व्यजित होता है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इस तरह की नायिका को स्वकीया कहा जा सकता है। अन्य भावो की स्थिति के आधार पर नायिका के अन्य रूपो की भी खोज की जा सकती है। काण्हपा तन्त्री और भाजन लेकर नगर में आकर डोम्बी का समागम करना चाहते हैं।[1] भावाभिव्यक्ति के लिए उन्होने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है कि नायिका परकीया कोटि की मानी जा सकती है।

शृंगार के संयोग और वियोग दो पक्षो का चित्रण चर्यागीतों में किया गया है। संयोग शृंगार मे प्रणय-निवेदन नायक तथा नायिका दोनो की ओर से होता है किन्तु नायक के द्वारा किये गये प्रणय निवेदन के अधिक चित्र आये है। गुण्डरीपाद योगिनी से आलिंगन करने के लिए निवेदन करते है। वह योगिनी के बिना क्षण भर भी नही जी सकते। उसके मुख-कमल का चुम्बन करके योगी कमल रस का पान करता है। यही नही प्रेम मे विभोर वह नर-नारियो के बीच उसकी चीर भी उघाड़ता है।[2] इस चित्रण मे प्रणय की तीव्र आकाक्षा,

---

१. आलोडोम्बि तोए सम करिबो मो साङ्ग।
निधिन काह्न कापालि जोइ लाङ्ग ॥ ध्रुवपद ॥
बागची : चर्यागीत-कोष, पृ० ३३।

२. तिअड्डा चापी जोइणि दे अङ्कवाली।
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली ॥ १ ॥
जोइनि तंइ विनु खणहि न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमल रस पीवमि ॥ २ ॥
+ +
भणइ गुण्डरी अम्हे कुन्दुरे वीरा।
नरअ नारी माझें उभिल चीरा ॥ ४ ॥ बागची : चर्यागीति कोष
पृ० १२।

वियोग की संभावना मे जीवन धारण की दुष्करता, चुम्बन से प्राप्त अपूर्व तृप्ति, तथा भाव-विभोर नायक की लम्पटता आदि भावो की बडी मार्मिक व्यंजना होती है। संभोग शृंगार का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। कृष्णपाद योगिनी के साथ विवाह करने के लिए पटह, मर्दल, कास्य, दुंदुभी आदि वाद्यो की ध्वनि के साथ प्रस्थान करते है। डोम्बी को विवाहित करके लाते हैं और दिन रात सुरति प्रसंग में ही व्यतीत कर देते हैं। वह योगिनी के जाल मे ऐसा फंस जाते हैं कि रजनी प्रभात में बदल जाती है। डोम्बी के संग में जो योगी अनुरक्त है वह सहज-उन्मत्तता को क्षण भर भी नहीं छोड़ता।[1] नव विवाहिता नायिका के साथ तीव्र आसक्ति अद्भुत आकर्षण से यदि सारी रात एकाएक प्रभात मे बदल जाय तो कौन आश्चर्य है। अनुरक्ति में एक अजीब मस्ती है तथा अनुपम आनन्द है जिसे नायक क्षण भर नही छोडना चाहता। नायक नायिका के मिलन का यह मार्मिक तथा उद्दाम चित्रण किसी भी लौकिक सयोग वर्णन से किसी रूप मे कम नही कहा जा सकता। शबरपाद शबरी बालिका के सौन्दर्य का चित्र बिलकुल एक वन्य-बाला के रूप में प्रस्तुत करते है। उसके सहज सौन्दर्य का अंकन करने के लिए उसे अकृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों मे सुसज्जित करते हैं। शबरी बाला उच्च पर्वत पर निवास करती है शरीर पर मयूर के पखों को और गले मे गुंजिका की मालिका धारण करती है। उन्मुक्त शबर इस सहज सुन्दरी के आलिंगन के लिए पागल हो उठा है। शबरी ऐसी है कि अनेक ऊँचे ऊँचे वृक्षो

---

१. भव निर्वाणे पड़ह-मादला।
मण-पवण वेणि करण्ड कसाला ॥१
जअ जअ दुन्दुभि दुन्दुभि साद उछलिला ॥
काण्ह डोम्बी विवाहे चलिला ॥२
डोम्बी विवाहिआ अहारिउ जाम। जउतुके किअ आणुतु धाम ॥ २
अहणिसि सुरअ-पसङ्गे जाअ। जोइणि जाले रअणि पोहाअ ॥३
डोम्बीएर सङ्गे जो जोइ रत्तो। खणइ न छाड़अ सहज उन्मत्तो ॥४
वही, पृ० ६४।

के बीच एकाकी तथा निर्भय घूमती रहती है।[1] इस नैरात्मा रूपी नायिका को पाकर शबर त्रिधातु की शय्या पर भुजाओं से आलिंगन करता हुआ रात बिता देता है। इस पद में संयोग को प्रगाढ बनाने के लिए किंचित् वियोग का भी चित्रण किया गया है। नायिका के सौन्दर्य चित्रण में नायक की मनोनुकूलता का विशेष ध्यान दिया गया है। नायिका (प्रज्ञा) नायक (सिद्ध) के लिए इसलिए भी अधिक आकर्षक तथा प्रिय है कि वह उसकी सही सहचरणी है। शबरी भी कर्ण कुण्डल तथा वज्र को धारण करती है। शबरपाद ने एक अन्य चर्या मे शून्य बालिका को कण्ठ में लगाकर महासुखानुभूति का चित्रण किया है। शून्य महिला के साथ सुख में विलास करता हुआ वह कुछ भी नही चेतता :—

छाडु छाडु माआ मोह विषम दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुण महेली ॥२॥
कुइरि पाकेला रे शबराशबरी मातेला।
अणुदिन शवरो किम्पि न चेवइ महासुहें भोला ॥४॥[2]

वियोग श्रृंगार के अधिक चित्र उपलब्ध नही होते। वियोग के चित्रण मे नायिका को ही प्रमुखता दी गयी है जो लौकिक श्रृंगार काव्य के काफी अनुरुप है। इसे बागची ने 'हे वज्र तन्त्र' से उद्धृत किया है—नैरात्मा अपने करुणामृत हेवज्र से कहती है कि हे करुणामृत प्रियतम मेरी अवस्था को देखो। तुम्हारे बिना मैं मरणासन्न हूँ। उठो हे वज्र, शून्य स्वभाव का परित्याग करो, सक्रिय उपाय स्वभाव ग्रहण करो।[3] इस कथन से यह आभासित होता है कि नायक

---

१. ऊँचा ऊँचा पावत तहि वसइ सबरी बाली।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुञ्जरी माली ॥ ध्रुव १ ॥
उमत सवरो पागल सवरो मा कर गुली गुहाडा तोहोरि।
णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दरी ॥
नाना तरुवर मौलिल रे गअणत लागेली डाली।
एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डल व्रजधारी ॥ ध्रुव २ ॥
तिअ धाउ खाट पडिला सबरो महासुखे सेजि छाइली।
सबरो भुजङ्ग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली ॥ ध्रुव ३ ॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० ९२ चर्या २८

२. वही, पृ० १६२, चर्या ५०।

३. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य- पृ० २५१।

नायिका से रुष्ट होकर बैठा है। इसे मान-जनित वियोग कहा जा सकता है।

रति-भाव के उद्दीपन रूप में रात को रति का उपयुक्त समय माना गया है। कहीं-कहीं रति भावो के अन्तर्गत रौद्र भावो का भी चित्रण है। एक चर्या मे साधक नायक सास आदि की हत्या करने को तैयार हो जाता है।[1] इस रौद्र भाव या क्रोधावेश का सिद्धो की तान्त्रिक साधना मे विशेष स्थान था। कबीरदास भी रहस्यवादी योगियो की तरह महारस का चित्रण करते है। किन्तु इस महारस के पान का वर्णन नायक-नायिका के रूपको के संदर्भ मे बहुत कम हुआ है। अधिकतर यौगिक क्रियाओं द्वारा ही महारस चखने की चर्चा की गयी है।[2] कबीर तथा अन्य सन्तो के काव्य मे आत्मा को अर्थात् स्वयं को पत्नी रूप मे परिकल्पित किया गया है और हरि को पति रूप मे। हरि के लिए प्रिय, प्रियतम, भरतार आदि सम्बोधनो के प्रयोग मे सन्तो मे भी स्वकीया तथा अनन्य प्रेम को ही श्रेष्ठ समझा गया है। योगियो के चित्रण मे रूपको की आन्तरिकता अधिक सुरक्षित है तथा उनके द्वारा परिकल्पित नारी उनसे तनिक भी भिन्न नही है। यदि सिद्ध योगी है तो प्रज्ञा योगिनी है तथा यदि वह शबर है तो प्रज्ञा शबरी है। सामान्य नारी के भावो का चित्रण उसमे बहुत कम हो पाया है। सिद्धो के काव्य में दोनों ओर प्रेम पलता है किन्तु सन्त काव्य मे आत्मा मे ही अधिक तड़पन दर्शित की गयी है। परमात्मा का प्रेम, कृपा, रक्षण आदि भावो मे विभक्त हो गया है। व्यापक चित्रण न होते हुए भी प्रियतम मे निष्क्रियता नही है। उसके आगमन की पूरी-पूरी संभावना बनी रहती है। कुछ स्थलो मे तो राजा राम भरतार का आगमन हो ही गया है।[3] सन्त काव्य मे वर्णित प्रेमानुभूति लौकिक काव्य के बहुत निकट

१. राग द्वेष मोह लाइअ छार।
परम मोख लवए मुत्तिहार॥
मारिअ सासु नणन्द घरे शाली।
माअ मारिआ काह्न भइल कवाली॥

बागची : चर्यागीत कोष, पृ० ३८।

२. दुलहनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये राजा राम भरतार॥

कबीर ग्रंथावली : पृ० ९४०।

३. कबीर अखड़िया झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि॥२॥

वही, पृ० १६।

है। आत्मा रूपी नारी की विरहानुभूति किसी भी लौकिक नायिका से अधिक प्रगाढ तथा तीव्र है। प्रियतम का पथ निहारते-निहारते आँखो मे झाईं पड गयी तथा राम नाम पुकारते-पुकारते जीभ मे छाला पड गया। विरहिणी की दशा इतनी सोचनीय हो गयी है कि अब वह या तो दर्शन चाहती है या मृत्यु। सिद्ध काव्य मे नायक (साधक) प्रज्ञा के विरह से जीना मुश्किल समझता है। सिद्धों में विरह की इतनी मार्मिक उक्तियाँ नहीं मिलती। दोनों में इतनी समानता है कि भाव-विह्वलता साधक में ही प्रदर्शित की गयी है। चाहे उसे पुरुष मानकर व्यक्त किया जाय चाहे स्त्री, कोई खास अंतर नही आता। सिद्ध पुरुष थे अतः अपने को प्रेमी रूप में कल्पित करके स्वाभाविक भावो के अधिक सन्निकट थे जबकि कबीरादि सन्त पुरुष होकर अपने को स्त्री रूप में कल्पित करते थे। कबीर ने भी सिद्धों की तरह ही आत्मा परमात्मा के वैवाहिक संबंधो का चित्रण किया है किन्तु उसमें संभोग की उद्दाम भावनायें अभिव्यक्त नही हुई है। आत्मा रुपी दुल्हन सासरे से प्रिय के साथ आई किन्तु स्वामी के संग उसकी साध (श्रद्धा, आकांक्षा) पूरी नहीं हुई क्योकि सुहाग के पूर्ण होते ही वह बिना पति के हो गई।[1] सन्तों में मिलन के जो चित्र मिलते हैं वे पूर्ण अनुराग को अभिव्यंजित करते हैं परन्तु उनमें सिद्धो जैसा बिलकुल खुलापन नही है बल्कि अश्लीलता से बचने के लिए काफी शिष्टता बरती गयी है। वे प्रियतम को अपनी प्रेम प्रीति में उलझा कर शय्या पर शयन करने की अभिलाषा तो व्यक्त करते है किन्तु रत्योद्बोधक अगों की कामना तथा भोग के लिए प्रियतम को आमन्त्रित नही करते। वास्तव मे सन्तों ने स्त्री-भावों का तो अपने ऊपर आरोपण किया किन्तु संपूर्ण स्त्रीत्व का नहीं।[2]

सिद्धों द्वारा रूपकात्मक रूप से कल्पित स्त्री-पुरुष का भाव सूफियो के काव्य के अधिक अनुरूप है।

---

१. मैं सासरि पिय गौंहनि आई।
साई सगि साध नही पूगी, गयो जोबन सुपिना की नाई॥
+ + +
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह, चौक कै रंगि धरयो सगो भाई॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० २८०।

२. बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये। भाग बडे घरि बैठे आये॥२॥
चरननि लागि करौं बरिमाई। प्रेम प्रीति राखौं उरझाई॥३॥
कबीर ग्रंथावली : पृ० १४१।

सूरदास के काव्य को आध्यात्मिक आधार पर लेने पर गोपियो को पुष्ट पुष्ट आत्मा माना जा सकता है तथा कृष्ण को परमात्मा। गोपियाँ उनकी शाश्वत लीला मे आनन्द लेने के लिए ही अवतरित हुई हैं। किन्तु इन भावो का एक कथात्मक तथा लौकिक आधार है। अपभ्रंश मुक्तकों में इस तरह की मधुर तथा श्रृंगारिक भावनायें सुरक्षित तो हैं परन्तु सूरदास पर उसका प्रभाव मानना उचित नही प्रतीत होता क्योकि सूर के काव्य की पृष्ठभूमि तथा वातावरण बिलकुल भिन्न ढंग का है। आध्यात्मिक भावों पर अधिक बल होने के कारण अश्लीलता-श्लीलता के अंतर दोनो काव्यों में क्षीण है।

वीर भावों की व्यंजना :

अपभ्रंश मुक्तक काव्य मे बीर भावों को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक युक्तियो का सहारा किया गया है। युद्ध के सम्पूर्ण वातावरण का चित्रण तथा आलम्बन, आश्रय आदि का एक साथ चित्रण न होते हुए भी उत्साह का स्थायी भाव बहुत स्पष्ट रूप से पाया जाता है। अपभ्रंश मुक्तकों की नायिकाएँ अपने वीर पतियों के ऊपर न्योछावर जाती है। ऐसे कथनों मे दोहरी भाव व्यजना होती है एक तो नायिका की शौर्य प्रियता, निर्भयता तथा त्याग की दूसरे नायक के वीरता की। भाव-व्यंजना का यह तरीका अपने आप मे काफी अच्छा तथा मुक्तक काव्य की प्रकृति के अनुकूल है जिसमे बहुत विस्तार से कहने की जगह नही होती। जिस वीररस का वर्णन हम प्रबंध काव्यो मे पढते हैं वह मुक्तक काव्यो मे आकर एकदम भिन्न हो जाता है। प्रबधो मे दृष्टि शौर्य के इतिवृत्त के विवरण पर रहती है। लेकिन मुक्तको मे शौर्य के मार्मिक और चुभने हुए स्थलो पर।[१] वीर-धर्मिणी नायिका हर जन्म मे ऐसे पुरुष को पति रूप में पाना चाहती है जो त्यक्त-अकुश प्रमत्त गजों से हँसता हँसता भिड़ जाय।[२] वीर पुरुषो के मन मे एक पुलक सी होती रहती है। उनके अग अंग फडकते रहते हैं। रण-दुर्भिक्ष हो जाने पर उनका मन माने कैसे इसलिए वीर पत्नियाँ अपने प्रिय से कह उठती है कि हे प्रिय उस दश में चलो जहाँ खड्ग व्यापार होता है। इस उक्ति मे जूझने का बडा उत्साह है—

> खग्ग बिसाहिउ जहिं लहहुँ पिय तहि देसहि जाहुँ।
> रण दुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झे न बलाहुँ॥[3]

---

१. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २२६।

२ हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३७६।२

३. वही, ४।३८६।१।

नायिका को अपने पति पर कितना गर्व है कि पति को सिंह के समान मानने मे उसका मान खंडित होता है। नायिका युद्ध में प्रवृत्त अपने पति के शौर्य का दर्शन करके अपनी सखी को सम्बोधित करके कहती है कि हे सखी मेरे शूरपति को देखो वह अकेला ही घोडे की बाग उठाकर शत्रु-सैन्य का शोषण कर रहा है, जिस तरह कोई शराबी शराब के प्याले को पीता है। यहाँ पर वीर शौर्य के आसव मे छका हुआ है जो शत्रुओं को तीव्र उत्साह से नष्ट करता हुआ आगे बढ रहा है।[1] इसी तरह के युद्ध-प्रवृत्त नायक के गत्यात्मक चित्रों के माध्यम से वीर-भावो की बड़ी मार्मिक व्यजना की गयी है। नायिका हर्ष से उत्फुल्लित होकर स्वयं सैकड़ों लडाइयो मे बखाने गये त्यक्तांकुश गजो के कुंभ-स्थल को विदीर्ण करते हुए पति की तरफ़ सब का ध्यान आकर्षित करती है।[2] नायिका विचार करती है कि यदि शत्रु-पक्ष के लोग भगे है तो निश्चय ही मेरे पति की वीरता के भय से। यदि हमारे पक्ष के लोग भगे है तो वह युद्ध मे मारा गया है। यहा सेना को भागती देखकर नायिका की दोहरी मनःस्थिति का चित्रण किया गया है। यदि शत्रु पक्ष की सेना है तो प्रियतम की अतिशय वीरता स्पष्ट है क्योकि उसी के भय से लोग भागे जा रहे हैं। यदि निज-पक्ष की सेना है तो प्रियतम का अनिष्ट हो गया नही तो महान् वीर के रहते सेना को पलायन करने की नौबत ही नही आती। दोनो स्थितियों मे नायक के अतिशय शौर्य की व्यंजना होती है।[3] नायक के भी कथनों मे पूर्ण उत्साह का भाव पाया जाता है। वैरी घने है तो भी वह उन पर चढ़ाई करेगा। उसके भी दो हाथ है मार कर ही मरेगा।[4] नायक का शौर्य उतना ही अधिक उजागर होता है जितना विकट तथा भयंकर युद्ध हो। ऐसा भयंकर युद्ध है कि शरो से शर कट जाते है तथा तलवार से तलवारे। वीरों के जमघट तथा सघनता को

---

१ मोतीलाल मेनारिया · डिंगल में वीररस, १५।६५

२. संगर सएहिं जो वणिअइ, देक्खु अम्मारा कंतु।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय कुम्भइं दारन्तु॥
हेमचन्द्र . प्राकृत व्याकरण, ४।३४५।१

३. जइ भग्गा पारक्कड़ा तो सहि मज्झि पिएण।
अह भग्गा अम्हइं तणा तो तेमारिअडेण॥, वही, ४।३७६।२

४. हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चढाहुँ।
अम्हांहि वै हत्थडा, जड अणु मारि मराहुँ॥ वही, ४।४३६

व्यजित करने के लिए कवि ने भटो की घटा के रूप मे चित्रित किया है। ऐसे युद्ध मे भी नायक भटो की घटा को विदीर्ण करते हुए अपने मार्ग को प्रकाशित करता है।[1]

दाम्पत्य-भाव के अन्तर्गत वीर-भावो को व्यजित करने का जो उद्योग अपभ्रंश कवियो ने किया उसे बहुत कुछ उसी रूप मे राजस्थानी हिन्दी के कवियों ने अपनाया। वीर-प्रसू राजस्थान की भूमि मे ऐसी नायिकाओ की परपरा कोई आश्चर्य की वात नही है। विवाहोत्सव के समय ही नायक के हाथ के स्पर्श से जब नायिका के हाथ मे मूठ के निशान चुभते हैं तो वह बहुत खुश होती है क्योकि अब उसकी चूडी कही लज्जित नही होगी।[2] राजस्थानी नायिका को कायर पड़ोस नही अच्छा लगता। वह उस देश मे रहना चाहती है जहाँ मस्तक मोल बिकते है।[3] उसे अपने प्रिय के शौर्य पर कितना विश्वास है तथा शत्रुओं के प्रति कितनी दया। इनकी व्यंजना उसके इस कथन से होती है जब वह सोते हुए पति को जगाने की इच्छा करने वाले शत्रुओं को वर्जित करती है कि तुम लोग लौट जाओ ताकि तुम्हारी स्त्रियो की चूड़ा चिरंजीव हो।[4] सच्चे वीर को जीवन की लालसा नही होती। वह युद्ध के लिए न मुहूर्त पूछता है न शुभ शकुन की परवाह करता है। मरण ही उसके लिए मंगल है। कायर कुपुरुष तो धिक्कारने योग्य है जो शत्रु को युद्ध में देखते ही मुंह मे तिनका ले लेते हैं।[5] प्रेम में वीर अपने को कितना समेट

---

१ जही कथिज्जइ सरिण सरू, छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भडघड निवहि कतु पयासइ मग्गु।

२. हथलेवे की मूठ किण, हाथ विलग्गा माय।
लाखा वातां हेकलो, चूडौ मो न लजाय॥
सं० मोतीलाल मेनारिया डिंगल मे वीररस, ५।६२

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, ३।७६

४. नीदाणौ गिण टैंकलो, पुलौ न छेडौ पीव।
जाय पुजावौ पाव ही, चूडौ धण चिरजीव॥ वही, १०।६४

५. का पुरसा फिट कायरां जीवण लालच ज्यांह।
अरि देखैं आराण मैं, तृण मुख माझल त्यांह॥
सूर न पूछे टीपणौ, सुकन न देखै सूर।
मरणा नू मंगल गिणै समर चढ़ै मुख नूर। वही, पृ० ६५

लेता है कि अपनी प्रियतमा की भुजाओं मे समा जाता है। परन्तु युद्ध की हाँक सुनते ही वह इतना अधिक उत्फुल्लित हो जाता है कि कवच मे नही समाता है। युद्ध मे वीर उमग और उत्साह से भरकर किंचित श्रेष्ठ हो जाता है। उसकी सीमाबद्धता टूट जाती है। जोश मे चुस्ती से वह इतना गतिमान होता है कि उसका व्यक्तित्व भयावह तथा विराट् प्रतीत होता है। निज पक्ष या पर पक्ष की भागती सेना देखकर नायिका को अपने प्रियतम की वीरता पर पूर्ण भरोसा रहता है डिंगल काव्य की नायिका भी युद्ध से कुछ वीरो को भागता देखकर अपभ्रंश की नायिका जैसी कल्पना करती है। उसमे तो सीधे सीधे प्रिय के अनिष्ट की संभावना की गयी है किन्तु यहाँ सभी संभावनाएँ व्यंजना पर आधारित है। डिंगल की नायिका कहती है कि हे सखी यदि दुष्ट शत्रु भाग गये हो तो मोतियो की थाल सजा ला जिससे विजयी पति की आरती उतारू और यदि स्वजन ही भाग गये हो तो प्राणनाथ का साथ न छूटने पाये।[1] दोनो स्थितियों मे नायक की वीरता की व्यजना होती है। प्रथम में विजेता के रूप मे और दूसरे मे वीरगति पाने वाले ऐसे वीर के रूप मे जिसके मरणोपरान्त अवशिष्ट सेना मे शत्रु पक्ष का मुकाबला करने की सामर्थ्य ही नही है। यह उक्ति एक वीर-वधू की है जिसमे इहलोक और परलोक दोनो मे अपने पति के साथ रहने की कामना निहित है। युद्ध वीर के उत्साह को वृद्ध करने के लिए उसकी सेना का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया। अपनी विशाल सेना को देखकर किस वीर मे साहस द्विगुणित नही हो उठेगा? सेना के प्रयाण के समय ही शत्रु स्त्रियाँ पीड़ित होने लगती है। यह है युद्ध मे जीतने की संभावना। प्रयाण के समय बहुत से घोडे और गधो के खुर से जो धूल उठती है वह शत्रु-पत्नियो के श्वास मे घुल जाती है तथा सुर सुन्दरियो के नेत्रो को निन्दित करने वाले उनके नेत्रो में धूलपात होता है।[2] यहाँ स्वाभाविक भाव व्यजना है। वीर रस के अधिकतर कवियो ने ऐसे स्थलों पर अत्युक्ति का सहारा लिया है। हम्मीर की रणयात्रा के चित्रण मे सेना की

---

१. जे खल भग्गा तो सखी, मोतीहल सज थाल।
निज भग्गा तो नाहरौ, साथ न सूनो टाल॥
डिंगल मे वीररस, ४·६२।

२. बहुहयखुरखंडिअमहिउट्ठिरइं रिउवहुनीसास पवण धुए।
जसु पयाण छणि अच्छिजुअल अणिमिस नयणत्तुण सुरसुन्दरि निंदहि
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन।७।३३।

विशालता साहस, क्रोध, उत्साह आदि को अभिव्यजित किया गया है। सेना की विशालता के चित्रण के द्वारा उत्साह जागृत करने का प्रयास हिन्दी के कवि भूषण मे भी पाया जाता है। मान कवि ने तो बिलकुल उसी शैली मे सेना का चित्रण किया जो वीर-भावो को उत्तेजित करता है—

मल सलिल सेस दल भार सिर
कमठ पीठि उठि कल कलिय
हल हलिय असुर धर परि
हलक भान रहिल रिपु रलतलिय ॥[1]

युद्ध का भयंकर वातावरण उपस्थित है। प्रागण मे मस्त हथिनिया गरजती है। घोड़े गिरते है। भीषण भ्रुकुटियो वाले वीर घूमते है। ऐसे रण मे वीर पुरुष ही विजय लक्ष्मी का वरण कर सकते है।[2] यहा कवि रण का चित्र खीचकर नायक को युद्ध मे प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित करता है। रण-स्थल के चित्रण के साथ कवियों ने कहीं-कही अत्यधिक काव्यात्मक अनुभवो को चित्रित किया है। घमासान युद्ध के दौरान तलवार के प्रहारो से हाथियो की शीर्षस्थ मालाएँ पतित हो रही है लगता है कि जयश्री स्वयंवर की माला को ऊपर उठा रही है। पता नही वह किस वीर का वरण करेगी।[3] भूषण ने तलवार का चित्रण बड़े मौलिक ढंग से किया है उनकी कल्पना वीर-रस के अधिक नजदीक है तथा असि की दारुणता को व्यंजित करती है—

भुज भुजगेस की है संगिनी भुजगिनी सो खेदि खेदि
खाती दीह दारुन दलन के।
पाखरिन बीच धंसि जाति मीन पैरि पार
जात परवाह ज्यो जलन के।[4]

---

१. सं० उदय नारायण तिवारी . वीर-काव्य, मान कवि,

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ५।७६।२१`३

३. करवाल पहारिण उच्छलिअ करिसिरमुत्ताहलरमणमाल।
रेहइ समरंगणि जयसिरिए, उक्खिविअ नाइ सयंवरमाल ॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।१६६।१६ ५५

४. भूषण-ग्रंथावली : श्री शिवबावनी पृ० १३१।

अपभ्रंश कवि ने तलवार की उपमा शत्रु की लक्ष्मी के केशपाश से दी है जिसमे व्यंजक शक्ति अधिक है। वीर के हाथ मे यदि तलवार है तो शत्रु की लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) का अधिग्रहण कर लेना उसके लिए अत्यन्त सहज है। वीरगति प्राप्त होते हुए भी शूर अपने युद्ध-कर्म को नहीं त्यागता। शरीर छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी उसके हाथ में तलवार सुशोभित होती है। इसी तरह के शौर्य-भाव को दर्शित करने के लिए कवि ने एक चित्र खींचा है। रण मे व्रणो से विकलांग पति के बुझते हुए सौन्दर्य पर यदि वीर-वधू बलिहारी जाती है तो इसमें क्या आश्चर्य है। क्या हुआ यदि पाव मे अतडियाँ लगी है सिर कन्धे से लटक गया है पर हाथ तो कटार पर अब भी है।[1] सच्चे वीर मे मरते दम तक वही उत्साह वही साहस तथा वही उमंग रहती है। वीर-भावो के अन्तर्गत लज्जा के भाव को अभिव्यक्त करना अपभ्रंश कवियो का निजी वैशिष्ट्य है। अपभ्रंश की नायिकाएँ युद्ध से भागे हुए कायर पति को देखकर सखियों के बीच अपने को लज्जित कराना नही चाहती।[2] राजस्थानी का कवि भी उस वीर की प्रशंसा करते नही अघाता जिसका सिर कट जाने पर भी धड जमीन पर नही गिरता और हाथ तलवार वहन करते रहते हैं।[3] राजस्थानी काव्य की नायिका व्रण से युक्त पति को आता देखकर सती होने के लिए तैयार हो जाती है। वह अपने पिता को यह सदेश देती है कि जब मै पैदा हुई थी तब थाली भी नहीं बजी थी। अब सती होते समय ढोल बज रहे हैं।[4] वीर-दम्पतियो के माध्यम से शौर्य व्यंजना का यह ढंग अपभ्रश मुक्तककारो की अपनी मौलिक सूझ है जो अधिक मार्मिक तथा संवेदक है। पराजित शत्रुओं की शोचनीय दशाओ का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत करके कवियो ने शौर्य की विस्तृत प्रभावात्मकता व्यजित की। अपने प्रभावो की प्रशंसा सुनकर वीर-पुरुषो की सुप्त वीरता अवश्य ही उत्तेजित हो उठती रही होगी। कवि कहता है कि प्रभु आपके डर से वैरी लोग जगल में जाकर नित्य शशक की तरह रहते है और

---

१ पाइ विलग्गी अन्तडी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु।
तो वि कटारइ हत्थडउ वलि किज्जउ कन्तस्सु॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।४४५

२. वही : ४।३५१

३. भलां जिकाइं भायणै, कैहा करूं बखाण।
पड़ियैं सिर धड़ नह पडै कर वाहै केवाण॥
डिंगल में वीररस, ८।६६

४. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ७६।

घने कंटक में घूमते रहते हैं।[1] कुछ तो युद्ध मे नष्ट होकर रसातल चले गये इसलिए उनके विलास भवनो में साप निर्भय विचरण करते है। तरुण भी स्थविरासन, स्त्रियों से रहित, विषय (देश) से पराङ्मुख होकर तपस्वी का रूप धारण कर लिये हैं।[2] शत्रु-वधुओं की दशा अत्यन्त कारुणिक है। प्रियतम से सदा सर्वदा के लिए वियुक्त हो जाने के कारण वे निरन्तर विलाप करती रहती है। उनकी कज्जल की रेखा आसुओ मे गलकर गिरती रहती है। रोदन से उनकी आखे रक्त हो गयी हैं मानो अधर का अलक्तक उनकी आखों मे प्रविष्ट हो गया हो।[3] इस चित्रण मे एक स्थायी भाव शोक है अत. करुण रस की व्यंजना होती है किन्तु इसे सुनकर विजेता वीर को गर्व का अनुभव होता है। इतना ही नही दुर्बलता के कारण स्त्रियो ने स्वर्णाभूषणो का भी परित्याग कर दिया है। वस्त्रों को फाडकर छोटा कर लिया है तब भी वे रमण-स्थान के भार मे आक्रान्त होकर चलती है।[4] अत्यधिक दुर्बलता उनके द्वारा अनुभूत क्लेश और चिन्ता के भावो को व्यक्त करती है। इसी तरह का मार्मिक और चमत्कारिक चित्रण भूषण मे भी पाया जाता है। ऐसे चित्रणों मे सत्यता की कमी तथा कल्पना का आधिक्य है। ये उक्तिया विशेषत. ऐसे शत्रुओ के संदर्भ मे है जो निश्चय ही प्रस्तुत वीर से अधिक शक्तिशाली है। भूषण ने शिवाजी के उत्साह को वर्धित करने के लिए मुस्लिम बादशाह की बेगमों की दुर्दशा का काल्पनिक चित्र खीचा जो अपभ्रश के चित्रो के समान ही है।

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ५।१८६।४२ १

२. दारविवज्जिअ विसयपरंमुह खलिअगइक्कम अइपसरिअवेविअ।
वेरग्गिण तवसित्तु पवज्जिवि ठिअ थेरासणि तुह तरुण वि वेरिअ ॥
वही, ७।३१·१

३. कज्जललेह विललोअणहं, गलिअसु जलिण पम्हुट्ठउ।
अहरालत्तयरसु सामरिसु, तुहरिउवहुनयणिपइट्ठउ ॥
वही, ६।२ ६।२० ५४

४ कंचणभूसण छड्डिअ खंडिवि वसणु वि लहुइउतुरिअ पलाइरिहिं।
तु वि किच्छिण रमणत्थलभारक्कंतिहिं गम्मइ तुह रिउ सुदरिहिं ॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।२०६।२०·५४

अपभ्रंश मुक्तक काव्य का शिल्प विधान और उसका हिन्दी पर प्रभाव

प्रयुक्त भाषा :

संपूर्ण उपलब्ध अपभ्रंश मुक्तकों मे भाषा का एक रूप नही मिलता है किन्तु उन समस्त मुक्तक काव्यों की भाषा अपभ्रंश, अवहस, अवहट्ठ या कवियों द्वारा प्रयुक्त देशी भाषा ही है। इन विविध नामो के संबंध मे समस्या यह उठती है कि क्या ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ है या एक ही भाषा अपभ्रंश के विविध पर्याय हैं। पतंजलि ने अपने महाभाष्य मे संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त अन्य व्याकरणच्युत शब्दो को अपभ्रंश कहा[1] तथा भरत मुनि ने शब्दों के इस तरह के विकृत रूप को विभ्रष्ट कहा।[2] आगे चलकर अपभ्रंश का प्रयोग साहित्यिक भाषा के रूप मे होने लगा जिसका उल्लेख भामह के काव्यालंकार में मिलता है।[3] नमिसाधु ने प्राकृत को ही अपभ्रंश माना तथा दोनों मे कोई खास भेद नही माना। इसका कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश का आधार प्राकृत भाषा ही है। आभीरादि भारत मे आकर पश्चिमी प्रदेश मे प्रचलित प्राकृत को अपनाकर उसे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल मोड़ा होगा जिससे प्रचलित प्राकृत तथा उनके द्वारा गृहीत प्राकृत में बड़ा अतर हो गया जिसे अपभ्रंश का नाम दिया गया। पतंजलि ने 'गो' के जिन विविध अपभ्रंश रूपो का उल्लेख किया है प्रायः वे सभी प्राकृत ग्रंथो में प्रयुक्त मिलते हैं—

(१) खीरीणियाओ गावीओ गोण वियालं।

(आचारागे, श्रु० २, उ० ४·५)

(२) गावीए पुण दिण्णंतणंपि खीरहणमुवेइ (आवश्यक चूर्णी)।

(३) गोणीणं संगेल्लं (व्यवहार सूत्रे उ० ४)।

(४) वच्छग गोणी खुज्जा, गोणी चंदण कथा।

(आ० नि० गा० १३३, १३६)।

---

१. महाभाष्य—निर्णयसागर संस्करण, पृ० ३१।

२. नाट्यशास्त्र दूसरा भाग, १७·२ गा० ओ० से०।

३. काव्यालंकार १·१६, १·२८।

एत्थं गोणीएं दिट्ठंतो[1] ।

जर्मन विद्वान् याकोबी की धारणा है कि अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा है जिसने अपना शब्द कोश प्राकृतों से तथा व्याकरण के नियम देशी भाषाओं से ग्रहण किए हैं ।[2] इन कारणों से अपभ्रंश के लिए कभी-कभी प्राकृत नाम ही प्रयुक्त कर दिया जाता है जैसे कि बौद्धगान के संस्कृत टीकाकार ने मूल पदों की भाषा को प्राकृत कहा है । स्वयंभू ने 'स्वयंभूछंद' में अवहंस का कई बार उल्लेख किया है ।[3] यह अपभ्रंश का ही प्राकृत रूप है । प्राकृत में प का व हो जाता जैसे अपर का अवर, भ सघोष महाप्राण ध्वनि है जिसका प्राकृत रूप ह बनता है और श शौर-सेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृत में स हो गया । अतः अपभ्रंश से अवहंस बन गया । अपभ्रंश को यदि अवहंस भाषा कहा जाय तो अधिक शुद्ध है क्योंकि यह अपभ्रंश की प्रकृति के अनुकूल है ।

विद्यापति की कीर्तिलता तथा 'प्राकृत पैंगलम्' में अवहट्ठ शब्द का प्रयोग मिलता है । अवहट्ठ शब्द संस्कृत अपभ्रष्ट का ही प्राकृत रूप है । स्वयंभू ने अपभ्रंश को देशी भाषा विद्यापति ने 'देसिल बयना' कहा ।[4] डॉ० रामसिंह तोमर देशभाषा तथा देशी भाषा में अंतर मानते हैं । उनका मत है कि— देशभाषायें अपभ्रंश से भिन्न प्रान्तीय बोलियाँ थीं और प्राचीन साहित्य में नाट्य शास्त्र, कामसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र इत्यादि में इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ । अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्राचीन कवियों ने 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश या हिन्दी कविता की भाषा के लिए किया है ।[5] अतः स्पष्ट है कि अपभ्रंश, अवहंस, अवहट्ठ तथा देशी भाषा अपभ्रंश के ही विभिन्न नाम हैं ।

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से यह माना जाता है कि एक ही भाषा पर प्रान्तीयता की छाप पड़ जाने के कारण उसमें कुछ अन्तर आ जाता है । आज

---

१. डॉ० अम्बादत्त : अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति : पृ० २४ ।

२. सं० हजारी प्रसाद, विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक, भूमिका पृ० ४६ ।

३. स्वयंभू छन्द ४·७, ४·१०, ४·२४ ।

४. देशी भासा उभयतडुज्जल कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल
पउम चरिउ, २-४, पृ० ४ ।

५. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, पृ० ६५ ।

जिस तरह हिंदी के विविध रूप प्रचलित है उसी तरह अपभ्रंश के भी विविध रूप थे परन्तु सामान्यत. उन रूपो मे कोई बड़ा अलगाव नही था जिससे कि उन्हे अलग भाषा का नाम दिया जाय । अपभ्रंश मुक्तको मे भाषा के तीन रूप परिलक्षित होते है—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश ।

(२) पूर्वी अपभ्रंश ।

(३) काश्मीरी अपभ्रंश ।

(१) **पश्चिमी अपभ्रंश**—में प्रमुखत: शौरसेनी तथा महाराष्ट्री सम्मिलित हैं। इन्ही भाषाओ का अधिक विस्तार था । अधिकांश मुक्तक रचनाएँ पश्चिमी अपभ्रंश मे ही लिखी गयी है । 'विक्रमोर्वशीयम्' के अपभ्रंश पद्य, स्वयंभू के छंद 'पाहुड दोहा', 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार, उपदेशरसायन रास', 'चर्चरी' 'कालस्वरूपकुलक', 'संयम मंजरी', 'सावयधम्म दोहा', 'आणंदा', 'दोहा-पाहुड', 'संदेश रासक' आदि ।

(२) **पूर्वी अपभ्रंश**—पूर्वी अपभ्रंश मुख्यत. मागधी अपभ्रंश ही है । 'चर्यापद', 'प्राकृत पैंगलम्' के कुछ पदो की रचना पूर्वी अपभ्रंश में हुई है । डॉ० रामसिंह तोमर के अनुसार 'दोहा कोष', 'कीर्तिलता' की भाषा यद्यपि शौरसेनी अपभ्रंश है तथापि मागधी के प्रयोग भी उसमे मिलते है ।

(३) **काश्मीरी अपभ्रंश**—'लल्लेश्वरीवाक्यानि' महानयप्रकाश', 'परा-त्रिंशिका' काश्मीरी अपभ्रंश मे लिखी गयी है ।

अपभ्रंश के इन तीनों प्रयुक्त रूपों मे बहुत कम अन्तर पाया जाता है । प्रमुख अन्तरो का दिग्दर्शन किया जा रहा है—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश मे लिखित कृतियो मे श, ष, का प्रयोग नहीं मिलता । केवल स का ही प्रयोग है जबकि पूर्वी अपभ्रंश में श का भी प्रयोग मिलता है—

(१) **टालत मार घर नाहि पडवेशी ।**
हाडीत भात नाहि निति आवेशी ।।[१]

(२) **शान्ति भणइ बालाग न पइसअ ।।**

(२) पूर्वी अपभ्रंश में भूतकालिक क्रिया मे ल का प्रयोग दिखाई देता है जो कि आज भी भोजपुरी तथा बंगला मे सुरक्षित है जैसे—

१. प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १०८ ।

जे जे आइल्ला ते ते गैला ।
अवणागवणे काह्न विमन भइला ।।[१]

(३) काश्मीरी अपभ्रंश :

(१) उपलब्ध काश्मीरी मुक्तक कृतियो मे द्वित्व शब्दों का बहुत कम प्रयोग मिलता है ।

(२) न के स्थान पर ण न होकर न का ही प्रयोग मिलता है ।

(३) संस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति बल पकड़ती हुई जान पड़ती है जैसे गल, पूजन, मङ्गल, पावक, विन्दु आदि ।

(४) इसमे श, स, ष तीनो का प्रयोग हुआ है—

(१) निरव समाधानं उलवाने
चर्याचर्यकमे उत्किष्ठ ।[२]

(२) शाकिनपीठ चक्क अकनायक
उत्तरगार सिहासन साह ।
भावेत मंगल मयतर गालक
नमसा विन्दु चक्क आचार ।।[३]

(५) संस्कृत के य का यिह् (जो) कर दिये, हुरे आदि क्रिया रूप हिन्दी में मिलते हैं—

सय् मातारुपि पय् दिये
सय् मार्या-रुपि करि विलास ।
सय् माया-रुपि जीव् हरे,
शिव छुय् क्रू टु ताप् चेन् उपदेश ।।५४।।[४]

१—चर्यापदों की भाषा का निर्धारण : एक विवाद

उपलब्ध चर्यापदों की भाषा बारहवी-तेरहवी शताब्दी के बीच की जान पड़ती है । उसमें अनेक प्रयोग ऐसे हैं जो कि भाषा को परवर्ती सिद्ध करते हैं :—

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० २३ ।

२. महानय प्रकाश, पृ० १३४ ।

३. वही, पृ० ८४ ।

४. लल्लेश्वरीवाक्यानि, छन्द ५४ ।

तिनिएँ पाटे लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ ।
ता सुनि मार भयंकर रे विसअ मण्डल सअल भाजइ ।।

यही कारण है कि राहुल सांकृत्यायन तथा गुलेरी जी इस भाषा को (प्राचीन) हिन्दी ही मानते हैं । इसमे हिन्दी के रूप मे भाषा का उभरता हुआ रूप परिलक्षित होता है । रेखांकित शब्दो मे किया रूप, संज्ञा-सर्वनाम तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति स्पष्ट है । अपभ्रंश के द्वित्व शब्दों का हिंदी में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया । राति आङ्गण (आँगन) आदि का प्रयोग बिलकुल हिन्दी जैसा ही है । डा० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या ने इसे पुरानी बंगाली माना है ।[1] कुछ अन्य विद्वानो ने चर्यापदों की भाषा को कामरूपी अपभ्रंश सिद्ध करने का प्रयास किया । इस मत के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क दिये गये हैं ।

१ सिद्धों मे अनेक प्रमुख सिद्ध कामरूप से संबधित थे जैसे नागार्जुन, गोरखनाथ, कान्हपाद और सरहपाद । कामरूप तन्त्र मन्त्र के देश के रूप मे तो प्रसिद्ध था ही, फिर भौगोलिक दृष्टि से भी उस समय का कामरूप जब कि बिहार तक फैला हुआ था—ऐसी अवस्था में इन्हे कामरूपी आचार्यो द्वारा कामरूपी भाषा मे रचित कहा जाना चाहिए ।[2]

२. भाषा विज्ञान मे मागधी अपभ्रंश नामक जो एक भाग किया गया है, वह तो वास्तव मे कामरूपी अपभ्रंश या कामरूपी प्राकृत होना चाहिए और इस कामरूपी अपभ्रंश से ही पूर्व भारत की सभी आधुनिक भाषायें निकली हुई हैं ।

३ इस्लाम के धुआंधार आक्रमण और राज्यक्रान्ति के बाद असम को छोड़ पूर्वी भारत की सारी भाषायें कामरूपी अपभ्रंश से दूर रह गई । इधर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता हुआ कामरूप राज्य का शेष भारत से संपर्क छिन्न सा रहा । इसी कारण से यहाँ उस प्राकृत या अपभ्रंश का रूप करीब ज्यों का त्यों रह गया ।

४. कारक वचन आदि की समानता ही केवल नहीं, अपभ्रंश के शब्द भी करीब उसी रूप में अब तक रहना क्या हमारे मत का समर्थन नहीं करता ।

---

१. डॉ० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या . द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आफ दी बेंगाली लैंगवेज, पृ० ११२ ।

२. चित्र महंत . असमिया साहित्य और साहित्यकार, पृ० २१ ।

५. कुछ शब्द हम यहाँ उदाहरणार्थ रख रहे हैं जो अर्वाचीन असमिया में प्रचलित है— डालु, एरि, तेतेलि, राति, समाइ, थिरकरि, दुआरत, तेइ, पारि, हाक, पानी, हरिणी, बाट, देखि ।[1]

किन्तु इन शब्दों में अधिकतर अवधी (हिन्दी) में भी प्रचलित है। उपलब्ध चर्यागीतों की भाषा का रूप आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर अधिक झुका हुआ है। यही कारण है कि इनमें हिन्दी, बंगाली, असमी आदि के प्रभूत तत्त्व मौजूद हैं। चाहे इन्हें पुरानी हिन्दी कहा जाय, चाहे बंगाली या असमी कोई खास फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि अभी तक इन भाषाओं का बहुत अधिक अलगाव नहीं था। सातवीं शताब्दी में बिहार, बंगाल तथा आसाम में एक ही भाषा बोली जाती थी।[2] मागधी के क्षेत्र में लिखी गयी इन चर्याओं में यदि बिहारी (हिन्दी) बंगाली, असमी के तत्त्व मौजूद हैं तो इसमें कौन सा आश्चर्य है। अपभ्रंश को नाटकों की प्राकृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच एक सीढ़ी माना जाता है।[3] राय बहादुर आर्त्त वल्लभ महान्ती का कथन है कि मैं उपर्युक्त सहजिया गान को प्राचीन उत्कल भाषा और साहित्य के निदर्शन के रूप में मानता हूँ—इन गानों की भाषा के साथ आधुनिक उत्कल भाषा का जो साम्य है वैसा अन्य किसी प्रान्त की भाषा के साथ नहीं।[4]

सन्ध्या भाषा :

अपभ्रंश के अधिकतर मुक्तकों में भाषा का रूप सीधा सादा है किन्तु सिद्धों की प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक भाषा के विषय में किञ्चित् अलग से विचार किया जाना अपेक्षित है। इस सांकेतिक भाषा के नामकरण के विषय में ही विद्वानों में मतभेद मिलता है। कोई इसे सन्ध्या भाषा कहता है कोई

---

१. चिद्र महंत : असमिया साहित्य और साहित्यकार पृ० ७२।
२. डॉ० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या ओ० एण्ड डे० आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ७८।
३. डॉ सुनीत कुमार चाटुर्ज्या ओ० एण्ड डे० आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ९०।
४. चतुर्दश भाषा निबन्धावली—बि० रा० भा० पृ०, पटना, पृ० ७०।

सन्धा । हर प्रसाद शास्त्री ने सन्ध्या का अर्थ आला आन्धारी या धूप छांह ि शैली जिसका बाह्य अर्थ कुछ और हो तथा आन्तरिक अर्थ कुछ और।[1] पंडित विधु शेखर शास्त्री ने सन्ध्या को सन्ध्या का अशुद्ध प्रयोग माना । उनके मत से यह लिपिकारो का प्रमाद था जो वास्तविक शब्द सन्धा को सन्ध्या के रूप मे ग्रहण किया । उनके विचार से सन्धा का अर्थ अभिसन्धि या अभिप्राय युक्त भाषा मे है जिसका उद्देश्य किसी अभिप्राय को व्यक्त करना है । बागची का कथन है कि तिब्बती परम्परा में सन्ध्या और अभिसन्धि के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हैं ।[2] डॉ० भारती ने इस प्रकार की भाषा की परम्परा वैदिक काल से मानी और इसकी मंत्र प्रकृति की ओर संकेत किया ।[3] इस भाषा को अभिप्राय युक्त भाषा कहना ही उचित है ।

लोक-वाणी की ओर मुड़ती अपभ्रंश :

दसवीं शताब्दी के बाद की अपभ्रंश रचनाओं में भाषा संबंधी आदर्श में कुछ परिवर्त्तन दिखाई देता है । शिष्ट अपभ्रंश की अपेक्षा ग्राम्य अपभ्रंश को विशेष रूप से अपनाया गया । इस विकसित परवर्ती अपभ्रंश की परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ स्पष्ट विभिन्नताएं भी है । इसी आधार पर कुछ विद्वानो ने इसे अवहट्ठ नाम से सम्बोधित करना चाहा क्योंकि अवहट्ठ शब्द अधिक ग्राम्य बोधक है । 'संदेशरासक' मे परिनिष्ठत अपभ्रंश के स्थान पर बोलचाल में प्रयुक्त अपभ्रंश के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया है । कवि का स्पष्ट कथन है कि मेरी कविता ऐसे लोगो के समक्ष पढ़ी जाय जो न तो पंडित हैं और न मूर्ख हैं बल्कि मध्यम श्रेणी के हैं ।

अवहट्ठ काल में लुप्तविभक्तिक पदों का प्रयोग बढ़ने लगा था । 'संदेशरासक' तथा 'प्राकृत पैंगलम्' आदि की भाषा में बहुत से प्रयोग मिलते हैं । संदेशरासक से कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती: सिद्ध साहित्य—पृ० २६८ ।

२ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टली, १९२८ पृ २८७ । उद्धृत उपोद्घात चर्यागीत कोष ।

३. डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य, पृ० २६६ ।

१. जहि छिद्द वियंभिउ विरह घोर।
उच्चरहि सरसु महुयर भुणीय (कर्ता)[1]
२. सिहि खंडिउ दिक्खि मायंदसाह।[1] (कर्म)
३. पिय धरणिय समुरंल विरह सबसेयकय (करण)
४. अवर कहव वरमुद्द हसंतिय अहरगलु। (सम्बन्ध)
५ जइ विम्मविओय विसंठुलयं हियर्य। (अधिकरण)

लुप्त विभक्तिक पदों के आधिक्य के कारण परसर्गों का प्रयोग बढ़ता गया। भाषा धीरे-धीरे वियोगात्मक होती जा रही थी। हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त मुक्तकों मे केहि रेसि, तणेण, होन्तओ, केरअ, केर, मज्झि आदि परसर्ग दिखलाई पड़ते हैं किन्तु संदेशरासक मे सत्थिहिं, सम, सउ, सरिसु, हुंतउ ठियइ, रेसि, लगि, महि इत्यादि नये परसर्गों का आगमन हो जाता है।

संबंध सूचक सर्वनाम जु, जो, जं, जिण, जिणि, आदि का प्रयोग हिन्दी के काफी निकट है। डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि उस समय तक अपभ्रंश को साहित्यिक मान्यता मिल चुकी थी और उसकी साहित्यिक भाषा, जिसका आधार शौरसेनी थी, परिनिष्ठित हो चली थी। साथ ही साथ ग्राम्य अपभ्रंश का विकास हो रहा था। इस ग्राम्य अपभ्रंश में देशी तत्त्व की अधिकता रही होगी।[2]

भाषा को सजीव रखने के लिए यह आवश्यकता कि कवि तथा साहित्यकार लोक में भाषा के बदलते रूपों से अपना संपर्क बनाये रखें। 'संदेशरासक' में इसी स्वाभाविक परिवर्तन को स्वीकार किया गया है और परिनिष्ठित अपभ्रंश से वह इतनी अलग नहीं है जितना ज़ोर दिया गया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में तो और भी वियोगात्मकता आ गयी थी—

सुर अरु सुरहो पर समणि जाहि वीरेस समाण।
ओ वक्कल अरु कठिण तण, ओ पसु ओ पासाण ॥

जैन—अपभ्रंश कवि आणंदा की रचना में भी लुप्त विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं तथा उनकी भाषा काफी सरल तथा हिन्दी के निकट है—

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, छन्द २१२, २१६, २१९, १०३, ११५,

२. विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक भूमिका, पृ० १०१।

केइ केस लुचावहिं, केई सिर जट भारु (अधिकरण)
अप्प विन्दु ण जाणहिं आणन्दा ! किम यावहिं भवपारु[3] ।।६।।

अपभ्रंश मुक्तकों मे प्रयुक्त विभिन्न शैलियाँ :

अपभ्रंश मुक्तकों मे प्रवृत्तियो के अनुकूल ही शैली का विविध रूप दृष्टिगोचर होता है। किन्तु प्रमुख रूप से निम्नलिखित शैलियाँ परिलक्षित होती है—

१. **उपदेशात्मक शैली** :—इस प्रकार की शैली का प्रयोग धार्मिक मुक्तको मे हुआ है, इस प्रकार की शैली मे एक आदेश है या सम्मति। 'सावयधम्म दोहा' में इस तरह की शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। जोइन्दु, रामसिंह, सरह आदि सिद्धो मे भी उपदेशात्मक शैली का आधिक्य है।

२. **मंडनात्मक शैली** : इस तरह की शैली मे कवि अपनी धार्मिक मान्यताओं को मंडित करने के लिए तरह-तरह के लाभो की चर्चा करता है तथा गूढ़ दार्शनिक तत्त्वो को तरह-तरह के दृष्टांतो तथा व्याख्याओं से समझाता है। इसमे साम्प्रदायिकता का भी पुट आ जाता है क्योंकि कवि मे अपने धर्म के प्रति कुछ विशेष आग्रह या पक्षपात होता है। इस तरह की शैली मे कही कहीं दार्शनिक गहराई होने के कारण शुष्कता तथा दुरूहता भी आ जाती है। इसमें तार्किकता भी है।

३. **खंडनात्मक शैली** : अपने सिद्धान्त या मान्यता को मंडित करने के लिए दूसरे की बातो का निषेध करना पडता है। खंडनात्मक अंशो में शैली अधिक शक्तिशाली और ओजपूर्ण होती है। साहसिकता के साथ-साथ इसमे प्रच्छन्न व्यंग्य भी है। बाह्याडम्बर, पुस्तकीय ज्ञान, तीर्थ, व्रत, विषय वासना की अनुरक्ति, सांसरिक जीवन की आसक्ति आदि का निषेध इसी शैली में किया गया है।

४. **व्यंग्यात्मक शैली** : जब अनेक खंडनों तथा उदाहरणो के बाद भी कवि के ही संप्रदाय के कुछ साधक या सामान्य जन किसी पिटी पिटायी लकीर को छोड़ने को तैयार नहीं होते तो उन पर व्यंग्य का कशाघात किया जाता है। कवि उन्हें चेतावनी देता है और कभी-कभी उसकी शैली मे बडा तीखापन तथा भाषा में अक्खड़ता आ जाती है। वह जब समझाते समझाते हार जाता है तो उसमें खीझ आ जानी स्वाभाविक है जैसे—

१ आणंदा 'दतिलक दोहा छन्द ६ और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद के परिशिष्ट में प्रकाशित

(१) जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह ।
लोमु (उ) पाडणे अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह ॥७॥
(२) तहि बढ़ चित्त विसाम करु सरहें कहिअ उएस ॥२५॥[1]

५—**अतिशयोक्ति पूर्ण स्तुतिपरक शैली**—स्तुतिपरक शैली धार्मिक तथा लौकिक दोनो प्रकार के काव्यो मे मिलती है । धार्मिक काव्यों में किसी गुरु तथा जिन की वन्दना की गयी है तथा लौकिक काव्यो में किसी राजा का यश गान । दोनों मे अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है । जिनदत्त सूरि ने 'चर्चरी' में इस शैली का प्रयोग किया है । लौकिक काव्य में यश वर्णन करते समय आश्रयदाता को इन्द्र आदि से भी बढ़कर बताया गया है ।

६—**प्रतीकात्मक शैली**—प्रतीको के माध्यम से चित्रण करने की प्रवृत्ति चर्यापदों मे दिखाई पड़ती है । चर्यापदों की प्रतीकात्मक शैली कतिपय स्थलो पर दोहरे अर्थो की सिद्धि करती है । प्रतीको का अर्थ समझे बिना अर्थ स्पष्ट नही होते । कही-कही कथन में विरोधाभास प्रतीत होता है जैसे बैल का बिआना, पिटा का दुहा जाना, कुम्भीर का इमलीखाना आदि ।

७—**सामासिक शैली**—शृंगारिक मुक्तको मे विस्तृत कथ्य को छोटे मे छन्दों में भरने का प्रयास किया गया । अत. शब्द-योजना सघन तथा चुस्त है । छन्द में मे कोई भी शब्द हटाया नहीं जा सकता । शब्द के स्थानान्तरण या पर्याय योजना मात्र से मुक्तक का सम्पूर्ण सौन्दर्य नष्ट हो जाता है ।

अलंकार योजना

अपभ्रंश के धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तको का प्रमुख लक्ष्य धर्म तथा मानवीय श्रेय से संबंधित तथ्यो का विश्लेषण तथा प्रचार करना था भाषा को अलंकृत करना नही किन्तु अपने उपदेश को रोचक बनाने के लिए वे उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि का उपयोग करते हैं । अपभ्रश मुक्तको मे प्रयुक्त अलकारो को दो कोटियो मे रखा जा सकता है—

१—शब्दालंकार ।
२—अर्थालंकार ।

अर्थालंकार के दो वर्ग है—

१—सादृश्यमूलक ।
२—विरोधमूलक ।

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीत कोष पृ० १८८ ।

(१) **शब्दालंकार श्लेष**—धार्मिक तथा लौकिक दोनों तरह के मुक्तको मे श्लेष अलकार का प्रयोग दिखाई पड़ता है। धार्मिक काव्यो मे इसका प्रयोग अनायास हुआ है। जिनदत्त सूरि का एक छन्द उद्धृत है—

> **लोहिण जडिउ जु पोउ स फुट्टइ ॥**
> **वुबकु जहि पहाणु किव वट्टइ ॥**
> **नेय समुद्दह पारु सु पावइ ।**
> **अंतराल तसु आवय आवइ ॥२६॥**[1]

इस छन्द मे 'लोहिण' तथा पहाणु श्लिष्ट शब्द है। लोहिण का अर्थ लोभ और लोहा है तथा पहाणु का अर्थ प्रधान और नाव दोनों है।

अर्थालकारो मे सादृश्यमूलक अलंकारो का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उपदेशात्मक तथा धार्मिक मुक्तको मे औपम्यमूलक अलकार का प्रयोग तो मिलता है परन्तु उपमावाचक शब्दो का प्रयोग न होने के कारण या तो उन्हे रूपक के रूप मे प्रयुक्त किया गया है या दृष्टांतों के रूप में। शृंगारिक मुक्तको मे उपमा अलकार का प्रचुर प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य चित्रण मे अधिकतर परम्परित उपमानों से ही काम चलाया गया है। हाथ की उपमा अशोकदल, मुख की उपमा कमल-चन्द्रमा तथा हँसी की उपमा नवमल्लिका से दी गयी है। अधिकतर स्थलों पर नायिका को प्रचलित उपमानो से श्रेष्ठ वर्णित किया गया है जिनसें व्यतिरेक अलकार का सौन्दर्य परिलक्षित होता है

> **तुहुँ उज्जाणि म वच्चसि जइ वि हु विलसइ मयण सबु पवलु ।**
> **गइ नयणिहिं लज्जीहइ तुह हंसीउल सहि तइ हरिणिउलु ॥**[2]

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग पर्याप्त भाव व्यंजक तथा मौलिक है। नायिका के भ्रू चक्र का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि तरुणी जनो का भ्रूचक्र-चङ्ग ऐसे शोभित हो रहा है मानो त्रिभुवन विजयी अनङ्ग जनो को आज्ञा देता है।[3] वर्त्तुल चन्द्रमा ऐसे शोभित होता है मानो वह रजनी-वधू का क्रीड़ा कन्दुक हो।[4]

---

१. अपभ्रंश काव्य-त्रयी-कालस्वरूप कुलक-छन्द २६।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ७। ६ १।

३. वही, ६।१६. २८।

४. सहि वटटुलउ चंदुल्लउ पडिहाइ।
   रयणिवहुए कीलणमदुउ नाइ वही पृ० १६४

रूपक अलंकार

धार्मिक मुक्तकों में रूपकों के प्रयोग से पर्याप्त सरसता आ गयी है। इन रूपकों का प्रयोग बड़े सहज ढंग से हुआ है।

मुनि रामसिंह ने लोक जीवन से रूपकों का चुनाव करके अपने उपदेशों को मार्मिक बनाया। उन्होंने मन को करह, देह को देवालय, आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियों को शक्ति कहकर संबोधित किया। इन्द्रियों को पाँच बैल का रूपक देकर कवि उनसे (मन की) रक्षा के लिए कहता है और आत्मा रूपी नंदन वन में मन को प्रविष्ट करने की सलाह देता है। कवि देह और आत्मा या जीव और परमात्मा के संयोग का चित्रण प्रेयसी और प्रेमी के रूपक में करता है। शरीर (रूपी प्रिया) सगुण है और प्रिय निर्गुण निलक्षण और निसंग है। एक ही अंग रूपी अंक अर्थात् कोठे में बसने पर भी अंग से अंग नहीं मिल पाते—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥१००

अन्यत्र मन को प्रियतम इन्द्रियों को परकीया नायिका तथा आत्मा को प्रियतमा कहा गया है किन्तु इन शब्दों का प्रयोग न होने के कारण अप्रस्तुत योजना के रूप में चित्रण हुआ है—

पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो मिलिउ परस्स ॥

मन बहुत शक्तिशाली है। जब वह इन्द्रियों की ओर आकर्षित होकर झुकता है तब उसका निरोध दुष्कर होता है। मुनि रामसिंह ने मन की शक्ति तथा सबलता की हाथी से तथा इन्द्रियों की विशालता की व्यंजना विन्ध्य पर्वत के रूपक से की। मन रूपी हाथी शील-रूपी वन को सहज ही तोड़ सकता है—

अम्मिय इहु मणु हत्थिया विंझहं जंतउ वारि।
तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि ॥

जिनदत्त सूरि ने जिनवल्लभ के चरणों की महिमा का गान करते हुए परम्परित रूपकों का प्रयोग किया। कवि का कथन है कि उनके पदपंकज को जन भ्रमर पुण्य के द्वारा प्राप्त कर शुद्ध-ज्ञान-रूपी मधु का पान करके अमर होते हैं। उन अनुपम की उपमा किससे दी जाय। पदों के लिए पंकज उपमान परम्परासंगत है। भ्रमर उपमान रसिकों के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ भ्रमर सामान्य जनों के लिए प्रयुक्त किया गया है। कमल के प्रति भ्रमरों का सहज आकर्षण होता है। इसी तरह जिन वल्लभ के चरणों में लोगों के लिए सहज आकर्षण है।

ज्ञान को मधु का रूपक देकर ज्ञान की नीरसता तथा रुक्षता का परिहार किया गया है।

तसु पयपंकयउ पुन्निहि पाकिउ जण-भमरु
सुद्धमाण, महुपाणु करंतउ हुइ अमरु।
सत्थु हुंतु सो जाणइ सत्थ पसत्थ सहि
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ।।

माया नित्य नवीन तथा आकर्षक है। वह सदैव हरी भरी रहती है। महयंदिण मुनि ध्यान की कुल्हाड़ी से माया की वेलि काटकर महासागर मे खेलने की सम्मत्ति देते है—

छिण्णहि झाण कुठारिण मूलहो माया बेल्लि ।

सिद्ध-काव्य मे रूपकों का प्रयोग अधिकतर प्रतीकात्मक रूप मे हुआ है। वाचक शब्द रहित उपमेय तथा उपमान दोनो का प्रयोग एक साथ कम ही मिलता है परन्तु रूपको का एकदम अभाव नही है। काया-तरुवर, भवनदी आदि रूपकात्मक प्रयोग ही हे। कुछ दोहो मे रूपको का बड़ा सहज तथा आकर्षक प्रयोग किया गया है। गुरु के उपदेश मे अमृत रस है जो उसे दौडकर नही पीता वह बहुत से शास्त्र रूपी मरुस्थलो में तृषित घूमता है—

गुरु उवएसे अमिअ-रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
बहुसत्थत्थ मरुत्थलिहि तिसिए मरिअउ तेहि ।।

यहाँ भी चित्त को गयंद तथा करह का रूपक प्रदान किया गया है। चित्त को तरुवर के रूप मे कल्पित किया गया है जिसका विस्तार तीनो भुवनो मे है। उसमे करुणा के विभिन्न पुष्प पुष्पित है। एव सुख के फल लगते है—

अद्दह चित्त तरुअरह गउ तिहुवणें वित्थार।
करुण, फुल्लीफल धरइ णाउ परन्त ऊआर ।।
सुण्ण तरुवर फुल्लिअउ करुण, विविह विचित्त।
अण्णा भोअ परत्तफलु एहु सोक्ख परु चित्त ।।[1]

दृष्टान्त :

जैन मुक्तकों तथा सिद्धो-कवियों के दोहों मे दृष्टान्तों की भरमार है। मन पांचो इन्द्रियो का नायक है। इसे बस में करने पर सारी इन्द्रिया स्वतः वस मे हो जाती हैं। इसके लिए कवि ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया कि वृक्ष की जड़

---

1 प्रबोधचन्द्र बागची ; चर्यागीति कोष पृ० १६५ ।

कट जाने पर पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं । यह दृष्टान्त बडा सहज तथा सर्व अनुभव गम्य है ।[1] ज्ञान के बिना मोक्ष दुर्लभ होता है जैसे बहुत से जल को मथने से घी निकलना सभव नही है ।[2] आत्मा मे रति होने पर जीव कर्मों मे लिप्त नही होता । यह एक सैद्धान्तिक कथन सा प्रतीत होता है । साधारण जनो के लिए दुरूह भी है कि संसार मे रहकर कर्मो से लिप्त होना अस्वाभाविक सा है । कवि ने एक सर्व परिचित दृष्टान्त प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार जल मे रहते हुए कमलपत्र जल से कदापि लिप्त नही होता ।[3] उसी तरह से जीव जग में रहते हुए कर्मो में लिप्त नहीं होता । कवि आणदा ने शरीर में जीव के निवास को बाह्य रूप से अदृष्य तथा विरले लोगों के जानने योग्य बताया । कवि ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिए दोहरा उदाहरण दिया । एक काष्ठ मे अग्नि का तथा दूसरा पुष्प म परिमल का, बाह्य रूप से काष्ठ मे अग्नि तथा पुष्प मे परिमल प्रत्यक्ष नही होते परन्तु उनमें ये रहते अवश्य हैं ।[4] मद्यमास मे रत रहनेवालो के सग से सम्यकत्व उसी तरह से मैला हो जाता है जैसे अजन गिरि के संग से चद की किरण भी काली हो जाती है ।[5]

जैन कवियो के समान ही सिद्धो ने अत्यधिक सहज तथा अनेक दृष्टातो के प्रयोग द्वारा अपने गूढ भावो को समझाने की चेष्टा की है । मन्त्र तन्त्र से शान्ति नहीं होती । इसके लिए सरहपाद ने एक दृष्टात दिया कि तरुफल के दर्शन से भूख की तृप्ति नही होती तथा वैद्य के देखने से रोग नहीं भग जाता ।[6] जब तक आत्म ज्ञान न हो जाय तब तक शिष्य नही बनाना चाहिए ।

---

१. पंचहं णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥ १४०,
परमात्म प्रकाश

२. णाणु विहीणहं मोक्ख पउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुएं सलिल विलोलियई करु चोप्पडउ ण होइ ॥ ७४ ॥
वही, पृ० २१० ।

३. जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कयावि ।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प सहावि ॥९२॥
योगसार, पृ० ३९१ ।

४. जिम वइसाणर कट्ठमहि कुसुमइ परिमलु होइ ।
तिह देह मइ बसइ जिउ, आणंदा ? विरला बूझइ कोइ ॥१६॥

५. देवसेन : सावयधम्म दोहा, दो ३९ ।

६. तरुफल दरिसणे णउ अघाइ । वेज्ज देखिअ किं रोग पसाइ ॥७॥
बागची : चर्यागीति कोष पृ० १८९

अज्ञानी गुरु तथा अज्ञानी शिष्य दोनों अन्धे के समान हैं जो एक दूसरे को ठेलते हुए कुंए में गिर जाते है।[1] जो स्वयं अज्ञानी है वह किसी को कैसे ज्ञान दे सकता है ठीक उसी तरह से अन्धा व्यक्ति दूसरे अन्धे को कैसे सहारा दे सकता है क्योंकि वह स्वयं भी दृष्टिहीन तथा अज्ञातपथ है। यदि कभी इसकी दुश्चेष्टा की गयी तो दोनो का विनाश अवश्यसंभावी है। कवि द्वारा प्रयुक्त दृष्टात युक्ति संगत है तथा संक्षेप में ही कवि के विस्तृत अभिमत को व्यक्त करने मे सक्षम है। काण्हपाद ने भी दृष्टातों का सफल तथा मार्मिक प्रयोग किया है। उनका कथन है कि आगम-वेद पुराण के अध्ययन में रत पंडित लोग आत्मा की गहराई में प्रविष्ट नही हो पाते। वे ब्रह्मरस से वंचित रहकर बाहर ही बाहर चक्कर काटते रहते है जैसे भ्रमर पके हुए श्रीफल के बाहर-बाहर चक्कर काटता रहता है और उसके रस का पान नही कर पाता।

आगम-बेअ-पुराणें पण्डिआ माण वहन्ति।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम बाहेरिअ भमन्ति॥

अतिशयोक्ति :

किसी राजा के यश वर्णन तथा नायिकाओं के विरह के ऊहात्मक वर्णनो में अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है। कवि कहता है कि हे पृथ्वी तिलक तुम्हारा भुजबल उद्भूत है। तुम्हारे चक्षु क्षेपण मात्र से शत्रु वीर का हृदय विघटित हो जाता है। तुम्हारा चरित्र नरसिंह के चरित का उल्लंघन कर जाता है।[2] यहाँ पर स्तुत्य वीर को नरसिंह से भी श्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि नरसिंह ने अपने नखों का प्रयोग करके शत्रु हिरण्यकश्यप का हृदय-विदीर्ण किया था किन्तु यह उद्भट वीर दृष्टि-क्षेपण मात्र से शत्रुओं का हृदय विदीर्ण कर देता है। यह अतिशयोक्ति स्वाभाविक तथा सटीक है। अत्यधिक रोष युक्त आरक्त तथा दीर्घायित नेत्रों को देखने मात्र से सशंकित शत्रु का हृदय दहल जाता है। कहीं-कहीं साम्यमूलक तथा विरोध मूलक तत्वों को

---

१. जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धे अन्ध कढ़ावइ तिम वेण्ण वि कूव पड़ेइ॥८॥
बागची : चर्यागीत कोष, पृ० १८६

२. अज्ठउ ता उब्भउभुअबलु चक्खुक्खेविण विहडयंतु रिउ भडहिअउ।
सुरनरसीह विक्कंत चरित्त लंघेविणु किउ रेहइ पुहईसर।
हेमचन्द्र छन्दोऽनुसासन ७ ३६ १

मिला जुलाकर अतिशयोक्ति की गयी है। उसमें से यदि अलंकारिकता का परिहार कर दिया जाय तो युक्ति बिलकुल सत्य निकलती है। कीर्ति को अद्भुत गंगा का रूपक दिया गया। फिर कीर्ति गंगा तथा सामान्य गंगा मे विरोध दर्शाया गया है। गंगा-पर्वत से उतरती है और सागर मे विलीन हो जाती है। परन्तु कीर्ति गंगा पर्वतों पर आरोहित होती है तथा सागर का उल्लंघन कर जाती है।[1] इस कथन में रूपक अलंकार, कवि समय दोनो के आधार पर अतिशयोक्ति की गयी। परन्तु जब मात्र कीर्ति पर विचार किया जाय तो उसमे पर्वत तथा समुद्र दोनो को लांघकर विस्तृत होने की शक्ति है। कवि द्वारा प्रयुक्त अलकार बहुत अधिक चमत्कारिक न होता हुआ भी सुन्दर बन पडा है। शृङ्गारी मुक्तको मे ऊहात्मक स्थल अति-काल्पनिक तथा अति-शयोक्तिपूर्ण है। तप्त वाष्पौघ जल कपोल पर ही छिम-छिम करके फिर सिम-करके सूख जाते है। प्रिय के आगमन पर चूडियों का टूट जाना, आदि अति-शयता पर ही आधारित चित्रण है।[2]

अन्योक्ति :

प्रेम भावो को व्यंजित करने के लिए प्रस्तुत के चित्रण द्वारा अप्रस्तुत भावो को दर्शाया गया है। कभी-कभी नायक या नायिका की काम चेष्टाओ को या प्रेम के विलास के आमन्त्रण को श्रेष्ठ जनो के बीच सीधे व्यक्त नही किया जाता। इसके लिए अन्योक्ति का सहारा लिया जाता है। एक मित्र दूसरे को संबोधित करके भ्रमर की चेष्टाओ का चित्रण करता है किन्तु उसकी सारी चेष्टाएँ एक नायक की चेष्टाओ मे मिलती जुलती हैं जिससे रसिक जनो की विलास लीला का चित्र प्रस्तुत होता है। इससे दूसरे मित्र को जो किसी कारणवश विरक्त हो रहा है या नायिका से रुष्ट है विलास तथा काम-क्रीडा मे संलग्न होने के लिए प्रोत्साहन भी मिलता है—मित्र देखो, भ्रमर मद्यप की तरह मस्त होकर निरीक्षण करता है, ध्वनि करता है, परिरंभण

१ लंघइ सायर गिरि आरुहइ तुह अहंग।
ससि सेहर हसि उज्जल नउरवी कित्तिगंग॥

हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।२०·६।

२. तं तेत्तिउ वाहोहजलु, सिहिणतरि वि न पत्तु।
छिमिछिमिवि गंडत्थलिहिं, सिमिसिमिवि समत्तु॥

हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन वही ६।२२ ४।

करता है, चुम्बन करता है। चम्पक के कुसुमावत में निमग्न होकर मोहित हो जाता है—

निअइ, भुणइ परिरंभइ चुंबइ महुसुंडउ।
अलि मुज्झइ, चंपइ कुसुमावहि निबुड्डउ॥

एक दूसरा चित्र सामान्य कथन के रूप मे वित्रित हुआ है पर इससे एक अप्रस्तुत तथ्य भी उद्घाटित होता है।

कुसुमंतरि, नवि लग्गइ अली अवनिद्दिग्रइ।
आसत्तउ, माइलहिं बहल मयरंदिअहि॥[1]

इस छन्द मे बहुत मकरंदों वाली मालती से रूप-गुण सपन्न नायिका की ओर संकेत है तथा अन्य कुसुम अन्य नायिकाओ के लिए प्रयुक्त है। भ्रमर नायक है।

मानवीकरण :

अपभ्रश के कवियो ने प्रकृति पर मानवीय भावो का आरोप किया है। शरद्, वसंत पावस आदि ऋतुओं को लक्ष्मी रूप मे कल्पित किया गया है।

विरोधमूलक अलंकारो का प्रयोग सिद्धों की उलटवांसियो तथा कुछ अन्य स्थलो पर हुआ है जैसे—

बद्धो धावइ दहदिहहिं मुक्को णिच्चल ठाइ।
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ महु पड़िहाइ॥४३॥[2]

हिन्दी मुक्तकों की अलंकार-योजना :

काव्य को प्रभावशाली तथा मार्मिक तथा सौन्दर्ययुक्त बनाने के लिए प्राचीनकाल से ही कवियों ने ध्यान दिया। हिन्दी के भक्तिपरक मुक्तको तथा रीति-मुक्तको में अलंकार योजना का अलग-अलग आदर्श मिलता है। अपभ्रश के मुक्तको मे भी यह अंतर स्पष्ट है। उपमा, रूपक, दृष्टांत, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति अपह्नुति आदि अलङ्कारो का प्रयोग संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सभी भाषाओं के काव्यो में मिलता है। प्रश्न उठता है कि भाव तथा प्रवृत्तियो से प्रभाव ग्रहण करनेवाले या अपभ्रंश की कुछ नवीन साहित्यिक परम्पराओ

---

1 हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन ६।१९८।

२ प्रबोधचन्द्र बागची– चर्यागीत कोष पृ० १९१।

को विकसित करनेवाले हिन्दी मुक्तककारो ने अभिव्यक्ति के स्तर पर अलङ्करण को किस आदर्श तथा स्तर से ग्रहण किया।

अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तकों में उपदेशात्मकता तथा खण्डन मण्डन की विशेष प्रवृत्ति थी। अतः उनमे उपमा, दृष्टांत तथा रूपक का अधिक प्रयोग किया गया। उन्हें सदैव इस बात पर ध्यान देना पड़ता था कि कही उनकी वाणी अलङ्कारो के प्रयोग मे अस्पष्ट न हो जाय। इसीलिए उनके काव्य में अलङ्कारो का प्रयोग स्वाभाविक तथा अनायास हुआ है। रहस्यवादी तथा आत्मानुभव से संबंधित मुक्तक इसके अपवाद है जिनमें भावाभिव्यक्ति के लिए कवियो को उदात्त तथा शक्तिशाली भाषा की रचना के लिए प्रतीकों तथा रूपको का प्रयोग करना पडा। कुछ सिद्धो तथा संतों की यह मान्यता थी कि अनाधिकारी व्यक्तियो को उनके सिद्धान्तों तथा गूढ़ नियमों से परिचित होने की आवश्यकता नही है। इसलिए उन्होने कुछ ऐसे प्रतीकों का सृजन किया जिनका अर्थ जाने बिना कथ्य को नही समझा जा सकता। ऐसे स्थलों पर दुरूह रूपक बाँधे गये हैं जो सामान्य लोक व्यवहार से मेल न खाने क कारण उलटबांसी से लगते हैं। सूर, कबीर, तुलसी, दादू आदि ने जहाँ सामान्य जनो की चेतावनी तथा उपदेश देना चाहा है वहाँ दृष्टातो तथा उपमाओ का खूब प्रयोग किया है।

(२) मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै।[1]

भक्तों ने उपमा, रूपक का प्रचुर प्रयोग किया। धरनीदास कामिनी की उपमा दामिनी से और 'दाम' की उपमा फाँसी से देते है—

दामिनि ऐसी कामिनी, फाँसी ऐसो दाम।
धरनी दुई तें बाचिये, कृपा करै जो राम।।[2]

तुलसीदास मनुष्य की उपमा सूकर, स्वान से देते है जो भगवान् का भजन नहीं करते—

सूकर स्वान सृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि-दुख लागी।।[3]

कबीर काव्य मे रूपकों का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है—

---

१. सं० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार।
२. धरनीदास जी : संतबानी संग्रह, पृ० १६६।
३. वियोगी हरि : विनयपत्रिका, पृ० २११।

अतः हम देखते है कि भक्तिकाव्य मे औपम्यमूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश मुक्तकों की अलंकार-योजना के समान ही है। देह के लिए देवालय, ईश्वर से वियुक्त आत्मा के लिए मीन, संसार के लिए समुद्र, भव-जल, संसार मे लीन व्यक्ति के लिए कूकर शूकर, असत्य-आभास के लिए नभ-नीर, रविकर नीर, मृग वारि, जेवरी का साँप आदि अप्रस्तुत अपभ्रंश और हिन्दी के भक्तिपरक मुक्तको मे विशेष रूप से अपनाये गये हैं। सिद्धों की प्रतीक योजना पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि इनमे से अनेक प्रतीक तथा उपमान परंपरा से प्रचलित रहे हैं। तुलसीदास के कुछ मुक्तक पदो को उद्धृत करके अधिकांश उपमानों को प्रदर्शित किया जा सकता है—

> जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।
> देह-गेह-नेह जानि जैसे घन दामिनी॥
> सोवत सपनेहुँ सहै संसृति सताप रे।
> बूड्यो मृग-वारि, खायो जेवरी को सापरे॥[1]

लता तथा बेलि का रूपक सन्तो मे काया के अर्थ मे अधिक प्रयुक्त हुआ। कबीर ने इस काया बेली के साथ अनेक विरोधी भावो का वर्णन करके अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न किया है। इसके माध्यम से कहीं-कहीं उन्होने उलटवांसी ही रच दी है—

> कबीर आगणि बेलि अकासि फल अणब्याघर का दूध।
> ससा सींग की धुनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत॥४॥[2]

लगता है यहाँ बेली का प्रयोग कुंडलिनी के लिए हुआ है। यह बेली शरीर के निचले चक्रों मे है किन्तु इसका फल आकाश ब्रह्मरन्ध्र में है। यह फल उसी प्रकार का है जैसा अनब्याई गाय का दूध शशक-शृंग का धनुष और बंध्यापुत्र का रमण करना होता है। अर्थात् इसका अस्तित्व अशरीरी होता है। महयंदिण मुनि ने 'बेलडी' का प्रयोग माया के लिए किया है। देह के लिए देवल का रूपक निम्नलिखित दोहे में प्रयुक्त हुआ—

> कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई संवार।
> करे चेजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी बार॥[3]

---

१. वियोगी हरि : विनयपत्रिका, पृ० ११२।
२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, बेली को अंग, पृ० १३८।
३. वही, चितावणी को अंग, „ पृ० ४१।

आत्मा के लिए प्रिया तथा परमात्मा के लिए प्रियतम का रूपक रामसिंह के एक दोहे में प्रयुक्त हुआ है। कबीर के काव्य मे आत्मा रूपी प्रिया तथा परमात्मा रूपी प्रिय का संयोग-वियोग बड़े विस्तार से वर्णित किया गया है।[1]

सिद्धों तथा सन्तों में रूपक साम्य

सिद्धो तथा सन्तो द्वारा प्रयुक्त रूपको मे पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। कुछ उदाहरणो के माध्यम से इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है—

(१) **रुई धुनने का रूपक**—इस रूपक का प्रयोग सिद्ध शान्तिपा ने किया है। कबीर जुलाहा थे अतः उन्होंने इस रूपक की नियोजना बड़े विस्तार से की है। कबीर के अलावा अन्य सन्तों ने भी इस रूपक को प्रयुक्त किया है जैसे—

> धुन धुन डालूँ अब मन को।
> मैं धुनिया सतगुरु चरनन को ।।
> मन कपास सुरत कर रुई।
> काम बिनौले डाले खोई ।।
> दुई साफ धुनकी सुधि पाई।
> नाम धुला ले गगन चढ़ाई ।।[2]

(२) **विवाह का रूपक**—इस रूपक का प्रयोग काण्हपा ने चर्या १६ में किया है। कबीर ने भी विवाह का रूपक ग्रहण किया परन्तु उसमे पर्याप्त परिवर्तन मिलता है। काण्हपा ने भव को पटह, निर्वाण को मादल, मन-पवन को ताल देनेवाले (बाराती) डोम्बी को वधू माना है। कबीर ने पाँच तत्त्व को बाराती राम को वर, आत्मा को वधू, इन्द्रियो को गायिका माना है।[3]

(३) **वीणा का रूपक**—वीणापा ने चर्या १७ में वीणा के रूपक का प्रयोग किया है जिसमे सूर्य तूबी, अवधूती दडिका, चन्द्र तार, सारिका आली काली, करुणा तथा उपाय ध्वनि है। चर्या २५ मे भी तन्त्री का रूपक ग्रहण किया गया है। कबीर ने भी यंत्री (जंत्री) का रूपक ग्रहण किया किन्तु उसमें काफी परिवर्तन कर दिया—

---

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, विरह कौ अंग, दो० ३४ पृ० १८।

२. शिवदयाल : संतकाव्य, पृ० ५४६।

३. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० १४७।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजे ।
ताका सबद गगन मैं गाजै ।।
सुर की नालि सुरति का तूबा, सतगुर साज बनाया आदि ।।[1]

(४) शुंडिनी (मद-निर्माण) का रूपक—इसका प्रयोग चर्या ३ मे किया गया है। इसमें परिशुद्धा अवधूती को कलाली, ललना रसना को दो घर, सम्वृत्ति चित्त को वल्कल चूर्ण, शुक्र नाडी को नली माना है। कबीर इस रूपक का प्रयोग कुछ परिवर्तन के साथ करते हैं—

काया कलाली लाहनि करि हूं, गुरु सबद गुड़ कीन्हां ।
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अग्नि परजारी । आदि ।[2]

(५) सुमेरु का रूपक—शबरपा ने मेरु पर्वत का रूपक मेरुदण्ड के लिए प्रयुक्त किया है। इसी पर्वत की शिखा पर शबरी बाला निवास करती है। आगे आनेवाले संतों मे यह रूपक बराबर चलता रहा—

१—दादू मेर सिखर चढ़ि बोलि मन मोरा ।
राम जल बरिसै सबद सुनि तोरा ।।[3]

२—कबीर तूं मेरो मेरु परबतु सुआमी ओट गही मै तोरी ।
न तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनो हरि मेरी ।।[4]

(६) ताला-कुंजी का रूपक—काण्हपा ने पवन-निरोध द्वारो पर ताल लगाने के लिए कहा है—

यह रूपक नाथपंथियो से होता हुआ सन्तो तक चला आया। नाथो ने तो इसे कुम्भक खेचरी मुद्रा शब्द-योग आदि कई प्रसंगो मे प्रयुक्त किया। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१—ताला कुंजी गहि लागि केवारा । चोर न धुसैं ज्ञान रखवारा ।[5]
२—दादू देव दयाल को गुरु दिखाई बाट ।
ताली कुंजी लाइ के खोलै सबै कपाट ।।[6]

---

१. वही, पृ० २६३ ।
२. सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० २३४ ।
३. दादू दयाल की बानी २, पृ० १३९ ।
४. संत कबीर, पृ० १७८ ।
५. दरिया सागर, पृ० १५ ।
६. दादू दयाल की बानी १, पृ० १ ।

संतो मे ताला-कुंजी के रूपक का प्रयोग अधिकतर त्रिकुटी मे कुम्भक द्वारा ध्यान केन्द्रित करने के अर्थ मे है। घोडा और चोर के रूपक भी सिद्धो और सन्तो में समान रूप से प्रयुक्त हैं।

उलटवांसी

विरोधमूलक प्रतीकों की योजना से सिद्धो के कुछ कथन उलटवांसी प्रतीत होते हैं। संत साहित्य मे इस तरह की उलटवासियो का पर्याप्त विस्तार हुआ है। कुछ उलटवांसी तो सिद्धो के बिलकुल समान ही हैं—

बलद बिआअल गविआ बांझे।
पिटा दुहिअइ ए तिणा सांझे ॥२॥ घु ॥[1] (ढेण्ढपाद)
बैल बियाइ गाइ भई बांझ।
बछरा दूझै तीन्यूं सांझ ॥[2] (कबीर)

रीति-मुक्तकों में अलंकार-योजना :

हिन्दी का रीतिकाव्य कला-प्रधान काव्य है अत. उसमे भाषा को सयत्न अलंकृत करने का प्रयत्न किया गया है। अपभ्रंश मुक्तककारो की तरह ही रीति कवियों ने परम्परित उपमानों के प्रयोग में मौलिक चमत्कार प्रदर्शित किया। कुछ चित्रों की तुलना की जा सकती है। मुख के लिए चन्द्रमा का उपमान परम्परित है। अपभ्रंश की विरहिणी नायिका दर्पण मे अपना मुख इसलिए नही देखती कि उसे चन्द्रमा भयभीत करता। उसका मुख भी चन्द्रमा है इसलिए उसे भी देखने मे भयभीत होती।[3] यहा कवि उक्ति वैचित्र्य के माध्यम से मुख और चन्द्रमा की समता की प्रतीति को और दृढ कर देता है। बिहारी ने भी इसी उपमान से ऐसी ही प्रतीति जागृत करनी चाही है—

पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर कै चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै, आनन ओप उजास ॥[3]

कवि गग ने भी इसी तरह का चमत्कार दिखाया है। चन्द्रमुखी और चन्द्रमा दोनो को देखकर राहु निश्चय ही नही कर पाया कि किसे ग्रसित किया जाय।

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीत-कोष, चर्या ३३, पृ० १०८।
२. मा० प्र० गुप्त : कबीर ग्रथावली, पृ० १६३।
३. बिहारी-रत्नाकर : पृ० ३६

अन्त मे उसे पाश्चाताप करते हुए लौट जाना पड़ा।[1] उपमानों को उपमेय से हीन दिखाने के लिए व्यतिरेक अलकार का सहारा लिया गया। परन्तु उसमे भी कवि उक्ति-वैचित्र्य से ही काम लेता है। अपभ्रंश का कवि चन्द्रमा को छीलकर नायिका के मुख के समान बनाना चाहता है। हिन्दी में मतिराम की नायिका का मुख-सौन्दर्य चन्द्रमा के द्वारा चुरा लिया गया। ब्रह्मा ने नाराज होकर चन्द्रमा के मुख में कालिख पोत दिया और उसे राती दिन अमरालय के चारों घूमने का दण्ड दे दिया।[2] अपभ्रंश का कर्णिकार वय शोभा से हार-कर वनवास कर लिया और रीतिकाव्य में उपमान-चन्द्रमा नायिका के मुख सौन्दर्य को देखकर घिस घिसकर अपना शिर ही काला कर डाला।

अपभ्रंश का कवि चन्द्रमा को छीलना चाहता था कवि भंजन ने उसे छील ही दिया। उसी से चन्द्रमा की छाती में छेद हो गया जो कलंक रूप में दिखाई देता है—

भंजन जू मेरे जान चन्द्रमा को छीलि विधि
प्यारी को बनायो मुख शोभा के विलास की।
तादिन ते छाती छेद भयो है छपाकर के
वार पार दीखत है नीलिमा अकास की॥[3]

नेत्रों के लिए मृग, कमल, मछली, खंजन, चकोर आदि परम्परित उपमानो का प्रयोग अपभ्रंश तथा हिन्दी दोनो में मिलता है किन्तु रीति कवियो ने चीता, कुही पक्षी, तरंग, मतंग, बटोही, किबलनुमा, रहट की घरिया आदि नवीन उपमानों का समावेश किया। अपभ्रंश में कटाक्ष के लिए चमत्कारिक उपमानों का जैसे सर, बर्छी आदि को ग्रहण किया गया है, रीति कवियो ने चितवन की तीक्ष्णता तथा हृदय को घायल करने की क्षमता को दर्शित करने के लिए ऐसे ही उपमानों का आश्रय लिया—

तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझौ चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान॥
लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यों न होंहि बेहाल।
कढ़तु जिहियहि, दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल॥[4]

---

१. बदेकृष्ण : गय कवित्त, छंद १६, पृ० १५।

२. कृष्ण बिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली, छं० ६६, पृ० १०६।

३. स० मन्नालाल द्विज : शृंगार सुधाकर, छ० १४५, पृ० ३७।

४. बिहारी बोधिनी, दो० ७६, पृ० ३६।

कटि की कृशता के लिए उक्ति वैचित्र्य द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म उपमानो को चुना गया। अपभ्रंश मे कटि के लिए भिड की कमर की उपमा दी गयी तो रीति कवि उसे और भी सूक्ष्म बताया जैसे भूमि और अम्बर के बीच कोई खम्भ नही है वैसे लोल लोचनी के अंक मे कमर नही है।[1]

रीति काव्य में विरोधमूलक अलंकारो का भी प्रयोग मिलता—

१— या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यो ज्यों बूडै, स्याम रंग, त्यो त्यो उज्जलु होइ॥

विरह-वर्णन के संदर्भ में नायिका या नायक के विरह वर्णन मे अपभ्रंश की तरह ही हिन्दी मे भी अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है। जैसे—

धार गयो चटकि पटक नारियर गयो,
मुद्रा औटि चांदी भइ विरह की आंच तें॥[2]

अपभ्रंश के एक छन्द के प्रभाव को बिहारी ने किस प्रकार ग्रहण किया है—

विरहानल जाल करालिअउ पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअउ।
अनु सिसिर कालि सीअल जलहु धूमु कहन्तिहु उट्ठिअउ॥[3]

बिहारी का दोहा इस प्रकार है—

सुनत पथिक मुंह माह निस लुवें चलत वहि गाम।
बिन बूझे बिनही कहे जियत बिचारी बाम॥[4]

दोनों उक्तियां अतिशयता पर आधारित हैं। "संदेशरासक" के एक छन्द का प्रभाव रीति कवि सुन्दर के छन्द पर देखा जा सकता है—

सुन्नारहु जिम मह हियउ पिय उक्किंख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ॥

सुन्दर ने सुनार की जगह लोहार का प्रयोग किया है। अब्दुल रहमान ने आसाजल का प्रयोग किया है सुन्दर ने दृग नीर का। सुन्दर का छन्द इस तरह है—

---

१. सं० नकछेद तिवारी : मनोज मंजरी, छं० २३, पृ० ७।

२. सं० मन्नालाल द्विज : शृंगार सुधाकर, छं० २३०, पृ० २३४।

३. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।४१५

४. बिहारीबोधिनी, दो० ४६८।

कबहूँ बिरहागिन में तचवे कबहूँ दृग नीर में बोरि दयो।
पिय के बिछुरे हियरा इहि काम लोहार के हाथ को लोह कियो ।।[१]

अप्रस्तुत योजना :

अलंकार का प्रयोग-रस-भाव व्यंजक ही है कहीं भी अलंकरण के द्वारा अभिव्यक्ति मे उलझन नही पडती है। मुक्तककारों ने अलङ्करण के लिए परंपरित उपमानो को प्रयुक्त करके काव्य परम्परा से अपना संबंध अविच्छिन्न रखा तथा कुछ मौलिक उपमानों के द्वारा काव्य को अधिक प्राजल, मनोहर तथा उत्कृष्ट बनाया। यद्यपि 'काव्य परम्परा मे प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान उपमान रूप में अभिहित होता है और इन उपमानों का ग्रहण प्रायः रूप, धर्म और प्रभाव साम्य पर है।[२] तो भी उपमान के स्थान पर यहाँ अप्रस्तुत विधान अधिक विस्तृत शब्द जान पड़ता है जिसमे उपमा पर विशेष बल नहीं पड़ता या कुछ प्रचलित उपमानों का बिंब नही आता। अप्रस्तुत विधान को काव्य के अन्तर्गत शिल्प-विधान की एक प्रक्रिया के रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

सादृश्यमूलक :

अप्रस्तुत विधान में कवि की दृष्टि सौन्दर्यानुभूति के बाह्य स्तर पर रहती है। वह रूप सौन्दर्य का चित्रांकन करने के लिए परम्परा तथा मौलिकता से अनेक सादृश्य मूलक अप्रस्तुतों या उपमानों को चुनकर प्रयोग करता है। अपभ्रंश मुक्तकों में परम्परा और मौलिकता का मणिकांचन संयोग मिलता है। मुख के लिए चन्द्रमा, कमल हाथ के लिए अशोक दल, बाहु के लिए दोहरा कमलनाल, पद के लिए पंकज, कुचों के लिए घट, आँख के लिए कमल, मीन, खंजन, मृगनेत्र आदि परंपरित उपमान है जिनका प्रयोग अपभ्रंश कवियो ने किया है। परन्तु इन परंपरित अप्रस्तुतों को उक्ति-वैचित्र्य के रूप में चित्रित करके इन कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति में रमणीयता तथा रोचकता ला दी है। नायिका के स्वरों के लिए कोयल का स्वर अप्रस्तुत रूप में ग्रहण किया जाता है। विरहिणी नायिका कोयल के पंचम स्वर से भयभीत होकर कलहंस स्वरो में बोलती है। कवि उसे कलहंस स्वरों वाली कहकर भी यह व्यंजित

१. सुन्दर शृंगार, छं० १३, पृ० ७६।
२. डॉ० किशोरीलाल : रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० ५११।

करना चाहता है कि कलकण्ठी नायिका अपनी ध्वनि से भी भयभीत है। वह दर्पण में मुख इसलिए नहीं देखती कि मुख चन्द्रमा के समान भयोत्पादक हो गया है उसके अपने ही नेत्र कुसुम सर की तरह त्रस्त करते हैं—

पम्हुअपंचसवण सभय मन्नउं सकिर
तिभणि भणइ न किंपि मुद्ध कलहंसगिर।
चन्दु न दिक्खण सक्कइ जं सा ससिवयणि
दापणि मुहु न पलोअइ तिम्मणि मयनयणि।[1]

कहीं-कहीं परम्परा के प्रति व्यर्थ का मोह होने के कारण सौन्दर्योन्मेष में बाधा पहुँची है जैसे नायिका की कमर की उपमा भिड से देना।[2] कुछ उपमानो को मौलिकता से रंजित करके बिलकुल नवीन रूप मे प्रस्तुत किया गया है। धन्या के चंचल नेत्र मत्स्यपताका की तरह दिखाई दे रहे हैं। इससे लगता है स्तन प्रदेश पर मदन का निवास है। इस उक्ति मे चंचल नेत्रों के सुपरिचित उपमान मत्स्य को मत्स्यपताका के रूप मे वर्णित करके उसके आधार पर स्तन पर मदन के निवास की कल्पना अत्यधिक मार्मिक तथा प्रभविष्णु है। मत्स्यपताका को यदि संस्कृत शब्दावली में बदल दिया जाय तो 'मकरध्वज' बनता है। मकरध्वज कामदेव का ही पर्याय है। (अर्थात् मकर : ध्वज : यस्य स : मकरध्वज:) संस्कृत के इस शब्द को अपभ्रंश 'झसझय' रूप में प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द एक तरफ मत्स्यपताका के सामान्य अर्थ को द्योतित करता है तथा दूसरी तरफ इसमे परपरित मकरध्वज शब्द का मर्म भी अन्तर्निहित है। इस तरह का प्रयोग कवि की काव्य-चातुरी का ही परिणाम है। संदेशरासक के कवि ने कटि की तुच्छता को मर्त्य सुख से और स्तनों की दुर्जन और सज्जन से उपमा दी है जो नितान्त मौलिक है।

साधर्म्यमूलक अप्रस्तुत योजना :

सादृश्यमूलक उपमानो के चुनाव मे कवि रूपाकार पर ही अधिक ध्यान देता है परन्तु साधर्म्यमूलक उपमान से गुणो पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसकी सौन्दर्य दृष्टि अपेक्षाकृत और अधिक गहराई मे प्रविष्ट होती है। मृदु मलयसमीर नायिका के अंग पर विषकदली के समान लगते हैं, अभिनवपल्लव,

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ४।८७'४।
२. संदेशरासक २।१, पृ० १५२।

कबहूँ विरहाग्नि में तवें कबहूँ दृग नीर में बोरि दयो।
पिय के बिछुरे हियरा इहि काम लोहार के हाथ को लोह किये ॥[1]

अप्रस्तुत योजना :

अलंकार का प्रयोग-रस-भाव व्यंजक ही है कही भी अलंकरण के द्वारा अभिव्यक्ति में उलझन नही पडती है। मुक्तककारों ने अलङ्करण के लिए परंपरित उपमानो को प्रयुक्त करके काव्य परम्परा से अपना संबंध अविच्छिन्न रखा तथा कुछ मौलिक उपमानो के द्वारा काव्य को अधिक प्रांजल, मनोहर तथा उत्कृष्ट बनाया। यद्यपि 'काव्य परम्परा मे प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान उपमान रूप मे अभिहित होता है और इन उपमानो का ग्रहण प्राय. रूप, धर्म और प्रभाव साम्य पर है।[2] तो भी उपमान के स्थान पर यहाँ अप्रस्तुत विधान अधिक विस्तृत शब्द जान पड़ता है जिसमें उपमा पर विशेष बल नही पडता या कुछ प्रचलित उपमानों का बिंब नही आता। अप्रस्तुत विधान को काव्य के अन्तर्गत शिल्प-विधान की एक प्रक्रिया के रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

सादृश्यमूलक :

अप्रस्तुत विधान में कवि की दृष्टि सौन्दर्यानुभूति के बाह्य स्तर पर रहती है। वह रूप सौन्दर्य का चित्रांकन करने के लिए परम्परा तथा मौलिकता से अनेक सादृश्य मूलक अप्रस्तुतो या उपमानों को चुनकर प्रयोग करता है। अपभ्रंश मुक्तकों मे परम्परा और मौलिकता का मणिकाचन संयोग मिलता है। मुख के लिए चन्द्रमा, कमल हाथ के लिए अशोक दल, बाहु के लिए दोहरा कमलनाल, पद के लिए पंकज, कुचो के लिए घट, आँख के लिए कमल, मीन, खजन, मृगनेत्र आदि परंपरित उपमान हैं जिनका प्रयोग अपभ्रश कवियो ने किया है। परन्तु इन परपरित अप्रस्तुतो को उक्ति-वैचित्र्य के रूप मे चित्रित करके इन कवियो ने अपनी अभिव्यक्ति मे रमणीयता तथा रोचकता ला दी है। नायिका के स्वरो के लिए कोयल का स्वर अप्रस्तुत रूप मे ग्रहण किया जाता है। विरहिणी नायिका कोयल के पंचम स्वर से भयभीत होकर कलहंस स्वरों मे बोलती है। कवि उसे कलहंस स्वरो वाली कहकर भी यह व्यंजित

---

१. सुन्दर शृंगार, छ० १३, पृ० ७६।
२. डॉ० किशोरीलाल : रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० ५११।

करना चाहता है कि कलकण्ठी नायिका अपनी ध्वनि से भी भयभीत है। वह दर्पण में मुख इसलिए नही देखती कि मुख चन्द्रमा के समान भयोत्पादक हो गया है उसके अपने ही नेत्र कुसुम सर की तरह त्रस्त करते हैं—

परहुअपंचसवण सभय मन्नउं सकिर
निभणि भणइ न किंपि मुद्ध कलहंसगिर।
चन्दु न दिक्खण सक्कइ जं सा ससिवयणि
दापणि मुहु न पलोअइ तिभणि मयनयणि।[1]

कहीं-कहीं परम्परा के प्रति व्यर्थ का मोह होने के कारण सौन्दर्योन्मेष मे बाधा पहुँची है जैसे नायिका की कमर की उपमा भिड से देना।[2] कुछ उपमानो को मौलिकता से रंजित करके बिलकुल नवीन रूप मे प्रस्तुत किया गया है। धन्या के चंचल नेत्र मत्स्यपताका की तरह दिखाई दे रहे है। इससे लगता है स्तन प्रदेश पर मदन का निवास है। इस उक्ति में चचल नेत्रों के सुपरिचित उपमान मत्स्य को मत्स्यपताका के रूप मे वर्णित करके उसके आधार पर स्तन पर मदन के निवास की कल्पना अत्यधिक मार्मिक तथा प्रभविष्णु है। मत्स्यपताका को यदि सस्कृत शब्दावली मे बदल दिया जाय तो 'मकरध्वज' बनता है। मकरध्वज कामदेव का ही पर्याय है। (अर्थात् मकर: ध्वज यस्य स : मकरध्वज.) संस्कृत के इस शब्द को अपभ्रंश 'झसझय' रूप से प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द एक तरफ मत्स्यपताका के सामान्य अर्थ को द्योतित करता है तथा दूसरी तरफ इसमे परंपरित मकरध्वज शब्द का मर्म भी अन्तर्निहित है। इस तरह का प्रयोग कवि की काव्य-चातुरी का ही परिणाम है। संदेशरासक के कवि ने कटि की तुच्छता को मर्त्य सुख मे और स्तनों की दुर्जन और सज्जन से उपमा दी है जो नितान्त मौलिक है।

साधर्म्यमूलक अप्रस्तुत योजना :

सादृश्यमूलक उपमानों के चुनाव मे कवि रूपाकार पर ही अधिक ध्यान देता है परन्तु साधर्म्यमूलक उपमान मे गुणो पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसकी सौन्दर्य दृष्टि अपेक्षाकृत और अधिक गहराई मे प्रविष्ट होती है। मृदु मलयसमीर नायिका के अग पर विषकदली के समान लगते है, अभिनवपल्लव,

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ४।८५.४।

२. सदेशरासक २।१, पृ० १५२।

कलकंठी की ध्वनि सभी तो विष धर्मी हो गये है ।[1] साधर्म्यमूलक अलङ्कार का एक उत्कृष्ट उदाहरण 'संदेशरासक' से उद्धृत है—

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किख करेइ ।
विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ।[2]

सुनार की तरह मेरा हृदय पहले प्रिय की उत्कठा उत्पन्न करता है फिर विरह की अग्नि मे जलाकर आशा के जल से सीचता है ।

प्रभाव-साम्यमूलक अप्रस्तुत :

साम्यमूलक उपमानों का अन्वेषण नेत्रों की सहायता से किया जाता है किन्तु प्रभावसाम्य मूलक उपमान ढूँढने में हार्दिक सचेष्टता आवश्यक होती है । सच्चे कवि की सफलता इसी प्रकार के उपमानो की योजना में है । पथिक ने जब यह बताया कि वह खम्भात जा रहा है तो नायिका का विरह एकाएक उद्दीप्त हो उठता है क्योंकि उसका पति वही गया है । कवि नायिका की मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए जिस अप्रस्तुत की नियोजना करता है वह कवित्व की दृष्टि से सशक्त तथा प्रभाव साम्य पर आधारित है—

एय वयण आयन्निवि सिंधुब्भवयणि
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलुब्भवनयणि ।
तोडि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरिय चिरु ।।[3]

वह चन्द्रमुखी, कमलाक्षी मुग्धा से वचन सुनकर दीर्घोष्ण श्वास लेती हुई हाथ की उँगलियाँ तोड़कर गद्गद् शब्द करती हुई वायु प्रताड़ित कदली की भाँति देर तक थरहराती रही । उछ्वास तथा सभ्रंम से उसका गला रुँध गया । रोती हुई मुखवाली, कामदेव की बाणों से प्रतिभिन्न प्रिय के संयोगकालीन सुखों का स्मरण करती हुई उस विरहिणी ने किंचित तिरछी चंचल आँखो से

---

१. मिउमलय समीरणु अंगहि अहिणवपल्लव दिट्टिहिं कलयंठीरुउ कण्णिहिं ।
विसकंदलिसन्निह मुद्धह दूसह खणि खणि पाणंतिह मुच्छाभरु अप्पहिं ।।
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ७।५३·१, पृ० २२५ ।

२. स० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : सन्देशरासक, २।१०८, पृ० १७१ ।

३ वही २ ६६ पृ० १६२

पथिक की ओर इस प्रकार देखा मानो धन्वा की डोरी का शब्द सुनकर त्रस्त हिरणी ने देखा हो—

ओसासंभमरुद्धसास ओरुन्नमुह
वम्महसरपडिभिन्न सरवि पिय संगमुह।
दर तिरच्छि तरलच्छि पहिउ जं जोइयउ
णं गुणासद्द उतट्ठि कुरंगि पलोइयउ ।।[1]

अप्रस्तुत योजना :

रीति-मुक्तको मे अप्रस्तुत योजना सादृश्य साधर्म्य तथा प्रभाव साम्य पर की गयी है जो अपभ्रंश के समान है।
'सदेशरासक' मे धूप के द्वारा हेम के गला देने का अप्रस्तुत विरहिणी के शरीर गलने के लिए सादृश्य रूप में ग्रहण किया गया है।[2] देव ने भी इसी तरह का एक चित्र प्रस्तुत किया। नायिका की स्वर्ण-देह विरह के प्रभाव से हिम राशि हो गयी। जल्दी-जल्दी में धूप में (वियोग की उष्णता मे) गलती जा रही है जैसे धूप में बर्फ शीघ्रता से गल जाती है—

हेम को बेलि भई हिम राशि घरीक में घाम सौं जाति घुरी है।[3]

साधर्म्यमूलक :

रीतिकाल के अनेक मुक्तककारो ने साधर्म्यमूलक उपमानो के प्रयोग द्वारा अपनी अपूर्व काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। नववधू की वयःसन्धि को मधु और दधि तथा दूध मे ऊख के रस की मिलावट से व्यक्त किया। तारुण्य का माधुर्य तथा यौवन की निष्कलुपता व्यंजित करने के लिए इन उपमानो को साधर्म्य के आधार पर स्वीकार किया गया है—

देव दुहूँ बैस भिन्नि रूप अधिकायो मधु
मेलि दधि दूधहि मिलायो रस ऊख सों।[4]

बिहारी ने नायिका शरीर मे प्राण की स्थिति होते हुए भी अवम तिथि की तरह उसे नगण्य बताया :—

---

१ संपा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : संदेशरासक २।६७, पृ० १६८।

२. वही, ३।१६१।

३. देव : सुखसागर तरंग, छं० ५६६।

४. सुखसागर तरंग, छं० ३६३।

गनती गनिबे ते रहे छलहूँ अछल समान ।
अब अलि ये तिथि औम लौं परै रहौ तन प्रान ।[1]

प्रभाव-साम्यमूलक :

रीति काव्य मे प्रभाव-साम्य के आधार पर अप्रस्तुतओं की नियोजना बड़ी सूक्ष्म है। बिहारी की गोपी का कृष्ण के प्रति जो मानसिक लगाव था वह पानी मे घुले लवण की तरह अविभाज्य है—

कोनेहू कोटिक जतन अब कहि काढ़ै कौन ।
भो मनमोहन रूप मिलि पानी में को लोन ।।[2]
जिम लोण बिलिज्जइ पाणिएहिं तिम धरिणि लइचित्त ।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित ।।[3]

प्रतीक योजना :

अपभ्रंश मुक्तको में अधिकतर रूढ उपमानो या नवीन उपमानों को अप्रस्तुत रूप में अधिकतर उपमेय उपमान दोनो की उपस्थिति के साथ प्रयोग किया गया है। प्रतीक-योजना की दृष्टि से सिद्धों द्वारा रचित मुक्तक ही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। उनके यहाँ सिद्धों द्वारा प्रयुक्त प्रतीको में कोई नियम या एकरूपता नहीं है। अधिकतर प्रतीकों को किसी न किसी सादृश्य के आधार पर ही ग्रहण किया गया है। यह सादृश्य बाह्य रूप से सर्वत्र स्पष्ट नही है।

विभिन्न जाति की नारियों के प्रतीक :

सिद्धो ने अनेक जाति के स्त्रियो को प्रतीक रूप मे ग्रहण किया है। नारी को प्रतीक रूप मे ग्रहण करने मे उनकी मुद्रा, मैथुन की मान्यता प्रतिबिम्बित होती है। सिद्ध शबर ने शबरी को नैरात्मा का प्रतीक माना। चूँकि नैरात्मा सहस्रार चक्र के मेरुशिखर पर स्थित है और शबरी जाति की स्त्रियां भी विन्ध्य के शिखरों पर रहती है। शबरपाद त्रिधातु की पलग, या महासुख की शय्या पर उस शबरी बाला को पकड़कर रमण करना चाहते हैं।[4]

१. बिहारी-बोधिनी, दो० ५३१।
२. बिहारी-बोधिनी, दो० १७७।
३. सपा० प्रबोध चन्द्र बागची चर्यागीति कोप, दोहा ३२, पृ० १६६।
४. ऊँचा ऊँचा पावत तहि वसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुञ्जरी माली ।।१।।
\+ \+ \+
तिय धाउ खाट पडिला सवरो महासुखे सेजि छाइली।
सवरो भुजङ्ग नैरामिण दारी पेम्ह राति पोहाइली ।।२।।
बागची चर्यागीति कोष पृ० ९२।

योगिनी :

योगी नाम की एक जाति होती है जिसकी स्त्री योगिनी है। सिद्ध योगी (योग सम्बन्धी) प्रज्ञा को योगिनी भी कहता है ताकि उससे अधिक से अधिक निकटता स्थापित कर सके।[1]

डोम्बी :

डोम्बीपा ने अपनी एक चर्या मे गगा-यमुना के बीच से पार कराने वाली अवधूतिका नाड़ी के लिए डोम्बी प्रतीक का विधान किया है। एक अन्य चर्या में काण्हपा ने डोम्बी को परिशुद्धावधूती के प्रतीक रूप में ग्रहण करके कई प्रतीको को एक साथ प्रयुक्त किया।[2] डोम्बी (डोमिनी) भी अछूत तथा निम्न जाति की स्त्री है जिसे अस्पृश्यता के कारण नगर या बस्ती के बाहर बसने दिया जाता है। ब्राह्मण के लड़के उसका स्पर्श बिलकुल नही करते। इसी सामाजिक तथ्य को प्रतीकार्थ रूप मे ग्रहण किया गया है। ब्राह्मण लड़का ऐसे योगियों का प्रतीक है जो अबोध होने के कारण परिशुद्धा अवधूती का स्पर्श करने में असमर्थ है। काण्हपा कापालिक है अतः वह इस नैरात्म योगिनी को छू सकता है।[3]

मातंगी :

प्रमत्त मातंगी का भी प्रयोग डोम्बी नैरात्मा के लिए हुआ है। गंगा-यमुना या ललना रसना नाडियों को छोड़कर अवधूती (मातंगी) को ग्रहण करना ही महामुद्रा की सिद्धि है।

चंडाली :

भुसुक स्वयं बंगाली बनकर वायु रूप अपरिशुद्धा अवधूती को ग्रहण करते हैं—

---

१. संपा० प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीति कोप, ध्रुवपद, पृ० १२।

२. गंगा-जउना माझें रे वाहइ नाइ।
तहिं बुड़िली मातङ्गीपोइआ लीले पार करेइ॥
बागची : चर्या० १४, पृ० ४७।

३. वही : चर्या० १०, पृ० ३३।

आजि भुसु (कु) बंगाली भइली ।
णिअ घरिणी चण्डाली लेली ॥[1]

परम्परा से गृहीत प्रतीक :

सिद्धो ने बहुत से ऐसे प्रतीकों को ग्रहण किया है जो अनेक दार्शनिक मतो में प्रचलित थे। विज्ञानवादी ग्रंथो में जिन अप्रस्तुतो तथा उपमानों के द्वारा तथता तथा विज्ञप्ति मात्रता का सिद्धान्त समझाया गया है उनमे से बहुत से अप्रस्तुत ज्यों का त्यो सिद्धों के साहित्य मे मिलते हैं[2] उदाहरण के तौर पर भुसुकपा द्वारा प्रयुक्त मरु मरीचिका, गन्धर्व नगरी, रज्जु मे सर्प, दर्पण मे प्रतिबिंब, वन्ध्यापुत्र, बालुका का तेल आदि लिये जा सकते है। विज्ञानवादी चिन्तन के खण्डन में शंकराचार्य ने ऐसे उपमानों का इस्तेमाल किया है। दर्शन के अन्य सम्प्रदायो मे संसार तथा माया को निदर्शित करने के लिए ऐसे ही उपमान प्रयुक्त हुए हैं। कुछ प्रतीक योगाचार की 'ज्ञाण' साधना से प्राप्त किये गये है। डॉ० धर्मवीर भारती ने इन प्रतीको के स्रोत का बड़ा विशद तथा खोजपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।

पारिवारिक तथा सामाजिक प्रतीक :

शब्दों की समता के आधार पर कुछ पारिवारिक क्षेत्र से प्रतीको को चुना गया जैसे सास, बहू, पडोसी, अतिथि (आवेशी) हाड़ी आदि। इसमे श्वास तथा सास और अवधू और वधू में शाब्दिक साम्य भी है।

पशु तथा अन्य जीव-जन्तु से सम्बन्धित प्रतीक :

चूहा, बलद, गयंद, गाय, हरिणी, पिटा, मेढक, सर्प आदि इस तरह के प्रतीक है। इन प्रतीको को धर्म-साम्य के आधार पर चुना गया है। वैसे सामान्य रूप से यह धर्म साम्यता परिलक्षित नही होती। अँधेरी रात का चूहा भव में लीन बद्ध अज्ञानी चित्त के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है। चूहा आधी रात के समय घर मे विहार करता है और खाद्य-वस्तुओ को खाता तथा नष्ट करता है। चूहे को गृह-स्वामी पकड़ पाता है तो मार डालता है। वैसे उसका पकड पाना आसान नही होता। बद्ध चित्त भी अज्ञानान्धकार मे विचरण करता रहता है तथा रूपादि विषयों मे आसक्त होकर उनका भोग करके अमृत

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीति, पृ० ४६।
२ डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य पृ० २७१

तत्त्व को दूषित बना देता है । योगी जो देह रूपी घर का स्वामी है साधना से इस चित्त की गतियों को नष्ट कर देता है । चूहे तथा चित्त में इसी समानता के कारण चूहे को चित्त के प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया ।[1] चित्त को हरिण भी कहा गया है जो अपने भोलेपन तथा अज्ञान के कारण कालपाश मे आसानी से उलझ जाता है ।[2] यही चित्त जब विषयो से मुक्त हो जाता है तो इसमे अपूर्व शक्ति आ जाती है । यह महासुख रूपी कमल चक्र मे प्रवेश करके महारस का पान करने लगता है । कवि इस मुक्त मन के लिए मत्त गजेन्द्र का रूपक चुनता है जो उसकी शक्ति तथा कमल के साथ उसके सहज संबंध को द्योतित करता है । बलद, घडियाल, कच्छपी, गाय, पिटा आदि का प्रयोग विरोधमूलक धर्मों पर आधारित होने के कारण चमत्कारिक अधिक हैं । बलद, दुलि, कुम्भीर (घड़ियाल) ऐसे शब्द है जो द्वयर्थक भी हैं—बलद-बल देनेवाला, बैल, कुम्भीर, कुम्भक योग मे निष्णात तथा घडियाल, दुलि-दयाकार जिसमे लीन हो जाय ऐसा कमल ।

संगीत तथा वाद्य सम्बन्धी प्रतीक :

चर्या १७ मे वीणापा ने वीणा के प्रतीक को ग्रहण किया है, वह कहते है कि उन्होने एक नये किस्म की वीणा बनायी है । इस वीणा मे सूर्य तुम्बी है और शशि तन्त्री है । अवधूती दण्डी है जो विना आहत हुए ही ध्वनि उत्पन्न करती है । इस ध्वनि को सुनकर आली और काली नामक गजेन्द्र समरस मे प्रवेश करते हैं । साधक नृत्य करता है और योगिनी गाती है । यही बुद्ध का नाटक है । वीणा हेरुक वीणा के रूप में कल्पित की गयी है ।

व्यावसायिक प्रतीक :

शान्तिपा चित्त को अणु से भी अणुतर करने के लिए कपास धुनने के रूपक का प्रयोग करते हैं ।

सामान्य-जन-जीवन से गृहीत प्रतीक :

सिद्धों मे बहुत से लोग समाज के साधारण वर्ग से सम्बन्धित थे । इसीलिए उन्होंने बहुत से प्रतीकों तथा अप्रस्तुतों का चयन सामान्य जीवन से किया । सास के सो जाने पर प्रणय अभिसार के लिए जाने की प्रक्रिया

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, चर्या २१, पृ० ७१ ।
२. वही, चर्या ६, पृ० १६ ।

तत्कालीन सामन्ती पारिवारिक मर्यादा से ग्रहण की गई है। शतरंज का खेल, नौका, घाट, पुल, लकड़ी चीरना, रुई धुनना, आदि सामान्य जीवन से ही चुने गये हैं। मद्य-विक्रेता नारी जिसे अवधूती का प्रतीक माना गया है तत्कालीन समाज की ही देन है। प्रतीक योजना अपभ्रंश मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सिद्धों के काव्य में जितनी विस्तृत है उतनी ही सन्त काव्य मे भी।

शरीर के लिए :

तरुवर, देवालय, नगरी नौका आदि अप्रस्तुतो का प्रयोग अपभ्रंश तथा हिन्दी में समान रूप से हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

काआ तरुअर पंच बि डाल— चर्या० १
तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ ॥[1]
हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहि सिव सतु मुणेइ।
कबीर देवल ढहि पड्या, ईट भई संवार ॥

तरुवर को सहज तत्त्व तथा सृष्टि विस्तार के प्रतीक रूप में भी ग्रहण किया गया है। जैसे—

सहज महातरु फरिए तेलोए—चर्या ४३
सहज सुनि इकु बिरवा उपजा धरती जल हरु सोखिआ।[2]

मन के लिए :

करहा, मूषक, मेढक, बैल, मृग, कपास, आदि उपमानो तथा प्रतीकों को जैन (करहा, मृग, गज) सिद्ध तथा हिन्दी के सन्त कवियो ने समान रूप से अपनाया है। जैसे—

एमइ करहा पेक्खु सहि बिअरिअ महुं पडिहाइ।[3]
न्यूनि जिमाउं अपनो करहा, छार मुनिस की डारी रे ॥[4]
मन करहा भव बनि मा चरइ तदि विष बेल्लरी बहुत।

चर्या २१ में मूषक मन का चित्रण मिलता है। कबीर ने भी 'मूसा' का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

१. सन्त कबीर, पृ० १८१।
२. सन्त कबीर, पृ० १८१।
३. सं० राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० १४।
न्दरदास कबीर-ग्रथावली पृ० १४७

मूसा बैठा बांबि में लारे सांपणि खाई[1]

हंस :

चित्त, पवन, प्राण के लिए हंस का रूपक अपभ्रंश तथा हिन्दी मे बहुत प्रिय रहा। शुद्धात्मा के लिए श्वेत हंस बडा उपयुक्त उपमान है भी—

णिय मणि णिम्मलि णाणियह णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिय महु एहउ पडिहाइ।[2]
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलाहुगे।

अन्य रूपकों तथा प्रतीको मे अज्ञानी के लिए अन्धा व्यक्ति इड़ा पिंगला के लिए गंगा यमुना देह स्थित चक्रो के लिए कमल, वासनात्मक मन के लिए चोर, माया के लिए ननद, वज्र कपाट के लिए दशम द्वार, इन्द्रियो के लिए गाय, मन के लिए बैल, कुडलिनी के लिए भुजग, माया के लिए हरिणी, ज्ञान के हरिण मांस, शून्य ज्ञान के लिए सोना आदि का प्रयोग सिद्धो तथा सन्तो मे समान रूप परिलक्षित होते है।

शब्द-साधना :

अपभ्रंश मुक्तक अधिकतर अकृत्रिम है तथा भावो को बिना किसी शब्द जाल के व्यक्त करने मे समर्थ हैं। मार्मिक वचनों में शास्त्रीयता का आग्रह बहुत कम है। शब्द-लय तथा सौन्दर्य की वृद्धि के लिए ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व कर दिया गया है। जैसे प्रवास को पावास, सहआर का साहार झाल को झल कही-कही साधारण व्यंजन को द्वित्व बना दिया गया—तुसार को तुस्सार:

हुउ किय णिस्साहार पहिय साहार वन।

अपभ्रंश मुक्तककारों को शब्द-शक्ति की भी पूरी पहचान थी। उन्होंने शब्दो के अभिधात्मक प्रयोग मे ही सौन्दर्य तथा आकर्षण उत्पन्न किया गया है। कथन की विशेष भंगिमा ही उन शब्दो में नया भाव भर देती है। 'संदेश-रासक' की नायिका अपने प्रियतम को खल, पापी, शबर, कापालिक आदि शब्दो से संबोधित करती है। इन संबोधनो में नायिका का खीझ भरा प्यार आवेष्टित है। विरहिणी नायिका कहती है कि जिसे लोगों ने झूठा नाम दे रखा है वह अशोक (शोक

१. वही, पृ० १४१।
२. परमात्म प्रकाश—प्रथम महाधिकार, पृ० ११२२।

रहित करनेवाला) आधे क्षण भी शोक नही हरता। कन्दर्प दर्प पूर्व अंगो को संतप्त करता है। सहकार (सहायता करनेवाला) अंगों को सहारा नही देता—शब्द योजना मे नाद सौन्दर्य भी समाहित हो गया है—

जसु नामु अलिक्कउ कहइ लोउ
णहु हरइ खणद्ध असोउ सोउ।
कंदप्पि दप्पि संतविय अंगि
साहार णाहु ण सहार अंगि ॥[1]

बिम्ब-योजना :

बिम्ब अपेक्षाकृत आधुनिक आलोचना का शब्द है जो पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के Image (इमेज) का अनुवाद है। प्राचीन काव्यो में बिम्बो का विधान तो पाया जाता है परन्तु काव्य-शास्त्रीय ग्रंथो मे इसे इस नाम से ग्रहण नही किया गया इसके लिए उपमा, रूपक आदि शब्द ही प्रचलित थे। मनोवैज्ञानिकों नेबिम्ब पर बड़े विस्तार से विचार किया है। थार्नडिक ने बिम्ब को वस्तुओं, गुणो और दशाओं का अनुभव माना है जो उपस्थित नही है।[2] किन्तु काव्यात्मक बिम्बो में साधारणत: ऐसा ज्ञात होता है कि ये शब्दो द्वारा निर्मित चित्र हैं। किसी रूपक तथा उपमा द्वारा ऐसे शब्द-चित्र निर्मित किये जा सकते है। ऐसे शब्दों अथवा पंक्तियों द्वारा भी शब्दो के ये चित्र निर्मित होते है जो बाह्य स्तर पर मात्र वर्णनात्मक प्रतीत होते हैं।[3] काव्य-बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है 'काव्यात्मक बिम्ब अदम्य भावना सम्पृक्त ऐसे शब्द चित्र है जिनमें ऐन्द्रिक ऐश्वर्य निहित है और जिनके प्रभाव स्वरूप आनन्द की उत्पत्ति होती है[4] स्केल्टन ने अपनी पुस्तक 'दी पोइटिक पैटर्न' मे बिम्बों का वड़ा विस्तृत विवेचन किया है। इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है 'काव्यात्मक बिम्बों की परिधि में उपमा तथा रूपक स्वत: समाहित है।[5] बिम्ब योजना का एक उदाहरण दर्शनीय है—

---

१. स० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक। ३।२११।

२. थार्नडिक : एलीमेन्ट्स आफ सायक्लोजी—पृ० ४३।

३. प्रो० अखौरी ब्रजनन्दन : काव्यात्मक बिंब पृ० ५५।

४. वही, पृ० ५६।

५ " बिम्ब" पृ० ७८

निशाकर विरही जनो को भय उत्पन्न करता है। चन्द्रमा से भय होना यह लोकमान्य सत्य नहीं प्रतीत होता। कवि मत्तमातंग के विजृंभित का बिंब प्रस्तुत करता है। वह मत्तमातंग के पूरे चित्र को चन्द्रमा पर आरोपित कर देता है ताकि बिंबात्मक अस्पष्टता समाप्त हो जाय—

पयडिअलंछणमय लेहिण उल्लासिअ करदंडिण ताराहरणिण निसिअरिण।
उअ नीसकिण सउ विरहिणि जणहु जणिज्जइ असमु मत्तमायंगविअंभिइण ॥[1]

प्रिय के विरह में नायिका की दशा को व्यजित करने के लिए एक कापालिनी का बिम्ब नियोजित किया गया—

तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ
तहि खणि खुवइ कवालु न वाम करट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय
कावालिय कावालिण तुय विरहेण किय ॥[2]

कवि का उद्देश्य प्रेम की अनन्यता दिखाना था। नायिका खीझकर उसे कापालिक कहती है लेकिन वह अपने को भी कापालिनी के रूप मे देखती है। यहाँ दो चित्र स्पष्ट है एक हाथ पर शिर रखे चारपाई पर एक करवट चुपचाप लेटी नायिका का है दूसरा हाथ मे खोपड़ी लिए सिद्धासन पर समाधिस्थ बैठी कापालिनी। दूसरे बिम्ब को पहले पर आरोपित किया गया है क्योंकि कापालिक की प्रियतमा या पत्नी कापालिनी ही हो सकती है अन्य नही। हर स्थिति में प्रेम की एकरूपता, तल्लीनता लक्षित करने के साथ-साथ नायिका की दशा का चित्र प्रस्तुत करने मे यहाँ दूसरे बिम्ब का विधान हुआ है। इसी तरह पावस के चित्रण मे कवि ने एक धवलागी वासक सज्जा, निमीलित नेत्रों वाली, कौस्तुभ वस्त्र से आच्छादित समागम के लिए उत्कंठित सिहरती हुई नायिका का बिम्ब प्रस्तुत किया है।[3] चूँकि पावस का सम्पूर्ण वातावरण मूर्त तथा चाक्षुष-प्रत्यक्ष है, नायिका के रूप मे पृथ्वी को देखना, श्लेष के द्वारा दूसरे चित्र का विधान कवि के शृंगारिक दृष्टि का परिचय देता है। विरहिणी

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७।५६।१।

२. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक २।८६।

३. वही—३।१४३।

नायिका जब दूसरी नायिका को अपने प्रिय से मिलते देखती है तो उसे कितनी ईर्ष्या होती, और अपने दुर्भाग्य पर कितनी चिन्ता। इन भावों की व्यंजना पावस को परम्परित ढंग से विरह-उद्दीपक रूप में चित्रित करके नहीं किया जा सकता था। कवि नायिका के मुख और कवरीबन्ध की सौन्दर्यानुभूति को रूपायित करने के लिए शशि और राहु के मल्ल युद्ध का एक बिम्ब योजित करता है किन्तु भ्रमर कुल की तरह काले-काले बालो के लिए अमूर्त्त की मूर्त्त में कल्पना करके ऐसी बिम्ब योजना की गयी जो सौन्दर्योन्मेष मे सफल है—

मुह-कबरि-बन्ध तहे सोह धरहिं।
मल जुज्झु ससि राहु करहिं॥
तहे सहहिं कुरल भमर उल तुलिअ।
न तिमर डिम्भा : क्रीडन्ति मिलिता :[1]

विरहिणी नायिका प्रिय के विरह में किलकती हुई थक गई जैसे थोड़े जल मे छटपटाती मछली। छटपटाती मछली के बिम्ब से नायिका की बेचैनी, तड़फाड़ाहट, व्यग्रता, अस्थिरता स्पष्ट हो जाती है—

पिउ हउँ थक्किय सयलु दिणु तुह बिहरग्गि किलंत।
थोडइ जलि जिम मच्छलिय तल्लोवल्लि करंत॥

बिना अलंकार की सहायता के अनेक क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करके अपभ्रंश कवियों ने पूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। उसे भी बिंब योजना का एक ढंग माना जा सकता है—जैसे गर्जनशील घन मर्दल के समान बजते हैं नभतल में नवीन चंचल बिजली नृत्य करती है। मयूर गाते है। इस संगीत से पावस लक्ष्मी युवकों के मन को आकुल कर लेती है—

वज्जहिं गज्जिरघण मद्दल नच्चहिं
नहयलअंगणि नव चंचल बिज्जुल।
गायहिं सिहि इअ संगीअउ पाउस लच्छिहिं
करइ जुवाणह मण आउल॥[2]

---

१. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण पृ० ३८।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७।४३·१।

चर्यापदो से आन्तरिक साधना तथा अमूर्त भावो को मूर्त बिंबो द्वारा समझाया गया है। नाव, चूहा, वीणा वादन, हाथी, हिरण आदि प्रतीको को विस्तृत रूप से चित्रित करते हुए बिंब विधान किया गया। चर्या ३ में कान्ह कहते हैं कि उन्होंने त्रिशरणो की नाव बनाया और आठ दिव्य शक्तियो पर अधिकार कर लिया। मध्य सागर की अनेक तरगों को सहते उन्होने भवसागर पार कर लिया। पाच तथागत ही पतवार हैं और चित्त कर्णधार है शून्यता मार्ग है। इस प्रकार उन्होने करुणा रूपी द्वीप को प्रस्थान किया।[1]

इसी तरह का बिंब विधान सरह द्वारा रचित चर्या ३८ डोम्बी रचित चर्या १४ में पाया जाता है। कम्बलपाद करुणा रूपी नाव मे सोना भरकर एक व्यापारिक नौका का बिंब प्रस्तुत करते है। साधर्म्य के आधार पर चूहे के रूप मे चंचल चित्त की समस्त वृत्तियों को कल्पित करके अदृश्य तथा अमूर्त्त चित्त जो भावना मात्र है को रूपायित करने में सिद्ध-कवि सिद्धहस्त दिखाई देते है।[2] वीणापा ने वीणा के बिंब द्वारा ध्वनि, नृत्य, गीत आदि के साथ बुद्ध नाटक का चित्र साकार कर दिया है।[3] चर्यापदों में अधिकाशतः प्रतीको को शब्द रूप मे ही नहीं ग्रहण किया गया है बल्कि उनको गति तथा सजीवता प्रदान की गयी है।

हिन्दी के भक्तिकाव्य मे ठीक इसी तरह के मूर्त बिंबो के विधान के द्वारा अमूर्त भावो को मूर्त किया गया है। कबीर शराब वितरक नारी शुण्डिनी को न ग्रहण करके शराब (महारस) निर्माण को भी बिंब रूप मे वर्णित करते हैं।[4] उन्होंने मृग को पचेन्द्रियो के रूप में ग्रहण करके उन्हें शरीर रूपी खेत को उजाड़ने वाले रस लोभी के रूप मे वर्णित किया।

> जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
> टारे टरत नही निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥
> अपने-अपने रस के लोभी करतब न्यारे-न्यारे।
> अति अतिमान बदत नही काहू बहुत लोग पचि हारे ॥

---

१ प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, चर्या १३।

२. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, चर्या २१।

३. वही, चर्या १७।

४. सं० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० २३४।

बुधि मेरी किरषी गुरु मेरो बिझुका आखिर दोइ रखवारे।
कहे कबीर अब खान न दैहूँ बरिया भली संभारै ॥[1]

कबीर के काव्य मे सिद्धो द्वारा प्रयुक्त समस्त बिंबो का किसी न किसी रूप में अवतरण हुआ है किन्तु उन्होने बहुत से नये बिम्बो का भी सृजन किया है—

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी रे
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी रे ॥[2]

आत्माराम को हिंडोलना पर झुलाते है। वह प्रेम भक्ति का हिंडोला है। चंद्र और सूर्य उसके दो खम्भें हैं उसकी डोरी बंकनाल के भीतर स्थित चक्र नाड़ी है।[3]

रीति तथा भक्तिकाव्य मे रूपक तथा उपमा के माध्यम से बिंब विधान किया गया है। रूप-वर्णन के चित्र को प्रस्तुत करने के लिए बिहारी ने जल चादर का बिंब प्रस्तुत किया है—

सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
जलचादर के दीप लौं, जगमगाति तन-ज्योति।[4]

नववधू के आलिगन के लिए उत्सुक नायक की गोद से वह निकल भागती है। नायक उसे बार-बार पकड़ने की चेष्टा करता है। देव ने इसके लिए पारे की मोती का बिंव प्रस्तुत किया जो छूने का प्रयत्न करने पर बिखर जाता है—

चीकने चलेई जात अंग लगे अगिरात गाढ़े गहे ठहराति गूढ़ ह्वै ढरति है।
बिमल बिलास ललचावति लला को चितै रींचत इतै को और उतही सरति है।[5]

गोपी ने कृष्ण के रूप-छवि को जब से निहारा उसके नेत्र कृष्ण के प्रति विशेष स्नेह हो जाने के कारण आँसू से भरे रहते है और उनमें से सदा आँसू ढलकते रहते हैं। यह क्रिया निरंतर चलती रहती है। कवि इसके लिए रहट घरी का बिंब प्रयुक्त करता है जो बिलकुल मौलिक है—

---

१. वही, पृ० ३७६।

२. माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० १५४।

३. वही, पृ० १५५।

४. बिहारी रत्नाकर, दो० स० ३४०।

५ देव 'छ० ५ पृ० ३६

हरि छवि जल जब तै परै, तब तैं छिनु बिछुरै न।
भरत ढरत बूड़त तरत, रहदघरी लौं नैन ॥

अपभ्रंश के कवियो ने शरद तथा पावस के चित्रण मे लक्ष्मी का बिम्ब विधान किया तथा केशवदास ने वर्षा को हर्षित कालिका के रूप में देखा। एक तरफ वर्षा ऋतु दूसरी तरफ कालिका दोनो का अलग-अलग चित्र विधान होने के कारण दोहरी बिंब योजना स्पष्ट हो जाती है—

भौहैं सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूषन जराय जोति तड़ित रलाई है ॥
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की नैन
अमल कमल दल दलित निकाई है।
+ + +
+ + +
अंबर बलित मति मोहै नीलकण्ठ जू की,
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है ॥१८॥[1]

मन संसार में इधर-उधर भटकता रहता है किन्तु वह तृप्त नहीं होता उसकी तृष्णा संसारिक विषय वासनाओ से बुझती नही है। कवि इसके लिए मृग-जल का बिंब प्रस्तुत करता है। मृग कल्पना मात्र से जल की तलाश में रहता है मन भी भ्रम मे विलास का अनुभव करता है यह अस्थायित्व तथा क्षणिकता स्वप्न सुख से सिद्ध की गयी।[2]

सिद्धों ने भी मृग-जल तथा स्वप्न को बिंब रूप मे ग्रहण किया। दोनो में पर्याप्त साम्य है। सुन्दर ने एक नारी का रूप-चित्र सघन वन मानकर प्रस्तुत किया है जो कवि के विराग-पूर्ण अनुभवों को अभिव्यक्त करता है। लौकिक कवि एक नारी को सुख का सार समझता है परन्तु विरागी भक्त राक्षसी—

कामिनी की तनु मानु कहिये सघन बन।
वहाँ कोऊ जाय सो तौ भूलै ही परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरी को भय जामे।
बेनी काली नागिनीऊ फन कूं घरतु है।
कुच हैं पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ।
साधि के कटाच्छ बान प्रान कूं हरतु है।

---

१. रीतिकाव्य नवनीत, कविप्रिया, पृ० १६।
२. हिंदी के कवि और काव्य-भाग २, दादू, पृ० १०१।

सुन्दर कहत एक और डर जामें आती ।
राच्छसी बदन खाँउ खाँउ ही करतु है ।[1]

रीति कवि बिहारी ने अनेक क्रियाओ के प्रयोग के द्वारा भी चित्र योजना करके बिंब-विधान करने का स्तुत्य प्रयास किया है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन मा करत है नैनन ही सब बात ।।[2]

अपभ्रंश मुक्तकों का छन्द विधान :

दोहा—उपलब्ध मुक्तको में दोहा छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है । यह अपभ्रंश का निजी छन्द है । परम्परा की दृष्टि से यह पर्याप्त प्राचीन है, सबसे प्राचीन प्राकृत दोहा 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अंक में मिलता है ।[3] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस छन्द के विषय में लिखा है—"दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी अपभ्रंश-कविता नही लिखी गई जिसमे तुक मिलाने की प्रथा न हो ।[4] दोहा छन्द वैसे पाठ्य छन्द है परन्तु इसकी गेयता के भी प्रमाण उपलब्ध होते है । ये प्रमाण बौद्ध परम्परा तक ही सीमित है । साधना-माला में बुद्ध-कपाल की साधना मे चार दोहों की एक वज्र गीति का उदाहरण मिलता है ।[5] हेमचन्द्र की साक्षी के अनुसार संस्कृत मे भी दोहे का प्रयोग होता था[6] कही-कही दोहे के लिए गाथा का भी नाम दे दिया गया है । 'साधनमाला' मे एक दोहे के सम्बन्ध मे 'इयंगाथां च स्मरेत्' कहा गया । 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार इसके विषम चरणो में तेरह और समचरणों में ग्यारह मात्रायें निबद्ध होती हैं । तुक व्यवस्था समचरणों में ही होती है । 'प्राकृत पैंगलम्' में इनकी मात्रिक गण व्यवस्था विषम चरणो मे ६+४+३ और समचरणों मे ६+४+१ मानी गई है । इस प्रकार दोहा के समपादांत मे लघु पाया जाता है तथा इसके पूर्व का

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य : भाग २—सुन्दरदास, पृ० १२० ।
२. रीतिकाव्य-नवनीत—बिहारी-सतसई, दो० २३, पृ० ३४ ।
३. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २६३ ।
४. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६३ ।
५. साधनमाला, पृ० ५०१ ।
६ हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन ६ ० की वृत्ति

चतुष्कल सदा गुर्वंत होता है। इससे यह स्पष्ट है कि दोहा के समचरण जगणांत (। ऽ ।) या तगणांत (ऽ ऽ ।) होने चाहिए। इन दोनों भेदों में जगणांत समपाद वाले अधिक दोहे प्रयुक्त हुए हैं। 'प्राकृत-पैंगलम्' ने ऐसे दोहों को चांडाल कहा है जिनके विषम चरणों की शुरुआत में (। ऽ ।) पाया जाय।[1] 'दूहा' का सर्वप्रथम उल्लेख करते हुए नंदिताढ्य दोहा के पादांत लघु ध्वनियों को गुरु मानकर इसमे १४, १२, १४, १२ मात्रायें मानते हैं।[2] उन्होंने दोहा के दो भेदों को निर्दिष्ट किया।[3]

(१) उवदूहा—१३, १२, १३, १२।
(२) अवदूहा—१२, १४, १२, १४।

स्वयंभू ने दोहा के इन्हीं भेदों का उल्लेख किया है।[4] डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश छंद-शास्त्री-नंदिताढ्य, स्वयंभू, हेमचन्द्र और राजशेखर 'दोहक' का लक्ष्य वही मानते हैं पर लक्षण में भेद मानते हैं। पादस्थ विकल्पेन वाले नियम को वे 'दोधक' के सम्बन्ध में भी लागू करते हैं जो बाद के छंद शास्त्रियों को मान्य नहीं रहा।[5] कवि दर्पणकार ने इस पुरानी लक्षण परम्परा को छोड़कर दोहा का नया लक्षण निर्धारित किया। पादांत लघु को एकमात्रिक गिनकर दोहअ का लक्षण १३, ११, १३, ११ मात्रा दिया। डॉ० सुकुमार सेन ने वज्र गीतियों की छन्द योजना १३, १२ मात्राओं की बताई जो नंदिताढ्य के उवदूहा के समान है। आणंदा ने अपने हर छन्द में अपने नाम को जोड़ दिया जिससे छः मात्रायें बढ़ गयी हैं। उन्होंने इसका नाम हिंदोला छन्द दिया है। परन्तु यदि नाम को निकाल दिया जाय तो दोहा छन्द ही ठहरता है। मध्ययुगीन हिन्दी मुक्तक काव्य में दोहा बहुत प्रचलित तथा लोकप्रिय छन्द रहा। हिन्दी में प्रमुख रूप से १३, ११ मात्रावाले दोहे ही प्रयुक्त हुए हैं।

कबीर, तुलसी, जायसी ने ऐसे दोहों का भी प्रयोग किया है जिनमें १३ मात्रा के स्थान पर १२ मात्रायें मिलती हैं। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने इसे

---

१. वही, १'८४।
२. नंदिताढ्य : गाथा लक्षण पद ८७।
३. वही, पद ८४।
४. स्वयंभू : स्वयंभू-छन्दस ४. ७, ४. १०, ४ १२।
५. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत-पैंगलम्, भाग २, पृ० ५४५।

गलत प्रयोग मानकर सन्तोष कर लिया। किन्तु अपभ्रंश मे दोहे के अनेक रूप प्रचलित थे। इन अनेक भेदों मे १२, ११, १२, ११ मात्रा वाला दोहा भी पाया जाता है। दोहे में सैद्धान्तिक विवेचन तथा हर प्रकार का वर्णन सम्भव है। यद्यपि यह सभी रसों के लिए उपयुक्त है परन्तु वीररस तथा सहयोगी रसो की अपेक्षा कोमल रस इसमे अधिक निखरते हैं।

सोरठा :

यह अर्धसम चतुष्पदी छन्द है जो दोहे के समचरणों को विषम तथा विषम-चरणों को सम कर देने से बनता है। सोरठा का उदाहरण देखिये—

> सेतु पीठ। एतथु मइ भमइ परिट्ठओ।
> वेहा सरसिअ तित्थ ।। मइ सुह अण्ण दिट्ठओ ।।[1]

हिन्दी मुक्तको में दोहो के बीच-बीच में इस छन्द का प्रयोग मिलता है।

उल्लाला :

उल्लाला मे १५, १३ की यति से कुल २८ मात्रायें होती हैं। 'प्राकृत पैंगलम् मे इसका स्वतन्त्र उल्लेख न होकर छप्पय के साथ हुआ है।[2] उदाहरण इस तरह से है—

> बुक्ख दिवाअर अत्थ बिजाइ उट्ठइ तारावह सुक्क।

द्विपदी :

अपभ्रंश में द्विपदी शब्द प्रारम्भ में किसी छंद विशेष के लिए प्रयुक्त नही होता था बल्कि यह कुछ छन्दों की सामान्य संज्ञा थी जिनके दोनो पादो मे समान मात्रायें होती थी। स्वयंभू तथा हेमचन्द्र ने कुल मिलाकर ७२ द्विपदियो की गणना की है। 'प्राकृत-पैंगलम्' में एक ही प्रकार की द्विपदी का उल्लेख मिलता है। इस द्विपदी की गण व्यवस्था ६+५×४+ऽ=षट्कुल पाच चतुष्कल तथा गुरु। इसमे कुल २८ मात्रायें हैं। वैसे यह चार पादो का छन्द माना जाता है किन्तु भायाणी जी के अनुसार अपभ्रंश महाकाव्यो मे किसी सन्धि के प्रारंभिक स्थलों पर यह दो ही चरणो की होती थी और गीतात्मक

---

१. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत-पैंगलम्-१.१७१।

२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १. १०५।

रचनाओं में चार चरणों की होती थी।[1] 'प्राकृत-पैंगलम्' में भी उदाहरण स्वरूप दो ही पदों को प्रस्तुत किया गया है—

दाणव देव बेवि दुक्कंतउ गिरिवर सिहर कंपिओ।
हअ गअ पाअ धाअ उट्ठंतउ धूलिहि गअण झंपिओ॥[2]

२८ मात्रा वाली द्विपदी का प्रयोग हिन्दी में कम पाया जाता है। भिखारीदास ने द्विपदी के स्थान पर दोवै का प्रयोग किया है।

पादाकुलक :

यह समचतुष्पदी छंद है। इसके प्रत्येक चरण मे १६ मात्रायें पाई जाती हैं। 'प्राकृत पैंगलम्' मे लघु, गुरु तथा मात्रिक गण-व्यवस्था की कोई पाबन्दी नही निर्दिष्ट की गयी है। उदाहरण देखिये—

एक्कुण किज्जइ तन्तण मन्त।
णिअ घरिण लइ केलि करन्त॥
णिअ घरे घरिणी जाव ण मज्जई।
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ॥

मध्यकालीन कविता मे पादाकुलक के लक्षण मे परिवर्तन का उल्लेख मिलता है। चरणान्त मे दो गुरुओ की व्यवस्था आवश्यक मानी जाने लगी। इसका उल्लेख केशवदास की छन्दमाला मे मिलता है :—

बहुबनचारी सोभित भारी। तपमय लेखी गृहपति देखी।
सुभ सर सोभै मुनिमन लोभै। सरसि फूले अतिरस भूले॥[3]

इसमें तुक एक नही है। डा० भोलाशंकर व्यास के अनुसार कबीर की रमैनियों जायसी और तुलसी की चौपाइयों में आगे चलकर हिन्दी काव्य परंपरा मे पादाकुलक की स्वतन्त्र सत्ता खो गई है। वह हिन्दी के प्रसिद्ध छंद चौपाई में घुलमिल गया।[4]

रासक :

यह २१ मात्रा वाला छन्द है। छन्दोऽनुशासन के अनुसार इसमें १८+।।।

१. सं० मुनि जिनविजय, हरिवल्लभ भायाणी : संदेश रासक-मीटर्स।

२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम, १. १२६।

३. छन्दमाला २·३५।

४. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, पृ० ४२७।

(नगण) की व्यवस्था होती है। यति १४ पर होती है।[1] कवि-दर्पण में रासक के २३ मात्राओ का विधान है। कवि दर्पणकार ने २१ मात्रा वाले छन्द को रासावलय (६+४+६+५) कहा है।[2] छन्दोऽनुशासन मे भी २१ मात्रा से युक्त रासा वलय का उल्लेख है।[3] संदेशरासक टिप्पनक व्याख्या में रासक तथा अहाणउ की एकता स्थापित की है। डॉ० भायाणी ने भी इसे स्वीकार किया है। टिप्पनक में इसे चार पदो तथा कुल ८४ मात्राओ वाला माना गया है। इसमें पाच मात्राओं के गण का व्यवहार वर्जित है।[4] 'सदेशरासक' मे इस छन्द का बहुत प्रयोग हुआ है। हिन्दी मुक्तक काव्य मे यह अधिक लोक-प्रिय नही रह गया। केलाग के एक उदाहरण के अनुसार डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी हिन्दी मे रासा छन्द के प्रचलन को स्वीकार करते है। उदाहरण इस प्रकार है—

करहु कृपा जग स्वामी मेरे साथ हो।
रहिहुँ वदा अभिलाषा तेरे हाथ हो ॥[5]

रासक का एक अपभ्रंश छन्द दर्शनीय है—

पहिउ भणइ पडिउजि जाउ ससिहरवयणि
अहवा किवि कहणिज्ज सु कहु महु मियनयणि।
कहय पहिय किण कहउ कहिसु कि कहियवण
जिण किय एह अवत्थ णेह-रइ रहियमण ॥९१॥[6]

घत्ता :

अपभ्रंश छन्द-परम्परा मे 'घत्ता' नाम से अनेक छन्द मिलते हैं। किन्तु इनमें से ३१ मात्रिक (१०, ८, १३ की यति) घत्ता अधिक प्रिय रहा।[7] उपदेशमाला वृत्त में अनेक घत्ता छन्द प्रयुक्त हुए हैं—

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, पृ० ६२।

२. कवि दर्पण-उद्धृत-प्राकृत पैंगलम २, पृ० ३८२।

३. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, पृ० ६५।

४. सं० हरिवल्लभ भायाणी एवं मु० जिनविजय : संदेश रासक टिप्पनक व्याख्या, पृ० १२।

५. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक, पृ० १०५।

६. वही, प्रक्रम २, छं० ९१।

७ सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १·९६।

जिणु निरसणु हिंडइ दुरियइ खंडइ,
संडलि महियलु नियपइहिं ।
तहिं समयइ जि वंदहिं ते चिरु
नदहिं संपूरिज्जइ संपइहिं ।।[१]

अपभ्रंश के जैन-कवियो मे इसका अधिक प्रयोग मिलता है ।

डोमिलय :

'प्राकृत-पैंगलम्' मे इसे मात्रावृत्त और वर्णवृत्त दोनो माना गया है ।[२] पुराने अपभ्रंश छंद-शास्त्रियो ने इसका उल्लेख नही किया है। इनमें ३२ मात्राएँ होती है। मात्राओं का क्रम १०+८+१४ होता है।[३] केलाग ने हिंदी में दुरमिला छन्द का यह उदाहरण प्रस्तुत किया—

इक व्रियवृतधारी पर उपकारी नित गुरु आज्ञा अनुसारी ।
निरसंचय बाला, सब रसज्ञाता सदा साधु संगत प्यारी ।।[४]

'प्राकृत पैंगलम्' के मात्रा क्रम से केलाग ने थोडा अतर दिखाया है। उनके अनुसार इसका क्रम १०+८+८+६ है। 'संदेशरासक' का २२-२३ छंद डोलिमय का उदाहरण है।

चूडिल्लय :

'प्राकृत पैंगलम्' के निर्देशानुसार दोहार्द्ध मे पाँच मात्राएँ बढ़ा देने से चूलिआला छन्द हो जाता है।[५] हिन्दी का चूड़ियाला छन्द इसी से विकसित है। केलाग द्वारा प्रस्तुत चूडियाला तथा चूड़िल्लय मे कोई भेद नही है। चूडिल्लय का उदाहरण देखिये —

उतरायणु बड्ढिहि दिवस णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिओइउ ।
दुच्चिय बड्ढहि जत्थ पिय इहुतीय अ बिरहायणु होइउ ।।११२[६]

१. उपदेशमाला वृत्ति, पृ० ३५ ।

२. सं० . भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, १ १६६ ।

३ वही, पृ०

४. केलाग : ग्रामर आव हिन्दी लैंग्वेज, पृ० ५८० ।

५. सं० भोलाशकर व्यास . प्राकृत पैंगलम्, १.१६७ ।

६. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, प्रक्रम २, छं० ११२ ।

मैं अब मिलन चहो सखी जसुमति सुत जहं होयकतावहु ।
झपटि झपटि सब दौरिकै यशुदा नंदन को लखवावहु ॥

मुक्तकों मे खंधय, मालिनी, नदिणी, भमरावली, खणिज्ज, गाहा, फुल्लय, कामिणी, मोहण, मडिला आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है । ये छंद अधिकतर संदेशरासक' मे ही प्रयुक्त हुए हैं अन्य मुक्तकों में इनका अभाव ही है। इनके अतिरिक्त कुछ और छन्दो के लक्षणो पर विचार किया जा सकता है—

चर्चरी :

यह अवशिष्ट वर्णिक छन्द है जिसे मात्रिक छंद मानते है । 'प्राकृत पैगलम् मे इसकी गण व्यवस्था र, स, ज; ज, भ र है । इस प्रकार यह १८ वर्णों का तथा २६ मात्राओ का छंद है । इसकी मात्रिक गण व्यवस्था यो मानी जा सकती है पचकल + ४ चतुष्कल + पंचकल ; मध्य के दोनो चतुष्कल, यशोधर होते हैं । पाद के आदि में गुरु (ऽ) और पादांत में गुरु की व्यवस्था पाई जाती है ।[1] चर्चरी एक गीत छन्द भी है । चर्चरी के नाम से जिनदत्त सूरि का पूरा काव्य ही मिलता है । 'कवितावली' तथा 'रामचन्द्रिका' में इस छन्द का प्रयोग हुआ है ।

कुंडलिया :

इसका प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश 'प्राकृत पैगलम्' में है । 'प्राकृत पैगलम्' मे कुंडलिया के लक्षण मे उल्लाला दोहा के अन्तिम चरण की पुनरुक्ति के संयोग का उल्लेख किया गया है । यह छन्द प्रमुखतः दोहा और रोला के मिश्रण से बनता है । पुराने छंद-शास्त्रियो ने मिश्रण वाले छन्दो को द्विभंगी कहा है ।[2] हिन्दी में गिरधर कविराय की कुडलियाँ बहुत प्रसिद्ध है ।

त्रिभंगी :

अपभ्रंश मुक्तको मे इसका प्रयोग विरल ही है । 'प्राकृत पैंगलम्' मे ३२ मात्रा वाले सममात्रिक छन्द को त्रिभंगी कहा गया है । इसमें १०, ८, ८, ६ पर यति और चरणान्त गुरु ऽ के विधान का संकेत है ।[3] हेमचन्द्र ने दो या

---

१ सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैगलम् : भाग १, २.१८४-१८५ ।

२. वही, १. १४६-१४७ ।

३. वही भाग १, २ २१५ ।

तीन छंदो से बने छंदो के लिए द्विभगी और त्रिभंगी शब्दो का प्रयोग किया है ।[१] अपभ्रंश में चार छन्दों से बनी चतुर्भंगी और पाँच छंदो से बने पंचभंगी भी प्रसिद्ध है ।[२] सूर और तुलसी के पदों में कही-कही ४० मात्रा वाली त्रिभंगिया मिलती हैं । इस छन्द मे भक्ति अथवा ईश वन्दना बडी प्रभावशाली होती है ।

देखु देखि ! आजु रघुनाथ सोभा बनी ।
नील-नीरद-बरन बपुष भुवनाभरन;
पीत अबर धरन हरन दुति दामिनी ॥
सरजु मज्जन किए, संग सज्जन लिए,
हेतु जन पर हिये कृपा कोमल घनी ॥[३]

रोला :

यह चार पदो वाला २४ मात्रा युक्त सममात्रिक छन्द है । रोला के प्रथम भेद में ११ गुरु तथा दो लघु प्रत्येक चरण मे होने चाहिए ।[४] एक एक गुरु के स्थान पर दो दो लघु बढ़ाने से रोला के अन्य भेद बनते है । रोला के स्थान पर वस्तुवदनक नाम भी मिलता है ।[५] रोला का प्राचीनतम प्रयोग सिद्धो के काव्य मे हुआ है वहाँ द्वितीय चतुष्कल गण की व्यवस्था '८-८' मिलती है और ग्यारहवी मात्रा पर भी गौण यति का स्पष्ट प्रयोग मिलता है । जहाँ चौदहवी मात्रा के पूर्व गुरु लघु की मात्रिक व्यवस्था वाला स्वतन्त्र पद प्रयुक्त हुआ है ।[६]

जइ नग्गा बिअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह
लोम उपाडण अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअंवह ।
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह,
उन्छ भोअणे जाण, ता करिह तुरंगह ॥

रोला छन्द हिन्दी का बहुत प्रिय छन्द रहा है ।

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ४. ७८ ।
२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, ५३३ ।
३. गीतावली उत्तर काण्ड, पद ५ ।
४. स० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १' ९१ ।
५. छंदोऽनुशासन ५. २५ ।
६. प्राकृत पैंगलम्, भाग २ पृ० ४८७ ।

रवि छवि देखत घूघू घुसत जहाँ तहँ बागत ।
कोकनि को ताही सों अधिक हियो अनुरागत ।।
त्यों करि कान्हहि लखि मनु न तिहारो पागत
हमको तौ वाही तें जगत उज्यारो लागत ।।[1]

मरहट्ठा

मरहट्ठा २९ मात्रा वाला सममात्रिक छन्द है। इसकी गणव्यवस्था ६, ५, ४—ऽ। है। इसमे १०, ८ और ११ पर यति का विधान है। सिद्धों ने इस छन्द का प्रयोग किया है—

घरवइ खज्जइ सहजें रज्जइ किज्जइ राअ विराअ
णिअ पास बइट्ठौ चित्ते भट्ठी जोइणि महु पड़िहाइ ।।[2]

हिन्दी मुक्तको में इसे कोई विशिष्ट स्थान नही मिल सका।

चउपइया

'संदेशरासक' मे प्रयुक्त चउपइया छद रासक से बहुत भिन्न नही है किन्तु 'प्राकृत पैंगलम्' में वर्णित चौपैया छन्द ३० मात्रावाला सममात्रिक चतुष्पदी है। इसमें संपूर्ण छन्द मे १२० मात्राएँ होती है। हिन्दी मे प्रयुक्त चौपैया इससे बिलकुल भिन्न है। चौपैया का संबंध आरनाल से जोड़ा जा सकता है—

भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी ।। आदि

दुर्मिल

यह भी समचतुष्पदी छंद है। इसका प्रयोग 'संदेशरासक' मे मिलता है।[3] हिन्दी मे शुद्ध मात्रिक दुर्मिल का प्रचार बहुत कम है। वर्णिक छन्दों मे दुर्मिल सवैया का नाम तो मिलता है परन्तु मात्रिक छन्दों मे नही।

अडिल्ला

अडिल्ला प्रारंभ मे एक प्रकार का छन्द कौशल मात्र था। इसके द्वारा छन्द मे यमक का प्रयोग किया जाता था। धीरे-धीरे यह यमकान्त छन्द का पर्याय बन गया। इसमें प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

---

१. भिखारीदास : छंदार्णव ५. २०।

२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १.२०८

३. सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, २.१५

सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह
वे वि जमक्का भेउ अलिल्लहं
होण पओहर किं पि अलिल्लह
अंत सुपिअ भण छन्दु अलिल्लह ।[1]

इसमे सोलह मात्रा होती है। दोनों चरणो मे यमक होता है। जगण नही आना चाहिए। इसमे अंतिम दो मात्राएं लघु होती हैं। स्वयंभू इसे वदनक का भेद मानते हैं।[2] 'संदेशरासक' में अडिल्ला की तुक 'क ख, ग घ' ही दिखाई देता है। सर्वत्र यमक का भी निर्वाह नहीं है। कुछ छन्दो मे यमक के बदले अनुप्रास ही निबद्ध है।[3] हिन्दी में अरिल्ल का चतुष्कल गणभगण ही हो गया—

देखि बाग अनुराग उपज्जिय। बोलत कल ध्वनि कोकिल सज्जिय ॥
राजति रति की सखी सुवेषनि। मनहुँ बहति मनमथ संदेसनि ॥[4]

भिखारीदास ने अडिला की यमक व्यवस्था पर जोर दिया है।[5] चौकल रहित अडिल्ल का एक उदाहरण सूदन काव्य से उद्धृत है—

अली कुली रुस्तम खां सर्गाहि।
हकीम खां कुबरा हित जर्गाहि ॥
फते अली औरों बहु मीरन।
राजा राउ लये संग धीरन ॥
कछू दिनहि आवैं मेवार्ताहि।
करि है तहा अधिक उत्पार्ताहि ॥[6]

पद्धड़िया

यह अपभ्रंश के महाकाव्यों का प्रमुख छन्द है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे चौपाई के निकट का छन्द मानते हैं।[7] इसमें कुल चार चरण होते हैं। प्रत्येक पाद के अन्त मे जगण होना जरूरी है। हर चरण मे चार चतुर्मात्रिक गणों की रचना की जाती है अंतिम चतुष्कल पयोधर होता है। छंदः कोश

१. भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् । १२७ ।
२. स्वयंभू : स्वयंभू छन्दस् ४.२९ ।
३. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, छन्द १७४-८१ ।
४. केशवदास : रामचन्द्रिका १.३० ।
५. भिखारीदास : छन्दार्णव ५.३२ ।
६. सूदन : सुजान चरित ३।१।२
७. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल : पृ० ९४ ।

पद ३६ द्वारा यह संकेत मिलता है कि हिन्दी के कवियों ने अपभ्रंश छंद की जगणात वाली व्यवस्था को आवश्यक माना। डॉ० व्यास के अनुसार 'वस्तु' चौपाइयों में जगण का विधान निषिद्ध है, फलतः चौपाइयो,में पादाकुलक और अरिल्ल के खण्ड तो मिल जाते है पद्धरी के नही।[1] परन्तु बहुत कुछ संभव है कि जगण से विरहित होकर यह चौपाइयो में घुल मिल गया हो। परन्तु डॉ० जानकी नाथ सिंह का विचार कि हिन्दी में पद्धरि छन्द का बहुत उपयोग हुआ है। चारणो में युद्ध वर्णन के लिए यह बडा प्रिय छन्द था। गीतावली में इसका प्रयोग होली वर्णन में किया गया है।[2] वीररस के लिए यह अधिक उपयुक्त छन्द है—

यौं पर्‌यो सोर दिल्ली अपार।
पुर लोग पुकारत बार-बार॥
ब्रज वीर हुंकारत डार डार।
फटकार खग्ग खेलन उसार॥

इक तज्जत आमुघ छोर-छोर। इक लज्जत आनन मोर मोर।
इक गज्जन दामन फोर फोर। पुर गली गल्यारे वोर-वोर॥[3]

छप्पय :

यह एक मिश्रित छन्द है। भायाणी जी के अनुसार यह छन्द कभी काव्य और उल्लाला कभी रासा और उल्लाला, कभी काव्य रासा सकीर्ण तथा उल्लाला के मेल से बनता है।[4] प्राकृत पैंगलम् मे इसे रोला तथा उल्लाला का मिश्रण बताया गया है। इसमे रोला की गण-व्यवस्था २+४+४+४+४+४+२ (।।), ११, १३ पर यति, उल्लाला के दो चरण २८, २८ मात्रा के तथा १५, १३ पर यति होती है।[5] वस्तु वदनक तथा उल्लाला के मिश्रण से बने छन्द का संकेत हेमचन्द्र ने किया है। उन्होंने मागधी के काव्य मे इसकी लोकप्रियता का भी संकेत किया है।[6] तुलसी ने कवितावली में इस छन्द का

१. सं० भोलाशंकर : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, पृ० ४६२।

२. डॉ० जानकीनाथ सिंह मनोज : हिन्दी कवियों का छंदशास्त्र को योगदान।

३. सुजान चरित्र, ३१।२।६।

४. स० मुनिजिनविजय हरिवल्लभ भायाणी · संदेश रासक मीटर्स, पृ० ६८।

५. सं० भोला शकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, मात्रा १०५, पृ० ५५६।

१ हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन सूत्र ४ ७६ की वृत्ति

प्रयोग किया है। गग-नरहरि आदि के छप्पय प्रसिद्ध हैं चंद्र को तो छप्पय का राजा कहा जाता है। 'संदेशरासक' का छंद ९४ वस्तु या छप्पय छंद है। चूंकि छप्पय में रोला वाले अंश मे लय तीव्र तथा गतिशील होती है। यहाँ शब्द धीरे-धीरे ओजपूर्ण होते जाते हैं। उल्लाला अंश में उनकी गति मंद पड़ने लगती है। इस प्रकार यह संपूर्ण छन्द एक ऐसी तरंग के समान है जो तीव्र गति से आकर तट पर टकराती है तत्पश्चात् वहाँ अपने चिह्न छोड़ती हुई लौट जाती है। इसी विशेषता के कारण इसे कवियों ने वीर रस के उपयुक्त माना है। 'प्राकृत पैंगलम्' मे वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

रड्डा :

'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार रड्डा में कुल ९ चरण पाये जाते है। इसके प्रथप अंश को राढड कहते हैं। इसके प्रमुख भेद राजसेना रड्डा में पहले पाँच चरणो मे १५, १२, १५, ११, १५ मात्राएँ बाकी चार चरणो में दोहा निबद्ध होता है।[1]

खंधय :

इसमें प्रत्येक पाद में ३२ मात्राएँ होनी चाहिए। इसमे चार मात्रा के आठ गण होते है। पूर्वार्द्ध उत्तरार्ध समरूप होते हैं।[2]

मालिनी :

इसमे पहले दो रस (३ मात्रा) फिर तीन चमर (गुरु) फिर एक शर (लघु) दो गुरु फिर एक गंध (लघु) ओर दो कर्ण (गुरु) होते हैं—

बहइ मलअ आआ हंत कंबंत काआ
हणइ सवण रंधा कोइला लाव बंधा।
सुणिअ दह दिहासु भिंग झंकार भारा
हणिअ हणइ हंजे चंड चंडाल मारा॥[3]

सदेशरासक का १००वाँ छन्द मालिणी है।

नंदिणि :

यह तोटक का ही दूसरा नाम है।[4]

---

१. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १. १२३।
२ हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन, पृ० ४३।
३. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, पृ० ४२५।
४. हरिवल्लभ भायाणी : संदेशरासक की भूमिका, पृ० ७१।

भ्रमरावली :

इसमें प्रत्येक पंक्ति में पाँच सगण होते हैं और पाँच गुरु तथा लघु मात्राएँ होती है। तोटक में सगण बढ़ा देने से भ्रमरावली छन्द बन जाता है।

खणिज्ज :

यह रासक छन्द का ही एक भेद है। 'प्राकृत पैंगलम्' में खंज नामक छंद है खणिज्ज नही इसमे ४१ मात्राएँ पाई जाती है। हेमचन्द्र ने प्रत्येक चरण मे २३ मात्राएँ निर्दिष्ट किया है।

गाहा :

यह प्राकृत का प्रिय छन्द है। अपभ्रंश तथा हिन्दी मे भी इसका प्रयोग होता है। गाथा के विविध प्ररोह-गाहू=२७ मात्रा (१२, १५, १२, १५) =५४ मात्रा।

विगाथ २७. ३० (१२, १५ : १२ : १८)=५७ मात्रा।

उद्गाथा ३० मात्रा दोनों दलो मे (१२, १८ : १२, १८)=६०

सिंहिनी—३२, ३० (१२, १०, १२, १८) ६२

फुल्लय :

गणभेद के अतिरिक्त फुल्लय और दोहा मे कोई अन्तर नही है।

कामिणी मोहण :

'छन्दकोश' और 'गाथा लक्षण' तथा 'संदेशरासक' के व्याख्याकार के अतिरिक्त इसे सभी छन्दशास्त्रियों ने मदनावतार की संज्ञा दी है

हरि गीता :

यह २८ मात्रा का चतुष्पदी छन्द है। प्राचीन अपभ्रंश छन्दशास्त्रियों ने इस नाम के किसी छन्द का उल्लेख नही किया है। २८ मात्रा-प्रस्तार के द्विपदी, रचिता, दीपक आदि छन्द मिलते हैं। सम्भव है उन्ही मे से एक का विकास हरिगीता छन्द के रूप मे हो गया हो। हरिगीता के प्रथम तृतीय, चतुर्थ और पंचम मात्रिक गण किसी भी प्रकार के पंचमात्रिक हो सकते है किन्तु द्वितीय गण षड्मात्रिक होना चाहिए और प्रतिचरण के अन्त में गुरु होना चाहिए।[१] मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में हरिगीता या हरिगीतिका प्रिय छन्द रहा। इस छन्द

१ रामचरितमानस पृ० ३९३।

की लय अर्द्ध विलम्बित कही जा सकती है। इसका प्रयोग सभी रसो में किया जा सकता है पर वीररस के लिए अधिक उपयुक्त है। एतदर्थ चन्द, पद्माकर और सूदन का उल्लेख किया जा सकता है। रामचरितमानस मे भी वीररस के लिए इसका उपयोग हुआ है—

> ठाढ़े महीधर शिखर कोटिन, विविध विधि गोला चले।
> थहरात जिमि पविपात गर्जत, प्रलय के जनु बादले॥
> मर्कट विकट भट जुटत सम्मुख, लरत जनु जर्जर भये।
> गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहिं जहँ तहाँ निसिचर हये॥[1]

मुक्तकों में प्रयुक्त छन्दों का वैशिष्ट्य :

(१) अपभ्रंश मुक्तकों मे द्विपदी, चतुष्पदी, छन्दों के साथ-साथ कई छन्दो को मिलाकर छन्द बनाने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। हिन्दी मे इस प्रक्रिया से पूरा लाभ उठाया गया। इस प्रकार के विकार, परिवर्द्धन, संशोधन की प्रवृत्ति चारण तथा मागध कवियों मे परिलक्षित होती है।

(२) परम्परागत छन्द परम्परा को अपनाते हुए भी अपभ्रंश छन्दों मे मौलिकता दिखाई देती है। वैदिक तथा शास्त्रीय संस्कृत मे वर्णिक या अक्षरात्मक छन्द व्यवस्था थी। प्राकृत छन्द लोकगीतो मे विकसित होते हुए भी अन्तिम रूप मे मात्रा-गणना तक संकुचित हो गये। साहित्यिकता पर अधिक बल देने के कारण प्राकृत-काव्य मे संगीतात्मकता का काफी ह्रास हुआ। किन्तु अपभ्रंश छन्द उस काव्य परम्परा के अभिन्न अंग है जो जन सामान्य के लिए विकसित हुई थी और उसका परिवेश लोकगीतों की संगीतात्मक से समृद्ध है। अनेक अपभ्रंश छन्दो मे इसीलिए मूलतः विभिन्न प्रकार के तालों का नियमन पाया जाता है। प्राकृत के छन्दों को अपनाकर भी उसमे नियमित तुक निर्वाह पर विशेष ध्यान दिया गया।

(३) अपभ्रंश छन्दो मे एक स्पष्ट विकास लक्षित होता है। पुराने अपभ्रंश छन्दशास्त्रियों ने जिन छन्दों का नामोल्लेख नही किया परवर्ती अपभ्रंश काव्य मे वे भी दिखाई देते हैं। 'प्राकृत पैंगलम्' में अनेक ऐसे छन्दो का उल्लेख इसका प्रमाण है।

(४) अपभ्रंश के छन्दों में ताल तथा लय के साथ गेय तत्त्व भी पाया जाता है। चर्यागीत, चर्चरी, रासक आदि ऐसे काव्य है।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि हिन्दी मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति रचना-उद्देश्य प्रकृति आदि सभी कुछ अपभ्रंश मुक्तको के समान है। मुक्तक काव्य की विविध परम्पराओ को अपभ्रंश मे ग्रहण किया गया। यही परम्पराएँ भाषिक परिवर्तन के साथ हिन्दी मुक्तकों की निजी विशेषताएँ हो गयीं।

मुक्तक काव्य के अन्तर्गत श्रृंगारिक, धार्मिक, नीतिपरक भावो को व्यक्त करने की परंपरा प्राचीन थी किन्तु वीर भावपरक मुक्तको की रचना से अपभ्रंश मुक्तककारो ने अपभ्रंश काव्य में शक्ति तथा शौर्य भर दिया। हिन्दी मुक्तकों पर इसका सीधा प्रभाव पड़ा। संस्कृत काव्य में वर्णित श्रृंगार यदि अभिजात्य है, तो प्राकृत का वन्य, अपभ्रश मे इन सब का समाहार होते हुए भी ग्राम्य श्रृंगार अधिक है। हिन्दी के दरबारी मुक्तककारो ने लोक जीवन के प्रकृत सौन्दर्य तथा श्रृगारिक तत्वों का विशेष आदर नही किया। ये अपभ्रंश के उक्ति वैचित्रपूर्ण ऊहात्मक वर्णनो से अधिक प्रभावित हुए। नायिका के विशिष्ट तथा सम्मोहक अंगों को लेकर अनेक चमत्कारिक उक्तियाँ अनेक दूरारूढ़ कल्पनायें प्रस्तुत की गयी। ऐसे चित्रणो मे हिन्दी के रीति कवि अपभ्रश कवियो से कई कदम आगे बढ गये। अपभ्रंश मे नायक नायिका का मिलन बहुत कुछ साकेतिक है। उसमे संकोच और लज्जा है। मर्यादा का निरंतर ध्यान रखा गया है। रीतिकाव्य में अपेक्षाकृत अधिक खुलापन है, कही-कही मर्यादा का उल्लंघन भी पाया जाता है। अपभ्रंश काव्य की नीतिपरकता हिन्दी मे पूर्णतः सुरक्षित है। श्रृंगार संबंधी काव्य रूढियों का चित्रण अपभ्रंश तथा हिन्दी मे समान है। अपभ्रंश की 'अम्मीए' नाम की मध्यस्था रीति-काव्य में नहीं है। अपभ्रंश मे वर्णित प्रेम पारिवारिक गार्हस्थिक तथा स्वकीय है और रीतिकाल का सामंती कलहपूर्ण तथा परकीय।

अपभ्रंश मे रचित मुक्तक काव्यों की परंपरा हिंदी में भी चलती रही। तुलसी, सूर आदि कवियों मे नैतिकता, आचारपरकता अपभ्रंश के आचारपरक काव्यों के समान है। क्रान्तिकारी कवि जोइन्दु, रामसिंह, आणंदा, सरहपाद, काण्हपा, कबीर, दादू, नानक आदि एक ही स्वर मे पूजा-पाठ, तीर्थव्रत, बाह्याडम्बर, पाखण्ड, जागतिक सबध, पुस्तकीय ज्ञान आदि का विरोध करते है। उपर्युक्त कवि योग की क्रियाओं से भी प्रभावित है। गुरु महिमा नैतिकता विरक्ति आदि

प्रवृत्तियाँ, धार्मिक रहस्यवादी, सन्त तथा भक्ति काव्य में समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। कवियों ने अपने श्रेयस्कर अनुभवों को मानवीय कल्याण के लिए आवश्यक समझकर उपदेश दिया। जैन, सिद्ध, सन्त, भक्त आदि कवियों मे उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसे अनुभव जो सामान्य सत्य के रूप मे ग्रहण किये गये वे नीतिपरक सूक्तियों के अन्तर्गत व्यक्त किये गये हैं। वीर भावों को व्यक्त करने के लिए कवियों ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया। युद्ध-यात्रा, नायक की वीरता का शत्रुओं पर प्रभाव, शत्रुओं की दुर्दशा आदि के वर्णन की परिपाटी अपभ्रंश से हिंदी मे आयी। अपभ्रंश मे पायी जानेवाली नायिकाओं की वीरभावपरक उक्तियो का हिन्दी मे अभाव है। इसके प्रमुख दो कारण हैं एक तो सामाजिक परिवेश बदल चुका था। अपभ्रंश काल में शौर्य प्रदर्शन या तलवार चलाना एक वृत्ति बन गयी थी। इसीलिए एक नायिका अपने नायक से कहती है कि इस देश को छोडकर दूसरी जगह चलो क्योंकि यहाँ खड्ग व्यापार नही होता—रीतिकाल मे इस तरह की मनोवृत्ति समाप्त हो चुकी थी। नायिकाएँअब रसिया तथा काम-व्यापार मे पारंगत नायको की अभिलाषा करने लगी थी। कवियो ने सुदूरवर्ती इस परंपरा को अपने युग की माग के प्रतिकूल समझा।

शिल्प-विधान के अन्तर्गत अपभ्रश तथा हिन्दी में अलंकार-योजना तथा बिम्ब योजना का एक ही आदर्श मिलता है। अपभ्रंश धार्मिक कवियों ने अलंकरण को वहीं तक महत्त्व दिया जहाँ तक वे भाव बोध मे सहायक है। लौकिक मुक्तकों मे अलंकरण तथा उक्ति वैचित्र्य पर विशेष ध्यान दिया गया। हिन्दी के भक्तिकाव्य में अलंकरण की स्थिति धार्मिक मुक्तको के समान है। रीति-काल मे अलंकारो की सायास योजना की परंपरा की शुरुआत अपभ्रंश से ही हो गयी थी। भाषा के प्रयोग में भी अपभ्रंश तथा हिन्दी मे समरूपता है। वीरभाव युक्त छन्दों में अपभ्रंश के अनुकरण पर ही द्वित्त वर्णों वाले छन्दो को योजित किया है। सिद्ध कवियों ने अपने विचारों तथा भावों को गुह्य रखने के लिए सन्ध्या भाषा का प्रयोग किया तो सन्त कवियों ने भाषा को उलटवांसी बना दिया। विभिन्न रागो से युक्त पद शैली का विकास अपभ्रंश में ही हुआ जो हिन्दी मे पर्याप्त लोकप्रिय हो गयी। छन्दों मे दोहा, कुंडलिया, रोला, सोरठा अपभ्रंश में ही लोकप्रिय हो गये थे। सवैया का मूल बीज भी अपभ्रंश में ही मौजूद था। इस तरह अपभ्रंश मुक्तक काव्य से अनेक रूपों मे हिन्दी मुक्तक काव्य प्रभावित हुआ।

सहायक ग्रन्थ सूची

वैदिक तथा संस्कृत .

१. अग्नि पुराण, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रंथावली, हरिनारायण आप्टे, शालि० शकाब्द, १८२२।

२. अमरुक-शतक-अमरुक, सपादक कमलेशदत्त त्रिपाठी, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६१।

३. आर्या सप्तशती, गोवर्धनाचार्य, संपादक विष्णु प्रसाद भण्डारी, चौखम्बा सस्कृत सेरीज, वाराणसी, १९२५।

४. ऋग्वेद, श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत सस्थान, बरेली, द्वितीय खण्ड।

५. काव्यादर्श-दण्डी, जीवानन्द भट्टाचार्य कृत विवृत्त सहित, सरस्वती यंत्र, कलकत्ता से मुद्रित।

६. काव्य मीमासा-राजशेखर, बड़ौदा, १९३४ ई०।

७ काव्यालंकार-भामह—पी० वी० नागनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली—२३, १९७०।

८. काव्यालङ्कार—रुद्रट डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली ९, सन् १९६५।

९. कौल ज्ञान निर्णय, सं० डा० प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता सं० १९३४।

१० गीता-गीताप्रेस, गोरखपुर, १९७१।

११. गोरक्षा-पद्धति, बम्बई सं०, १९७४।

१२. चौरपंचाशिका, बिल्हण, तदपतिकार पूना ओरियण्ट, बुक एजेन्सी, १९४६।

१३. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन-काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३५।

१४. नाट्यशास्त्र, दूसरा भाग, गा० ओ० से०।

१५. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह—सिंघी जैन ग्रथमाला।

१६. पंडितराज काव्य संग्रह—डा० आर्येन्द्र शर्मा, हैदराबाद।

१७. प्रबन्ध-चिन्तामणि—सिंघी जैन ग्रंथमाला, शान्ति निकेतन, पं० बंगाल, १९३३।

१८. प्रबन्ध-कोश, सिंघी जैन ग्रथमाला, कलकत्ता, १९३५।

१९. भर्तृहरि सुभाषित संग्रह, सिंघी जैन ग्रंथमाला, भरतीय विद्याभवन, बम्बई सं० २००५

२०. महाभाष्य—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३८ ।

२१. मेघदूत—कालिदास ।

२२ विक्रमोर्वशीयम्—संपादक एम० आर० काले, ए० आर० एण्ड कं, बम्बई, २ ।

२३. सरस्वती कंठाभरण, बरुह पब्लिकेशन बोर्ड, गौहाटी सन् १९६९ ।

२४. साधनमाला विनय तोष भट्टाचार्य, १९६८, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, खण्ड २ ।

२५. सामवेद—ब्रह्मर्षि म० म० श्रीपाद दामोदर ।

२६ साहित्य दर्पण—डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १ ।

२७. शृंगार-प्रकाश, संपादक जी० आर० जोसियर, फाउण्डर डिरेक्टर ।

२८. हठयोग-प्रदीपिका—बम्बई, सं० १९४९ ।

२९ हितोपदेश—पंडित नारायण द्वारा संग्रहीत ।

पालि :

३०. इतिवुत्तक—जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरीपालि ग्रंथमाला, सिरि नव नालन्दा महाविहार, १९५९ ।

३१ उदान—जगदीश कश्यप,,

३२. धम्मपद—,,

३३. वत्थु थेर थेरीगाथा—,,

३४. सुत्त-निपात—,,

प्राकृत :

३५. गाथा सप्तशती—संपादक और अनुवादक, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ।

३६. पाइअ सद्दमहण्णवो—पं० हरगोविन्ददास विक्रमचंद सेठ ।

३७. प्राकृत लक्षण, चंड, हार्नले, कलकत्ता, १८८० ।

३८. प्राकृत व्याकरण : हेमचन्द्र सं० पी० एल० वैद्य, पूना, १९५८ ई० ।

३९. वज्जालग्ग—जुलियस लाबर, बिब्लियोथिका सिरीज, कलकत्ता, १९१४ से १९२३ ।

अपभ्रंश :

४०. अपभ्रंश काव्य त्रयी—लालचन्द, भगवानदास गाँधी, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा ।

४१ अपभ्रंश व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र अनु० शालिकराम उपाध्या राजकमल प्रकाशन, १९५८।
४२. आणदा-आनन्दतिलक—अपभ्रंश और हिंदी में जैन रहस्यवाद के परिशिष्ट मे मुद्रित।
४३. आत्म प्रतिबोध जयमाल—अपभ्रंश और हिंदी में जैन रहस्यवाद परिशिष्ट मे प्रकाशित।
४४. उपदेशमाला वृत्ति सं० हेमसागर सूरि, धन जी भाई देवचन्द, बम्बई—३
४५. कीर्तिलता—सं० डा० बाबूराम सक्सेना, नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१०।
४६ चर्यागीति-कोश—डा० प्रबोध चन्द्र बागची तथा शांति भिक्षु द्वारा संपादित, सस्करण, १९५६ ई०।
४७ छन्दोऽनुशासन—हेमचन्द्र।
४८ तन्त्रसार—सं० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, श्रीनगर, १९१८ ई०।
४९ दोहा-कोश—सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
५०. दोहा-कोश—सं० प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३८।
५१. दोहापाहुड—अपभ्रंश और हिंदी में जैन रहस्यवाद के परिशिष्ट मे मुद्रित।
५२ दोहाणुपेहा—अपभ्रंश और हिंदी में रहस्यवाद के परिशिष्ट मे मुद्रित।
५३. पउम चरित—हर्मन जेकोबी, श्री जैन धर्म प्रसारक, भावनगर, वि० १९७०।
५४. परमात्म प्रकाश और योगसार—सं० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९३७।
५५. परात्रिंशिका—मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर टेक्स्ट्स सीरीज, १४।
५६. पाहुड-दोहा—संपादक हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ई०।
५७. प्राकृत पैंगलम्—डा० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टेक्सट सोसायटी, वाराणसी, १९५९।
५८. भविसयत्त कहा—बडौदा संस्करण, १९२३।
५९. महानय-प्रकाश—काश्मीर-संस्कृत ग्रंथावली, श्रीनगर, १९१८।
६०. लल्लेश्वरी वाक्यानि—काश्मीर सस्कृत टेक्स्ट सीरीज्।
६१. सावय-धम्म दोहा—संपादक हीरालाल जैन, कारजा, १९३२ ई०।
६२. संदेश-रासक—सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ त्रिपाठी।
६३. संदेश रासक—सं० मुनि जिनविजय तथा हरिवल्लभ भायाणी, बम्बई, १९४५ ई०।

६४. संयम मजरी—महेश्वर सूरि। भविसत्त कहा मे पी० डी० गुणे द्वारा उद्धृत पृ० ३७-३६ बडौदा संस्करण।

६५. स्वयंभू छन्द स० एच० डी० वेलणकर, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, विक्र० २०१८।

हिन्दी .

६६. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली।

६७. अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद—डा० वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी २०१८।

६८ असमिया साहित्य—प्रो० हेमबरुआ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, १९६६।

६९ असमिया साहित्य और साहित्यकार, चित्र महंत, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९७० ई०।

७० अष्टयाम—देव।

७१. इश्कनामा—बोधा।

७२. कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, छठा सस्करण, १९६०।

७३ कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द, त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, स० २०१४।

७४. कबीर ग्रंथावली—स० श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१३।

७५. कबीर ग्रंथावली स० डा० माता प्रसाद गुप्त, प्रामाणिक प्रकाशक, आगरा।

७६ कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा।

७७ कवितावली रामायण—उदय नारायण त्रिपाठी, प्रथम सस्करण, छात्र हितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग।

७८. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २००५।

७९ काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, १९५८।

८०. काव्यात्मक बिम्ब—प्रो० अखौरी ब्रज नन्दन, ज्ञानालोक कुल्हड़िया हाउस, अशोक राजपथ, पटना—४, १९६५।

८१. काव्य परम्परा और विद्यापति—डॉ० अम्बादत्त पन्त, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
८२. गीतावली—श्री बैजनाथ जी प्रकाशक, नवल किसोर प्रेस, लखनऊ, १९३७।
८३. गोरखबानी—स० डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, सं० १९९९।
८४. घनानन्द कवित्त—संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
८५. चतुर्दश-भाषा निबन्धावली—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
८६. छंदार्णव—भिखारीदास।
८७. छंद-प्रभाकर—भानु विलास, १९२२।
८८. डिंगल मे वीररस सूर्यमल्ल।
८९. दरियासागर—इलाहाबाद, सन् १९१९।
९०. दादू दयाल की बानी—इलाहाबाद, १९५१।
९१. दोहावली—तुलसी ग्रथावली, सभा संस्करण।
९२. नाथ संप्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०।
९३. निर्गुण साहित्य : सास्कृतिक पृष्ठभूमि—डॉ० मोतीसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, २०१९।
९४. पालि साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९६३।
९५. प्रयाग-नारायण-विलास—सं० बन्दीदीन दीक्षित।
९६. प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास—डॉ० नेमिचन्द्र जैन।
९७. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी।
९८. प्राकृत भाषाओ का व्याकरण—पिशेल, अनु० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०१५।
९९. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—डॉ० रामसिंह तोमर, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६४ ई०।
१००. प्राण-संगली—इलाहाबाद, १९१९।
१०१. पुरातत्व निबन्धावली—राहुल साकृत्यायन, इंडियन प्रेस, लि०, प्रयाग, सन् १९३७।

१०२. बिहारी बोधिनी—स० लाला भगवान दीन ।
१०३. बौद्ध सिद्धो के चर्यापद—परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी-१ ।
१०४. भक्ति-काव्य में रहस्यवाद—रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७ सन् १९६६ ।
१०५. भंवरगीत—विश्वम्भर नाथ मेहरोत्रा, सं० १९८९ ।
१०६. भारतीय दर्शन, भाग २—डॉ० राधाकृष्ण अनु० डॉ० नन्दकिशोर गोभिल, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९७२ ई० ।
१०७. भारत के संत महात्मा—रामलाल ।
१०८. भाषा विज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, प्रयाग, १९५७ ।
१०९. भूषण-ग्रंथावली ।
११०. मनोज मंजरी—सं० नकछेद तिवारी ।
१११. मध्यकालीन हिन्दी संत विचार और साधना—डॉ० केसनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६५ ।
११२. मध्यकालीन धर्म साधना—हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५२ ।
११३. मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि—डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६३ ।
११४. मतिराम मकरंद—हरदयालु सिंह ।
११५. मतिराम ग्रंथावली—कृष्ण बिहारी मिश्र ।
११६. मलूकदास की बानी—इलाहाबाद १९४६ ।
११७. मीराबाई की पदावली—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९६६ ई० ।
११८. मीरा बृहद पद संग्रह—पद्मावती शबनम, बनारस, सं० २००८ ।
११९. रहस्यवाद—रामरतन भटनागर ।
१२०. रामचन्द्रिका, केशवदास, संपादक लाला भगवान दीन ।
१२१. रीति-कवियो की मौलिक देन—डॉ० किशोरी लाल, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९७१ ।
१२२. रीति-काव्य-नवनीत—डॉ० भगीरथ मिश्र, ग्रंथम, कानपुर ।
१२३. विनय-पत्रिका—तुलसी, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००८ ।
१२४. विनय पत्रिका —वियोगी हरि, साहित्य सेवा सदन, काशी, २००५ ।
१२५. वीर काव्य— सं० उदय नारायण तिवारी ।

१२६. सतसई सप्तक—श्याम सुन्दर दास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९३१।

१२७. साहित्य रूप—डॉ० रामअवध द्विवेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

१२८. सिद्ध साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, १९६८ ई०।

१२९. सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, १९४८।

१३०. सूरसागर—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१३१. सूरसागर सार—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६६।

१३२. सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ० शिव प्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९२८।

१३३ सुन्दर शृंगार—सुन्दर कविराय।

१३४. सुखसागर तरंग-देव—बालदत्त मिश्र

१३५. संत काव्य, परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५२।

१३६. संत सुधासार—सं० वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५३।

१३७. संत कबीर—रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९४३।

१३८. संतबानी संग्रह, भाग १, सुधाकर, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९२३ ई०।

१३९. संस्कृत साहित्य का इतिहास, संस्कृत प्राध्यापकगण, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

१४०. संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय।

१४१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० बी० काणे, अनु० इन्द्र चन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, सन् १९६६ ई०।

१४२. शृंगार सुधारक—मन्नालाल द्विज।

१४३. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—नामवर सिंह, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९५२।

१४४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना सं० २०१५।

१४५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ ।

१४६. हिन्दी रीति साहित्य—डॉ० भगीरथ मिश्र

१४७. हिन्दी उद्‌भव विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, किताब महल, इलाहाबाद, १६६५ ई० ।

१४८. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी, १६४७ ।

१४६. हिन्दी काव्य प्रवाह—संकलन एवं सचयन श्रीमती पुष्पा स्वरूप, संपादक श्रीकृष्णदास, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १६६४ ।

१५०. हिन्दी के कवि और काव्य, भाग २, श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६३६ ।

१५१. हिन्दी सन्त साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव—डॉ० विद्यावती मालविका, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१

१५२. हिन्दी ध्वन्यालोक-व्याख्याकार, अनु० जगन्नाथ, विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला ।

१५३. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—जितेन्द्र नाथ पाठक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५

१५४. हिन्दी कवियो का छंदशास्त्र को योगदान—जानकी नाथ सिंह मनोज, सेठ भोलानाथ सेकसरिया ग्रथमाला, लखनऊ विश्वविद्यालय, स० २०२४ ।

१५५. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर (संस्कृत साहित्य का इतिहास) अनु० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपडा, वाराणसी ।

अंग्रेजी :

1. Elements of Psychology, Jhon Dick.
2. Historical Grammar of Apbhransh—G. V. Tagare, Poona, 1948.
3. Mysticism in Religion—Dean Inge.
4. Mysticism and Logic—B. Russel, Penguin Books reprinted, 1954.
5. Mystic Tales of Lama Taranath, Bhupendra Dutt, Ram Krishna Vedant Math, Calcutta. 1944.

6. Origin and Development of Bangali Language—S. K. Chatterji, Calcutta University Press, 1926.
7. Studies In Tantras—P. C Bagchi, Indian Historical quarterly—1928.
8. Hindi Grammar—S. K. Kellog.
9. Oriental journal. Cal. Vo. 1
10. Bengal Asiatic Society, journal Vo. 49.

पत्रिका

१. अनुसंधान, तृतीय अक, १९७३, जैन विश्वभारती लाडनू, बीकानेर ।
२. अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ९ फरवरी, १९५४ सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली ।
३. जैनहितैषी—अंक ५, ६, वि० नि० संवत २४३६, जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।
४. मरु भारती—सं० कन्हैया लाल सहल, जनवरी १९७३ अंक बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट के राजस्थानी शोध विभाग की मुख पत्रिका ।
५. वीर-वाणी, वर्ष ३, अंक १४, १५, सन् १९५० मतिहार का रास्ता जयपुर ।
६. वीर-वाणी, अंक २१ ।